प्रकाशक
प्रसाद परिषद,
६५।२०६ बड़ी पियरी
वाराणसी

प्रथम पुनर्मुद्रण १५ मई' ५७
मूल्य पाँच रुपए

मुद्रक
महताबराय
नागरी मुद्रण,
काशी।

प्रसादका साहित्य

संपादक
कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी
करुणापति त्रिपाठी
सहायक संपादक
महेश्वरनाथ चतुर्वेदी

प्रसादका साहित्य

संपादक
कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी
करुणापति त्रिपाठी
सहायक संपादक
महेश्वरनाथ चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

प्रसादका साहित्य

प्रसाद

प्रसाद साहित्यके विषयमें और चाहे जो विवाद-प्रवाद हो पर इतना तो निश्चित ही है कि आधुनिक कालमें साहित्यके सभी प्रचलित रूपोंके भीतरसे अपनी प्रतिभा प्रकाशित करनेवाले युग-प्रवर्तक स्रष्टाओंमे उनका अन्यतम स्थान है। काव्य, नाटक और कथा साहित्यमें किये गए उनके बहुधा सफल और त्वरित युगव्यापी प्रभाववाले विविध प्रयोग हिंदी साहित्यकी स्थायी संपत्ति बन गए हैं।

श्री प्रसादका छायावादी युगके पुरस्कर्ताओंमे विशिष्ट स्थान है। उन्होंने युगकी अनावृत्तकल्प नव चेतनाको बड़ी तन्मयता और सूक्ष्म संवेदनीयताके साथ आधुनिक हिंदी साहित्यमें उद्-घाटित करके उसे संपन्न बनाया था। छायावादकी मूल-भूत विशेषता संभवतः अनावृतकल्प चेतनाको प्रगीतसुलभ तन्मयता और सूक्ष्म संवेदनीयताके साथ उद्घाटित करना ही है—माध्यम चाहे गद्य हो या पद्य।

कविताओंमे स्थूल-बाह्य वास्तविकताकी अपेक्षा उसके भीतरके भाव-सत्यने उनकी मानसिक-सत्तापर अधिक अधिकार रखा है। इसलिए बाह्य वास्त-विकताका निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ वर्णन उनकी काव्य-रचनाओंमे नहीं मिलता, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनकी चेतना एकदेशीय और संकु-चित है। प्रसादका मूल्यांकन करते समय उनकी गद्य-पद्य-मयी सारी रचनाओंको दृष्टिमें रखनेपर

उनके साहित्यिक व्यक्तित्वमे उल्लेखनीय रूपसे अन-पेक्षित संकोच नहीं मिल सकता।

यदि एक वाक्यमें 'प्रसाद'-साहित्यके मूल स्वरको निबद्ध करना हो तो कहा जा सकता है कि उनका समग्र साहित्य मानवके 'स्व' की अनुभूति जागरित करनेका महत् (पर साथ ही सरस) प्रयत्न है। इसी कारण प्रसादकी दृष्टिमें 'आत्माकी संकल्पात्मक अनुभूति' का व्यक्तीकरण ही काव्य है। प्रसाद आनंदवादी थे। उनका विश्वास था कि (उल्लेख्य है कि छायावादी अपने विश्वासोंके बलपर ही जीवित रहा है, यद्यपि यहाँ सक्षेपमें यह भी कह देना होगा कि उसका विश्वास कल्पनाप्रिय और आदर्शनिष्ठ होते हुए भी यथार्थ पर ही आधृत होता है और निश्चय ही प्रसाद या अन्य छायावादियोंका 'विश्वास' सांप्रदायिकताके बधनोंमें बहुत कम आ पाया है।) सृष्टिका उद्भव, विकास और अंत आनंदमयके विस्फुरणमें, स्पंदनमें है जिसका अनुभव नाना भाँतिके मालिन्य-दोपसे आच्छादित हमारा मन नहीं कर पाता। इसका समर्थन, सभवत. काफी बादमें, उन्हें शैवागमके आनदवादसे मिल गया। पर निश्चय ही प्रसादका आनदवाद या सामरस्य-सिद्धात किसी साप्रदायिक सिद्धातकी अनुकृतिमात्र नहीं है। सच है कि अपने उक्त सिद्धातोंको वस्तुनिष्ठ यथार्थके साथ अगागिभावसे वे संश्लिष्ट नहीं कर पाये हैं। पर हिंदीके छायावाद-युगका रोमाटिक कवि यथार्थके साथ अपने आदर्शोंका सरस ढंगसे जितना सामंजस्य स्थापित कर सकता था, उन्होंने किया है। जिस 'स्व' की अनुभूतिकी चर्चा ऊपर की गई है उसे भी जागरित करनेका प्रसादका प्रयत्न एक छायावादीका ही प्रयत्न है। अत. उनके इस अभिनदनीय कार्यकी तुलना हिंदी या अहिंदी क्लासिक कविसे करना न्याय्य न होगा।

प्रसादके काव्यमें यौवनकी ऊष्मा है पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें केवल मधुचर्य्याका ही अतिरेक है। सौंदर्य और प्रेमको प्रसादने पूर्णतः मानवीय भूमिका पर अधिष्ठित कर मांसल और ग्राह्य बनाया है। पर जीवनकी विभिन्न स्थितियोंकी कल्पना से वे विरत नहीं रहे हैं, इसका प्रमाण 'लहर'-की कविताएँ भी हैं। आवश्यकता है पूर्वग्रहमुक्त दृष्टिसे प्रसादके संपूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्वके सहृदयतापूर्ण अध्ययन और अनुशीलनकी।

प्रगीतात्मक प्रबंध 'कामायनी'—जिसमें विशाल वस्तु-तत्त्वका प्रगीत-विषयकी तरह गृहीत किया गया है—अपनी कई अपूर्णताओंके रहने पर भी अनेक दृष्टियोंसे छायावादी काव्यकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। 'कामायनी' हिंदीका एकमात्र प्रबंध है जिसकी मूल कथा बहुत कुछ वेदोंसे ली गई है और जिसकी चित्रकल्पना कई स्थानों पर वेदोंके भाव-चित्रोंसे नियन्त्रित है। इतना ही नहीं इसके अनेक चित्रविधान आधुनिक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक धरातल पर पूर्ण सफलताके साथ प्रतिष्ठित किये गए हैं। इस दृष्टिसे भी छायावादी काव्य सृष्टिमें कामायनी अन्यतम है। कामायनीकी कथावस्तुके संकोच और उसकी सक्रियताके अभावकी बहुधा शिकायत करनेवाले आलोचक भूल जाते हैं कि प्राचीन महाकाव्योंके कथाबंधकी कसौटी पर छायावादयुगीन प्रबंध काव्यको कसना ही अनुचित है। अत्यल्प कथा-तत्त्वके सहारे आजके उपन्यास लिखे जाते हैं और उनमें मानसिक 'घटनाओंका' बाहुल्य होता है। कामायनीकारकी विशेषता यह है कि सूक्ष्म कथातंतुके सहारे उसने सृष्टिके मानसिक और भौतिक विकासकी रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए मंगलमय सामरस्यके आधार पर

अपने जीवन-दर्शनकी प्रतिष्ठा की है। सामान्य प्रबंधकाव्योंमे कथाकी मुख्यता होती है। कामायनीमें मानसिक प्रतिक्रियाओं और जीवनके घनीभूत भाव-सत्यों और आदर्शोंकी प्रायः ऐसी व्यंजना की गई है जो जीवनमें आनद और आशा और विवेकका संचार करते है। उसमे ऐसे विशिष्ट क्षणोंकी अवतारणा की गई है जो हमारे मानसिक और कतिपय भौतिक वातावरणोंको पूरी जीवंतताके साथ उपस्थित करते हैं।

जिस प्रकार छायावादी काव्यको आकांक्षित महत्ताकी ऊँचाईतक पहुँचानेमें प्रसादका महत्त्वपूर्ण योग रहा उसी प्रकार नाटकोंकी सृष्टिमें भी उनका अप्रतिम स्थान है। काव्यके क्षेत्रमें तो उनके समकक्ष और भी व्यक्तित्व दिखलाई पड़ते हैं किंतु नाटकके क्षेत्रमें वे कदाचित् आज भी अकेले हैं। यद्यपि प्रसादके नाटकोंकी कथावस्तु बहुधा अनावश्यक रूपसे विस्तृत अथच शिथिल, भाषा क्लिष्ट, सवाद भावुकतापूर्ण एव दार्शनिक और अभिनेयता (एकाधको छोड़कर) सदिग्ध हैं पर उनमें ऐसी विशेषताएँ फिर भी हैं जो उनके पहले हिंदीके लिए अपरिचित रही हैं और आज भी हिंदी-नाटकोंमे वे केवल आंशिक रूपमें दिखाई पडती हैं। प्रसादकी उदात्त चारित्र्य-सृष्टि, उत्थानमूलक सांस्कृतिक परिवेश-निर्माण, गहरी देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम, उच्च मानवीय आदर्श, प्रेम-वेदनाकी तीव्रतर अभिव्यक्ति उनके नाटकोंकी व्याप्ति और गहराईके मापदंड हैं। सारी विरोधी परि-स्थितियोंको मनोनुकूल मोड़ देनेवाले चट्टान-सदृश अविचल व्यक्तित्व, रहस्य, दर्शन और करुण वैयक्तिक अवसादके धुंधसे आच्छादित, कर्त्तव्य-मार्गकी आपत्तियोंसे जूझते हुए जीवंत चरित्र, देशप्रेमकी ...ी पर मूकभावसे उत्सर्ग होनेवाले तथा विदे-...े पाठ पढ़ानेवाले पात्र प्रसादके सांस्कृतिक

और उर्वर कल्पनात्मक दृष्टिकोणके द्योतक हैं। वैयक्तिक सुख-दुःख तथा व्यापक सत्योंके बीच संतुलन स्थापित करनेवाले अधिकांश पात्र नियतिकी छायासे अछूते तो नहीं हैं किंतु उनकी स्फूर्तिविधायिनी कार्य सरणियाँ निश्चय ही कर्त्तव्य-निष्ठके स्वरसे अधिक मुखर हैं।

संगीतकी मधुर गूँजकी तरह मनपर करुण प्रभाव छोड़ जानेवाली गीतिमय तथा कठोर कर्त्तव्य-भावनासे अनुप्राणित दृढ़ प्रेयसियाँ प्रसादकी उल्लेखनीय सृष्टियाँ हैं। प्रसादके नाटकोंकी भावनामयता, कतिपय स्थलोंपर अतिरेकपूर्ण होनेपर भी, उनके नाटकोंकी मूलभूत विशेषता है, जिसने उनकी जीवन-दृष्टि और सांस्कृतिक चेतनाको पर्याप्त मनोज्ञ रूपसे प्रस्तुत करनेमे पूरी सहायता की है।

नाटकके लिए प्रसादने अतीतकी पृष्ठभूमि चुनी है और उसे वर्तमान युगकी चेतनासे संयुक्त कर दिया है। पर युगकी बढ़ती हुई यथार्थोन्मुखताने उन्हें कथा-साहित्यकी ओर मोड़ा। बाह्य वास्तविकतासे प्राप्त संवेदनाओंको निर्वैयक्तिक रूपसे चित्रित करनेमे उनकी कल्पना कहीं आवश्यकतासे अधिक प्रतिक्रिया-मूलक हो गई है और कहीं आदर्शके राजमार्गपर बेतहाशा दौड़ पड़ी है इसलिए उनके सामाजिक उपन्यासोंके महत्त्वके विषयमे प्रश्न चिह्न लग सकता है। पर उनकी कहानियाँ मुख्यतः अपनी भावनामयता और अत्यंत रमणीय वातावरणके सर्जनके कारण हिंदी कहानी साहित्यमे विशिष्ट स्थान रखती हैं।

प्रसादने साहित्यके विविध क्षेत्रोंमे जो मोड़ प्रस्तुत किया उससे परंपरामुक्त शास्त्रीय मान्यताओं (Conventions) को इस तरहका धक्का लगा कि भावना तथा शैलीके क्षेत्रमे युगानुरूप साहित्य सर्जनाका सूत्रपात हुआ। जिस सांस्कृतिक चेतनाको प्रसादने

अपने काव्य और नाटकों द्वारा जागरित किया उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव परवर्ती हिंदी काव्य-नाटकों पर निश्चित रूपसे पड़ा। मूलतः रोमांटिक होते हुए भी मानवकी मगल भावनासे अनुप्रेरित जो दार्शनिक-निष्पत्ति कामायनीमें उपस्थित की गई है वह जीवन-की समस्याओंसे परिकलित है। नाटकोंकी ऐतिहासिक कथाओंमें जो राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना भरी गई है वह नए-पुराने जीवन-मूल्योंके सामञ्जस्यपर पुनर्विचार करनेके लिए बाध्य करती है।

निःसन्देह प्रसाद अपने युगके महान् चितक, प्रयोक्ता और सर्वश्रेष्ठ सर्जनात्मक प्रतिभा हैं। उनकी स्फूर्तिमयी साहित्य कल्पनाने हिंदी-साहित्यको नूतन चेतनासे अनुप्राणित और नवनवोन्मेषकी भावमयी रागिनीसे झंकृत कर दिया। उनका प्रतिभालोक हिंदी साहित्यको अपनी दीप्तिसे स्फुरित कर रहा है।



प्रसाद जी



—मैथिलीशरण गुप्त—

चालीस-बयालीस वर्ष हुए, मैं काशी गया था। एक सम्भ्रान्त कुटुम्बके अतिथिके रूपमें यह मेरी पहली दूरकी यात्रा थी। हाँ, 'दूर' की। इसके पूर्व मैं अपने सम्बन्धियोंके यहाँ आता जाता था। परन्तु उस आने-जानेकी सीमा दस बीस कोससे अधिक न होती थी। बचपनमें अयोध्या, काशी, प्रयाग और चित्रकूटकी तीर्थ यात्राएँ अपने गुरुजनोंके साथमें कर चुका था। परन्तु किसीके अतिथिके रूपमें नहीं।

राय कृष्णदासजी मेरे आतिथेय थे। उन्होंने बड़े स्नेहसे मुझे अपने यहाँ ठहराया था। स्वर्गीय बार्हस्पत्यजीसे मुझे कुछ काम था और उन दिनों वे काशीमें ही थे। उन्हीं दिनों स्वामी सत्यदेवजी अमेरिकासे शिक्षा प्राप्त करके लौटे थे और देशमें घूम घूमकर व्याख्यान दे रहे थे। इसी क्रममें काशी आये थे। नागरी-प्रचारिणी-सभामें उनका भाषण था। भाई कृष्णदास मुझे भी वहाँ ले गये।

स्वामी सत्यदेवजीके लेख 'सरस्वती' में छपा करते थे और मैं उन्हें चावसे पढ़ा करता था। उनका भाषण भी वैसा ही प्रभावशाली था। प्रसादजी भी सभामें आये थे और पहले पहल वहीं मैंने उनके दर्शन किये। भाई कृष्णदाससे उनकी घनिष्ठता थी। उन्होंने ही मुझे उनसे मिलाया। उनके व्यवहारमें बड़ी शिष्टता दिखायी दी। मैंने समझा, मेरी रचनाओं के कारण ही प्रसादजी इतने सम्मानपूर्वक मुझसे मिल रहे हैं। परन्तु वह मेरी भूल थी। आगे चलकर मुझे पता चला, वे मुझे कवि नहीं, पद्यकार मात्र मानते हैं, भले ही पद्यकारके पहले प्रतिष्ठित शब्द और जोड़ देते हों, इससे अधिक नहीं।

एक कविता-संग्रहमें, जिसमें तथा-कथित छायावादी कवियोंकी रचनाएँ थीं, मेरी भी दो तीन कृतियाँ रख दी गयी थीं। यह बात उन्हें ठीक नहीं लगी। संग्रहकार सोचमें पड़ गये। मैंने उनसे कहा—मेरी रचनाएँ

न रहनेसे मेरी कोई हानि नहीं, प्रसादजी संतुष्ट हो जायंगे, यह लाभ है। इसलिए उन्हें छोड़ देना चाहिये। परस्पर स्नेहकी वृद्धि हो जानेपर सम्भवतः मेरी रचनाओंके सम्बन्धमें भी उनके विचारोंमें कुछ परिवर्तन हो गया था। इसके पूर्व उन्होंने मेरी एक ही कृतिकी प्रशंसात्मक चर्चा की थी। वह थी 'केशोंकी कथा'।

जो हो, एक बार मिलकर उनसे मिलनेकी इच्छा रही। दूसरे दिन मैं उनके यहाँ जानेको था कि वे स्वयं कृष्णदासजीकी कोठीपर आ गये। ठिंगना परन्तु गठा हुआ सुन्दर शरीर, विशाल भाल और गौर वर्ण। मुंहमें पान और अधरोंपर मुसकान। धोती-कुरता और कौशेयकी चादर। आकर्षक व्यक्तित्व। स्वल्प समयमें ही मुझे ऐसा लगा मानो हम लोग चिर परिचित हैं।

जब जब मैं काशी जाता प्रायः प्रतिदिन उनसे मिलना होता और घंटों बैठक जमती। कभी कृष्णदासकी कोठीपर, कभी उनके बंगलेपर, कभी प्रसादजीके घर और कभी उनकी दुकानपर। कितना आमोद-विनोद होता, कह नहीं सकता। बीच बीच खान-पान भी। पान धूम्र तक ही! तब मैं तमाखू पीता था। खानेके विविध प्रकार और प्रत्येक बार नये नये। वे स्वयं पाक-पटु थे। वैसे ही जैसे वाक् पटु। एक बार ही मैंने हास-परिहासमें उन्हें क्षुब्ध होते देखा। होलीके दिन थे। इस पर्वपर लोग अपने इष्ट मित्र और व्यवहारियोंके यहाँ आते हैं और एक दूसरेपर रंगगुलालसे होली खेलते हैं फिर बैठकर हास-परिहास करते हैं। उस दिन हम लोग भी प्रसादजीके यहाँ गये थे, साथमें कृष्णदास के प्रमुख कर्मचारी श्री गुरुधनसिंह भी थे। बातचीत में बहुत शिष्ट। हजूर हजूर कहकर उन्होंने भी व्यंग-विनोदमें भाग लिया। बात कुछ बढ़ गयी। उत्तर प्रत्युत्तर ने वाद-विवादका रूप धारण कर लिया। एक बार कुछ हतप्रभ से होकर प्रसादजीने एक अप्रिय बात कह दी। मैंने साग्रह उन्हें शान्त किया। गुरुधनसिंहजी रंग कुरंग देखकर पहले ही मौन हो गये थे। प्रसादजीका मुख लाल हो गया। उस दिन छनी भी कुछ गहरी थी। एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके आभिजात्यको ठेस लगी हो। अन्ततः गुरुधनसिंहजी कृष्णदासके वेतन भोगी थे और प्रसादजी उनके अंतरंग बन्धु। इसी समय वहाँ स्वर्गीय महामहोपाध्याय प० देवीप्रसाद कवि चक्रवर्ती आ गये। मैं उनके विषयमें सुन चुका था और स्वयं उनसे मिलना चाहता था। प्रसादजीने परिचय

कराया। मैं नहीं जानता था कि वे हिंदीमें भी कविता लिखते हैं। कितने ही कवित्त पढ़कर उन्होंने नया वातावरण उत्पन्न कर दिया। आज भी उसकी गूंज मेरे मनमें उठती है—

एक पग नाव एक पग है कगरे पै

प्रसादजी काशीके प्रतिष्ठित नागरिक थे और वहाँ सब लोग उनका आदर करते थे। उनके टोलेके लोग तो उन्हें अपना अग्रवर्ती ही मानते थे। उनसे वे प्रायः भोजपुरीमें ही इस प्रकार आत्मीयतापूर्वक बातचीत करते थे कि मैं बार बार उसे सुननेको उत्सुक रहता था। साहित्यकारोंका भी एक दल उनका अनुगत था। एक बार हंसकर उन्होंने कहा था, किसीकी आलोचना प्रत्यालोचनाका रस लेना हो तो मुझसे कहो और तटस्थ होकर कौतुक देखो। कहनेको तो यह बात उन्होंने कही, परंतु जहाँतक मैं जानता हूँ, ऐसा कौतुक न तो उन्होंने स्वयं देखा, न दूसरोंको दिखाया।

अपने भानजे स्वर्गीय अम्बिकाप्रसादके द्वारा, अपनी आर्थिक सहायतासे 'इन्दु' नामक एक मासिक पत्र उन्होंने निकलवाया था। अधिकतर वे उसीमें लिखा करते थे। अम्बिकाप्रसादजीके आग्रहसे मैंने भी दो एक रचनाएँ उसके लिए भेजी थीं। सम्भवतः प्रसादजीने भी ब्रजभाषामें लिखना आरम्भ करके अन्तमें बोलचालकी भाषाको ही अपना लिया था।

परिचय बढ़कर स्नेहमें परिणत हो गया। यह मेरा सौभाग्य ही था कि कविके रूपमें आदृत न होनेपर भी मैं उनका स्नेहभाजन बन गया। मेरे काशी पहुँचनेका समाचार उन्हें पहले हीसे मिला रहता। वे ब्राह्मणके हाथकी बनाई हुई भी कच्ची रसोई न खाते थे। इसलिए कुछ पहले ही दोपहरका भोजन करके वे अपनी पालकी गाड़ीमें बैठकर कृष्णदासके बगलेपर आ जाते और रात तक वहीं रहते। कभी कभी हम साथ ही नगरमें जाते और प्रायः आधी रात तक मैं और कृष्णदास बंगले लौट पाते।

बड़े बड़ोंको एक बार आर्थिक संकटका सामना करना पड़ता है। उस समय लोग बहुधा अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं। परन्तु प्रसादजीने बड़ी धीरता और बुद्धिमत्तासे अपना कामकाज सँभाला। ऋण चुकानेके लिए शीघ्र ही उन्होंने अपना एक गाव बेच दिया। घोड़ागाड़ी भी नहीं रक्खी। इस विषयकी चर्चामें मैंने उनकी बड़ी सराहना की और कहा—यदि ऐसा न किया जाता तो व्याजमें ही सारा सम्पत्ति स्वाहा हो जाती। मैं स्वयं भुक्तभोगी था और एक एकके आठ आठ तक देनेको विवश हुआ था।

उनकी दूरदर्शिता सचमुच प्रशंसनीय थी। पूछनेपर वे किसी विषयमें बहुत अच्छी राय दे सकते थे।

मैं समझता हूँ, आर्थिक दृष्टिसे प्रसादजीकी और प्रेमचन्दजीकी एक तुलना की जा सकती है। प्रेमचन्दजी अपने जीवनकालमें प्रसादजीकी अपेक्षा अधिक अभावग्रस्त रहे। परन्तु इन दोनों बड़े साहित्यकारोंके साहित्यका लाभ इन्हें नहीं, इनके भाग्यशाली पुत्रोंको ही मिला। कृष्णदासने ठीक ही कहा था, प्रसादजीकी कृतियाँ आजकी नहीं, आगामी कलकी हैं।

प्रसादजीके साथ न जाने कहाँ कहाँकी बातें हुआ करती थीं। परन्तु अपनी अपनी रचनाओंके विषयमें कभी भूले भटके ही हम लोग चर्चा करते। हाँ, कभी कभी वे अपनी रचनाओंकी पाण्डुलिपियाँ अवश्य मुझे दे जाते थे और मुझे इस बातका गर्व है कि छपनेके पहले ही मैंने उनका रसास्वाद पा लिया था।

उनकी दूकान नारियल बाजारमें है। सन्ध्याको प्रसादजी वहाँ जाते और दूकानके सामने एक दासेपर बैठा करते। उनके मित्र और मिलनेवाले भी वहाँ पहुँच जाते और छोटी मोटी गोष्ठी हो जाती। वहाँके आसपासके लोग भी उनका बहुत सम्मान करते थे। प्रसादजी कोरे कवि ही न थे, कुशल व्यवहार-बुद्धि भी रखते थे। गोष्ठीमें भिन्न-भिन्न चर्चाएँ होती थीं। कभी कभी वाद विवाद भी हो जाता था। परन्तु अधिकतर अट्टहास ही गूँजा करता। बीच बीचमें ऊपर रहनेवाली वेश्याएँ भी चौंककर नीचे झाँका करतीं।

एक बार निरालाजी और नवीनजीके काशी आनेपर उन्होंने कुछ लोगोंको व्यालूके लिए घर बुलाया। स्वर्गीय मुंशी अजमेरी भी मेरे साथ थे। हम लोग सन्ध्याको ही जा जमे। निरालाजी सुन्दर गायक भी हैं। अजमेरी-का कहना ही क्या। बालकृष्णजीका भी कण्ठ मधुर है। कविता और गान दोनोंसे वातावरण गूँज उठा। निरालाजीसे भी कोई हिन्दी या बगला गीत गानेको कहा गया तो उन्होंने कहा, मैं क्या गाऊँ? मृदग न सही, तबला बजानेवाला भी तो कोई हो। साज बजानेवाला कोई साहित्यिक वहाँ न था। प्रसादजी चाहते तो तुरन्त किसीको बुला सकते थे। परन्तु वे मुसकराकर रह गये। नवीनजीने भृकुटी-भग किया। मैंने समझा निरालाजीके मनमें उमग नहीं है। नहीं तो—

मन मे आई हुलक
का खजरी का ढुलक

उनकी दूरदर्शिता सचमुच प्रशंसनीय थी। पूछनेपर वे किसी विषयमें बहुत अच्छी राय दे सकते थे।

मैं समझता हूँ, आर्थिक दृष्टिसे प्रसादजीकी और प्रेमचन्दजीकी एक तुलना की जा सकती है। प्रेमचन्दजी अपने जीवनकालमें प्रसादजीकी अपेक्षा अधिक अभावग्रस्त रहे। परन्तु इन दोनों बड़े साहित्यकारोंके साहित्यका लाभ इन्हें नहीं, इनके भाग्यशाली पुत्रोंको ही मिला। कृष्णदासने ठीक ही कहा था, प्रसादजीकी कृतियाँ आजकी नहीं, आगामी कलकी हैं।

प्रसादजीके साथ न जाने कहाँ कहाँकी बातें हुआ करती थीं। परन्तु अपनी अपनी रचनाओंके विषयमें कभी भूले भटके ही हम लोग चर्चा करते। हाँ, कभी कभी वे अपनी रचनाओंकी पाण्डुलिपियाँ अवश्य मुझे दे जाते थे और मुझे इस बातका गर्व है कि छपनेके पहले ही मैंने उनका रसास्वाद पा लिया था।

उनकी दूकान नारियल बाजारमें है। सन्ध्याको प्रसादजी वहाँ जाते और दूकानके सामने एक दासेपर बैठा करते। उनके मित्र और मिलनेवाले भी वहाँ पहुँच जाते और छोटी मोटी गोष्ठी हो जाती। वहाँके आसपासके लोग भी उनका बहुत सम्मान करते थे। प्रसादजी कोरे कवि ही न थे, कुशल व्यवहार-बुद्धि भी रखते थे। गोष्ठीमें भिन्न-भिन्न चर्चाएँ होती थीं। कभी कभी वाद-विवाद भी हो जाता था। परन्तु अधिकतर अट्टहास ही गूँजा करता। बीच बीचमें ऊपर रहनेवाली वेश्याएँ भी चौंककर नीचे झाँका करतीं।

एक बार निरालाजी और नवीनजीके काशी आनेपर उन्होंने कुछ लोगोंको व्यालूके लिए घर बुलाया। स्वर्गीय मुंशी अजमेरी भी मेरे साथ थे। हम लोग सन्ध्याको ही जा जमे। निरालाजी सुन्दर गायक भी हैं। अजमेरी-का कहना ही क्या। बालकृष्णजीका भी कण्ठ मधुर है। कविता और गान दोनोंसे वातावरण गूँज उठा। निरालाजीसे भी कोई हिन्दी या बंगला गीत गानेको कहा गया तो उन्होंने कहा, मैं क्या गाऊँ? मृदंग न सही, तबला बजानेवाला भी तो कोई हो। साज बजानेवाला कोई साहित्यिक वहाँ न था। प्रसादजी चाहते तो तुरन्त किसीको बुला सकते थे। परन्तु वे मुसकराकर रह गये। नवीनजीने भृकुटी-भंग किया। मैंने समझा निरालाजीके मनमें उमंग नहीं है। नहीं तो—

मन में आई ढुलक
का खंजरी का ढुलक

एक दो बार फिर निरालाजीसे कहा गया—ऐसे ही होने दीजिये। परन्तु वे गुरु गम्भीर बनकर अपनी पहली ही बात दुहराते रहे। नवीनजीसे न रहा गया, सहसा बोल उठे—बड़े गवैये बने हैं। अजमेरीजी बिना तबलेके गा सकते हैं, तुम नहीं गा सकते तो......

क्षण भर सन्नाटा हो गया। निरालाजी पहले हँसे, फिर तुरन्त उन्होंने गाना आरम्भ कर दिया।

भिन्न भिन्न प्रकारके थाठ काठ इकट्ठे करके कभी कभी कुटिल हँसी हँसते हुए प्रसादजी आनन्द उठाते थे। बात बढ जाती तब अपनी कुशलतासे वे सबको शान्त भी कर दिया करते थे।

संस्कृतकी एक उक्ति है, जिसका अर्थ है, भूखा व्याकरण नहीं खाता और प्यासा काव्यरस नहीं पीता। यह सर्वथा सत्य है। एक दिन हम लोग सवेरे ही स्वर्गीय केशवप्रसादजी मिश्रसे मिलने भदैनी चले गये थे। उन दिनों चाय पानी भी नहीं करते थे। वहाँ बातोंमें कुछ विलम्ब हो गया। लौटते हुए रत्नाकरजीको भी पुकारना था। कविको श्रोतासे बढकर और क्या चाहिए। रत्नाकरजी कविता सुनाने लगे तो रंगमें आकर अक्षय भंडार ही खोल बैठे। वे जैसा सुन्दर लिखते थे वैसा ही पढते भी थे। बहुत समय तक हम लोग रसमें मग्न होते रहे। परन्तु अन्तमें भौतिकता हमारी मानसिकताको आक्रान्त करने लगी। वाह वाह करते हुए भी हम आपसमें भेद-भरी आँखोंसे देखने लगे। सहसा प्रसादजी बोल उठे—रत्नाकरजी हमें तो आपका वह कवित्त अच्छा लगता है—

चुप रहो ऊधो सूधो पथ मथुराको गहो

बस, अन्तमें, उसे और सुना दीजिये। सब लोग हँस पडे। रत्नाकरजी भी मुसकरा गये। फिर भी उन्होंने वह छन्द सुना दिया। मार्गमें हम लोगोंने प्रसादजीकी पीठ ठोकी।

एक दिन हम लोग अजमेरीका गाना सुन रहे थे। उन्होंने एक दादरे-की पहली पंक्ति सुनायी—

पी लई राजा, तुमारे संग भंगिया।

मधुर कण्ठसे गाते हुए उन्होंने कहा, इसका अन्तरा नहीं सुना। कुछ समय उपरान्त प्रसादजीने कहा, मुंशीजी, यह अन्तरा कैसा होगा—

न जाने कब सारी सरक गई और दरक गई अंगिया

सुनकर अजमेरी प्रसन्न हो गये । वाह वाह करके प्रसादजीकी उन्होंने सराहना की।

एक बार बातचीतमें कालिदासकी चर्चा आ गयी। कालिदास गुप्त कालमें हुए अथवा ईसाके पूर्व, इस विवादका समाधान करते हुए उन्होंने कहा—दो कालिदास मान लेनेसे यह विवाद मिट सकता है। मैं यही समझता हूँ, काव्यकार कालिदास चौथी पाँचवीं शतीमें हुए और नाटककार कालिदास ईसाके पूर्व। मैंने कहा—जब तक पक्का प्रमाण न हो तब तक ऐसा कहना कालिदासके महत्त्वको घटाना है। मैं नहीं जानता, प्रसादजीका वास्तवमें यही मत था अथवा मुझे चिढानेके लिए विनोदमें उन्होंने ऐसा कहा था।

उनका 'आँसू' काव्य पहले मेरे ही यहाँ प्रकाशित हुआ था। उसके किसी प्रयोगपर मैंने कहा—यह प्राचीनके विरुद्ध है। क्षण भर रुककर वे बोले, हाँ, परन्तु मुझे यह ठीक लगता है। उनके कहनेमें आत्मविश्वासकी झलक थी।

मेरी एक दुर्बलता है। यदि कविता अनुप्रास रहित हो तो कोई बात नहीं। परन्तु सानुप्रास रचनामें अनुप्रासका उचित निर्वाह न होना मुझे खटकता है। जैसे 'कामायनी' के आरम्भमें ही—

.. .. .. बैठ शिलाकी शीतल छाँह
.... देख रहा था प्रकृति प्रवाह

एक बार उन्होंने मुझे बताया—लोग बार बार मुझसे मेरी रचनाओंके आशय पूछकर मुझे अस्थिर किया करते हैं। एक ऐसे ही जिज्ञासुसे मैंने कह दिया—जिस मूडमें आकर मैंने वह कविता लिखी थी, उसीमें मैं जब तक न जाऊ तब तक कैसे समझाऊँ। हम दोनो हसने लगे। ऐसी ही बात भगवान श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कही थी, जब महाभारतके युद्धके अन्तमें शोकाकुल होकर युधिष्ठिरने उनसे प्रार्थना की थी कि मुझे भी एक बार गीताका उपदेश देनेकी कृपा कीजिये।

प्रसादजीने इसी प्रसगमें एक बार कहा था कभी कभी कोई भाव अस्पष्ट रूपमें सामने आता है तो उसे भी हम ले लेते हैं, छोड़ते नहीं। सम्भव है आगे चलकर लोग उसे विकसित करके सुदर रूपमें व्यक्त कर सकें। मुझे यह देखकर सन्तोष हुआ था कि 'कामायनी' में भी एक सर्ग गीतमय है और उसमें भी सूत कातनेकी बात कही गयी है। 'साकेत में

सीताके मुखसे कातने-बुननेकी बात सुनकर एक समालोचक टीका टिप्पणी करनेसे नहीं चूके थे।

अतुकान्त कविताके लिए उन्होंने पहले अरिल्ल छन्द चुना था। उस पर मेरा मत भी जानना चाहा था। मैंने कहा—सुकुमार भावोंके लिए ही यह छन्द मुझे उपयुक्त लगता है। घनाक्षरी सब रसोंके उपयुक्त समझकर उसीके एक भागको मैंने ले लिया था और उसी में 'मेघनाद वध' का अनुवाद किया था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि बंगलाके पयार छन्दकी भाँति यह भी वर्ण वृत्त है। संस्कृतका अनुष्टुप भी वर्ण वृत्त है। सियारामशरण ने मेरे प्रयुक्त छन्दको और भी विभक्त करके नये रूपमें उसका प्रयोग किया है। मैं नहीं कह सकता मेरे स्नेहके कारण अथवा उपयुक्तताके कारण प्रसादजीने भी उस छन्दमें कुछ लिखा है।

प्रसादजी रवीन्द्रनाथकी बंगला रचनाओंसे प्रभावित थे, इस कथनका उन्होंने मुझसे यह कहकर विरोध किया था कि मैं बंगला भाषा जानता ही नहीं हूँ। यह ठीक बात है। एक बार एक बंगला पुस्तकके कुछ अंश उन्होंने मुझसे सुने थे और अपनी समझ के अनुसार मैंने उनका अर्थ भी उन्हें बताया था। बंगला जानना उनके लिए सरल था, परंतु जान पड़ता है, उस ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया।

एक बार स्वर्गीय प० पद्मसिंह शर्मा काशी आये थे। कृष्णदासके शान्तिकुटीरमें छोटी-सी गोष्ठी हुई। रत्नाकर जी और प्रसादजी भी थे। मैंने पण्डितजीके आदेशपर 'साकेत' का अष्टम सर्ग पढ़कर सुनाया। उसके अन्तमें ऊर्मिला-लक्ष्मणके मिलन सम्बन्धी दो तीन पद्य हैं। उन्हें सुनकर प्रसादजीने मुझसे कहा था—तुमने प्रसंग तो बड़ा मार्मिक और सुंदर छेड़ा। परन्तु उसमें तुम्हारी असमर्थता भी झलकती है। बहुत थोड़ेमें तुमने उसको समाप्त कर दिया। मैंने उत्तरमें कहा—तुम्हारी बात ठीक हो सकती है। परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि मैंने फिर उसे छेड़ा और वह फूलकी भाँति झड़कर बिखरा! यह मेरी असमर्थता है तो उसे स्वीकार करनेमें मुझे आपत्ति नहीं। उन्होंने फिर कहा—अरे, एक आलिंगन भी नहीं? धुत्!

एक दिन मिलते ही उन्होंने मुझसे कहा—आज रत्नशंकरसे किसीने पूछा—तुम्हारे पिताने 'आँसू' लिखी है, तुम क्या लिखोगे? उसने छूटते ही उत्तर दिया—'अन्नाइ'। मैंने हँसकर कहा—प्रभु करे ऐसा ही हो।

पुत्रादिच्छेत्पराजयम्। आयुष्मान् रत्नशंकरको यह बात स्मरण रखनी चाहिए।

मेरे लिए यह गौरवकी बात है कि उन्होंने मुझे अपनी कुछ अन्तरंग बातें भी बता दी थीं। परन्तु किसीकी गोपनीय बात कहना उसके प्रति विश्वासघात करना है। यहाँ सत्यकी दुहाई मिथ्या है।

केवल एक बार ही उन्हें मेरे विषयमें सन्देह हुआ था। फलस्वरूप कुछ दिन वे मुझसे खिंचे रहे। एक समीक्षकने उनके विरुद्ध बहुत कुछ लिखा। लिखनेवाले मुझसे सम्बन्धित थे। ऐसी स्थितिमें यह स्वाभाविक ही था कि उस कार्यमें उन्हें मेरा हाथ जान पड़ा। इसके लिए मैं उन्हें कैसे दोष दूँ। मैंने आलोचकसे कहा भी था कि इसका दोष मुझपर आवेगा। वे बोले—आप कहिए तो मैं अपना निबन्ध न छपाऊं परन्तु इससे मेरे अन्तरात्माको कष्ट होगा। और मैं अपनेको कर्तव्यच्युत समझूंगा। मैंने कहा—ऐसी बात है तो मैं आपको कैसे रोकूं। मेरा जो होना होगा, होगा।

इसके कुछ दिन पश्चात् मैं काशी गया। दूसरे दिन प्रसादजी कृष्णदास की कोठीपर पहुँचे। उस समय मैं कोठीके नीचे ही गंगास्नानके लिए गया था। वे कोठीपर न रुककर गंगातटपर पहुँचे। मैं पानी में था। उन्हें देख ललककर मैंने उनसे कहा—आओ, तुम भी स्नान कर लो। उनका सेवक भी धोती तौलिया और तेलकी शीशी लिये उनके साथ था, परन्तु उन्होंने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। मैंने कहा—सीधे नहीं आओगे तो मैं पानी उछालकर भिगो दूँगा। उन्होंने व्यंग्यसे कहा—और क्या करोगे तुम? जितना चाहो, पानी और कीचड़ उछालो। यह कहते कहते उनका मुंह तमतमा गया और जबतक मैं कुछ कहूँ, अवज्ञापूर्वक मुह फेर कर वे चल दिये। मैं स्तब्ध रह गया। मुझे भी पीड़ा हुई, परन्तु मैं क्या करता।

कृष्णदासने यह घटना स्वयं देखी अथवा मैंने उन्हें सुनायी थी, मुझे स्मरण नहीं। वे दोनों ओरके समाचार भले चाहनेवाले थे। किन्तु उस समय इस सम्बन्धमें उन्होंने मौन रहना ही उचित समझा। हो सकता है, उन्हें भी मेरे प्रति कुछ सन्देह रहा हो।

दूसरे लोगोंकी बात मैं नहीं जानता, श्रीवाचस्पति पाठक इस बिलगाव पर हृदयसे व्यथित हुए। मेरा मन भी उस बार काशीमें न लगा और मैं वहाँ अधिक न ठहरा।

कुछ दिन पश्चात् मैंने देखा—'आज' पत्रमें 'साकेत'को लेकर अनेक टिप्पणी की गयी। मेरे मनमें कभी यह बात नहीं आई कि इस व्यंग्य के प्रेरक प्रसादजी हो सकते हैं। हाँ, यह हो सकता है कि लेखकने समझा हो कि इससे प्रसादजी प्रसन्न होंगे।

पाठकजी तबतक काशीसे प्रयाग नहीं गये थे और समय समय पर इस मके निराकरणकी चेष्टा भी वे अवश्य करते रहे होंगे। अन्तमें उनका यत्न सफल हुआ। मैं फिर काशी गया और पाठकजीके उद्योगसे हम दोनों पुनः शान्तिकुटीरमें मिले। आवेगसे मेरे आँसू आ गये और धृष्टता क्षमा हो, यह कहते हुए कि तुमने मेरे साथ न्याय नहीं किया, मैंने उन्हें एक थप्पड़ मारी और उनसे लिपट गया। वे मुझे थपथपाते रहे। पाठकजीके अनुग्रहसे मैंने इस बार अपनेको पहलेसे भी अधिक प्रसादजीके निकट अनुभव किया।

लखनऊमें एक बड़ी-सी प्रदर्शिनी थी। और भी कुछ आयोजन किये गये थे। हिन्दुस्तानी एकेडेमीकी बैठक भी उस बार वहीं हुई थी। एक कवि सम्मेलनका भी प्रबन्ध किया गया था। ओरछाके महाराज वीरसिंह देव उसका उद्घाटन कर रहे थे। प्रसादजी भी लखनऊ आये थे। कवि-सम्मेलनके संयोजकसे मैंने कहा—प्रसादजीके स्थानपर जाकर आपको उनसे सम्मेलनमें आनेके लिए आदरपूर्वक आग्रह करना चाहिए। संयोजकने कहा—निमन्त्रण तो भेज दिया गया। मैंने कहा—यह पर्याप्त नहीं। आपको स्वयं वहाँ जाना चाहिए। वे जानते थे कि प्रसादजीके और मेरे बीच एक तनाव हो चुका है। सम्भव है वह अब भी शेष हो। स्वयं भी वे प्रसादजीसे कुछ अनख मानते थे और अपने आपको किसीसे न्यून नहीं समझते थे। परन्तु यह तो साधारण शिष्टाचारकी बात थी। उन्होंने कहा—अच्छी बात है, मैं स्वयं जाता हूँ। वे गये भी, परन्तु न जाने कहाँ? प्रसादजीके स्थानपर नहीं गये। जब मैं सम्मेलनके मण्डपके द्वारपर पहुँचा, तब मैंने उनसे फिर पूछा—आप प्रसादजीके यहाँ हो आये? उन्होंने कहा—नहीं जा सका, कहाँ कहाँ जाऊँ? मैं इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता था कि कवि-सम्मेलनमें सम्मिलित न होऊँ। मैंने नहीं किया। पीछे प्रसादजीने मुझे बताया कि कवि-सम्मेलनमें लोगोंने मेरे और तुम्हारे लिए बड़ा कोलाहल मचाया। तुम क्यों नहीं गये? वही प्रश्न मैं उनसे न कर सका। मैंने कुछ रुककर कहा—अच्छा हुआ। प्रसादजी हँस पड़े और उनकी आँखें चमक उठीं।

हम दोनों प्रदर्शिनी देखने चले गये। वहाँ एक महिला लेखिका मिल गयी। बोली—कहाँ घूम रहे हैं? चलिए देखनेकी वस्तुएँ मैं दिखाऊँ, यह कह कर वे एक ऐसी दुकानपर ले गयीं जहाँ स्त्रियोंके व्यवहारकी अनेक वस्तुएँ थीं। हस कर उन्होंने कहा—घर जानेके पहले जो लेना हो यहाँ ले लीजिये। प्रसादजीने भी वैसी ही हसी हसकर कहा—यहाँ तो आप ही ले सकती हैं।

लखनऊसे मैं उन्हींके साथ काशी गया। मार्गमें उन्होंने कामायनीके कुछ अश स्वय मुझे सुनाये। डिब्बेमें वे, उनके एक मित्र और मैं, यही तीन जन थे। उस दिनका आनन्द मैं नहीं भूल सकता। उस बार भारतेन्दु-भवनमें डा० मोतीचन्द्रके साथ हम लोगोंने मिलकर अन्तिम बार भोजन किया।

प्रसादजीके व्यायाम, आहार विहार और पौरुषकी बातें सुनकर सचमुच कौतूहल होता था। मनों बादाम खानेसे सुना है, उन्हें अन्तमें भयानक प्रतिक्रियाका सामना करना पड़ा। बादामोंका विष धीरे-धीरे उनके शरीरमें व्याप्त होता रहा और अन्तमें घातक रोगके रूपमें प्रकट हुआ। अनेक प्रकारकी चिकित्सा हुई। पीछे उन्होंने होमियोपैथिक चिकित्साका आश्रय लिया। चिकित्सक श्री राजेन्द्रनारायण शर्मा उनके मित्र थे। उनकी चिकित्सापर उन्हें विश्वास भी था। अन्य डाक्टरोंकी राय थी कि उन्हें पहाड़पर जाना चाहिए। मैं यह नहीं मानता कि अर्थाभाव उसमें बाधक हुआ। यही जान पड़ता है, ये जीवनसे निराश हो गये थे और अन्तमें काशी नहीं छोड़ना चाहते थे। उनके शरीरकी दशा देखकर मैं अपने आँसू न रोक न सका। उन्हीं दिनों राजर्षि टडन काशी आये। मुझे साथ लेकर वे प्रसादजीको देखने गये। प्रसादजी खाटसे लग गये थे और अस्थि-चर्म ही उनमें शेष रह गये थे। ऐसा लगता था मानों शैय्यापर एक चादर ही पड़ी है और कुछ नहीं। फिर भी उनके मुँहपर निश्चित दृढता दिखायी देती थी। मुसकराकर ही उन्होंने अभिवादनके लिए हाथ जोड़े। मुझे पता था कि इस बारका मगलाप्रसाद पुरस्कार उन्हें दिया जायगा। जब हम लोग उनके कक्षसे बाहर निकले तब मैंने टण्डनजीसे कहा—आप कहें तो मैं यह बात उनसे कह आऊँ। सम्भव है, इससे उन्हें कुछ सन्तोष हो। टडनजीने अनुमति दे दी और मैं फिर उनके कक्षमें गया। प्रश्नसूचक दृष्टिसे उन्होंने मेरी ओर देखा। मैंने कहा—इस बारका मंगलाप्रसाद

पुरस्कार तुम्हें देनेका निश्चय हुआ है। तुम शीघ्र स्वस्थ हो जाओ। मैं भी उसे लेनेके समय तुम्हारे साथ चलूंगा। उन्होंने उत्तरमें कुछ न कहकर दोनों हाथोंसे मुझे पकड़ लिया। मैंने देखा, उनकी आँखें छलछला आयी हैं और वे गद्‌गद् हो रहे हैं।

इसके पश्चात्? मुझे अपनी पहिली बात ही फिर कहनी पड़ती है—

जयशंकर कहते कहते ही
अब भी काशी जावेंगे.
किन्तु प्रसाद न विश्वनाथका
मूर्त्तिमन्त हम पावेंगे।
तात, भस्म भी तेरे तनु की
हिंदीकी विभूति होगी
पर हम जो हंसते जाते थे
रोते रोते आवेंगे।

प्रसाद—कलाकार



— रायकृष्णदास —

यदि कविताकी परिभाषा है—

रसात्मक वाक्य, तो इसी परिभाषाकी व्याप्ति करके हम कला मात्रकी परिभाषा बना सकते हैं—रसात्मक निर्माण।

फिर ऐसे निर्माणका माध्य चाहे वाक्य हो, चाहे अगहार, चाहे स्वर, चाहे रग, चाहे रेखा। इस प्रकार कवि भी उतना ही कलाकार है जितना अभिनेता, गायक, चित्रकार एव मूर्तिकार।

और, इसमें तनिक सन्देह नहीं कि प्रसादजी अपनी रचनाओंमें ही नहीं अपने जीवनमें भी पूरे कलाकार थे। उनकी निष्ठा उनकी सुरुचि, उनकी भावुकता उनकी मस्ती, उनका रहन-सहन, उनका पोर पोर कलापूर्ण था।

भगवानने उनका रूप और स्वभाव दोनों ही कवित्वमय बनाया था।

यह बात कहते हुए वह कहानी याद आती है जो मैंने प्रसादजी और मुगल शैलीके अन्तिम उस्ताद रामप्रसादजी, जो प्रसाद जीके निकटवर्तियोंमें थे—को लेकर उन्हीं दिनों लिखी थी।

इस—कवि और कलावन्त ..यही उस कहानीका शीर्षक है, का आरभ यों होता है—

कवि अत्यधिक सुन्दर था—संभवतः अपनी कृतियोंसे भी अधिक। चित्रकार उसका सगी था। वह प्राय. कहा करता • निश्चय तुमने किसी उपायसे चन्द्रमाका सार निचोड़ लिया है और उसीसे अगराग करते हो।

कवि हँस देता और अपने मित्रोंसे कहता—सुनते हो इनकी बातें।

निखरी गुराई। सुढार, प्रसन्न मुख मडल। रतनारी - रसीली आँखें। घुँघराले बाल, मस्तानी चाल-ढाल, भाव-पूर्ण बोलचाल।

× × ×

ऊपर उनकी निष्ठाकी चर्चा हुई है। कर्तव्य भी उनके लिये सौंदर्य था। उनपर जो भार उनके वयस्क होते होते आ पड़ा उसको किस खूबसूरतीसे निभाया उन्होंने।

घर कर्जसे लदा था। व्यापारकी हालत डावा-डोल थी। स्वयं वे अनुभवहीन किशोर थे फिर भी तभीसे परिस्थितियोंसे आजीवन लड़ते रहे और सफल होकर ही गये। इतनी निष्ठासे इसमें लगे रहे वे, कि उन्हींके शब्दों में···जवानी कब आयी कब चली गयी पता भी न चला।

अब भाव पक्षपर आइये। कैसी चुहल होती उनकी बातचीतमें···

जब मेरे यहाँ आते, अक्सर ऐसा होता कि कमरेके भीतर ठीक ठीक घुसे भी नहीं कि लौट पड़े...जाता हूँ।

मैं कहता···वाह, तब आये क्यों ?

'गलती हुई।'

'खैर गलती हुई तो थोड़ी और सही, जरा पान तो खा लो।'

बड़ी कठिनाईसे उन्हें कुछ देर बैठा पाता। चुहलभरी थोड़ी बहुत बात करके एकाएक उठ खड़े होते···अब जाता हूँ, फिर कभी न आऊँगा। और चल पड़ते।

'क्यों ऐसी वहशत क्यों ?'

'वहशत क्या है ? उदास धूसर संध्यामें घरके भीतर जी ऊब रहा है, तुम्हें तो यहाँ घुसे रहनेकी आदत पड़ गयी है। अगर ऐसे समय बाहर निकलना वहशत है तो वह मुझे लाख बार मुबारक।

'तो सीधे सीधे यह क्यों नहीं कहते कि चलो घूमने। इतना नाज... अदाज क्यों ?'

'आते ही तो कहा था, तुम समझो तब न।'

इसी तरहकी कोई न कोई छेड़-छाड़ सदा किया करते।

× × ×

आरम्भिक दिनोंमें प्रसाद जीके बैठकेमें बहुत थोड़े फर्नीचर थे, वे भी पुराने। आर्थिक कठिनाईसे नये फर्नीचर लिये न जा सकते थे; किन्तु जब भी मैं उस कमरेमें जाता, एक नई सजावट पाता उन्हीं चीजोंके स्थानान्तरगत।

ऊपर प्रायः एक बड़ा बनारसी अंगोछा पहना करते। शरीर ऐसा सुडौल था कि ऊपरिवस्त्रकी आवश्यकता न रहती। गलेमें रुद्राक्षका एक दाना

दाना वा कभी बहुत महीन रुद्राक्षकी माला होती। किन्तु यही सादा पहनावा इतना साफ सुथरा और सुरुचिपूर्ण होता कि खूब फबता। बाहर निकलते तो गर्मियोंमें रेशमी और जाडेमें ऊनी कुर्ता, कधे पर बढिया गरम ओढना। हाथमें बाँसकी एक छड़ी अवश्य होती।

आरम्भिक जीवनमें शेरवानी भी पहना करते—

१६११ में पहले पहल काशीमें भारतेन्दु जयन्ती आरम्भ हुई। उस अवसर 'वाली प्रसाद जीकी छवि आज भी आँखोंमें झूल रही है···ढाँकेकी बारीक जामदानी वाले खससे मुअत्तर अगेके नीचेसे झलकती हरी मिर्जईकी छटा निराली थी। सिरपर महीन चुनी अदावाली दो-पलिया टोपी और पावमें चूड़ीदार पाजामा। हाथमें सुन्दर बाँसकी छड़ी, जिसकी मूठ बारहसिंगे की।

गाना कभी सीखा तो न था फिर भी प्रकृत्या बडे सुरीले थे। महीन आवाज थी, और उसमें दर्द था, खटका का। जो धुन उन्हें पसन्द थी, कभी-कभी गुनगुनाते, जिसे सुनते ही बनता।

भारी भरकम-गाना उन्हें पसन्द न था। ठुमरी, दादराके प्रेमी थे, किन्तु चुटीला गाना हो तभी और स्वरके साथ साहित्य भी। केवल स्वर उतना न रुचता। हारमोनियम पर सरोदकी गत बजानेमें स्व० लक्ष्मणदास मुनीमजीने कमाल हासिल किया था। रवि बाबू तकने उनको सुनकर मुझसे कहा था—'ऐसा बाजा तो सुननेमें नही आया। मुनीमजी प्रसाद जीके बडे ही अतरग भी थे तथापि बाजेसे उनका मन न भरता।

अजमेरीजी एक दादरा बडे ठाठ-बाटसे गाते···

'पी लई राजा तुम्हारे संग भंगिया।'

किन्तु इसका अन्तरा उन्हें याद न था। उन्होंने प्रसाद जीसे कहा··· इसे पूरा कर दीजिये—प्रसाद जीने तुरन्त गुनगुना दिया—

ना जानु कैसे सारी सरकि गयी
ना जानु कैसे दरकि गयी अंगिया।

अजमेरी जी बाग बाग हो उठे।

प्रसाद जी पत्र यदा कदा ही लिखते, किन्तु जब लिखते तब कलापूर्ण। एक बार मेरे पास एक चिट भेजी। डेढ इच चौड़ी, आठ इच लम्बी। उसपर चेडे बल केवल इतना लिखा था—

प्रिय,

एक कागद फाड़ते फाड़ते इतना बच रहा है। अब इसपर क्या लिखूं।

वही
प्रसाद

कितना रसीला है यह पत्र।

जैसी सरस रचना करते वैसा ही भोजन भी बनाते और उसमें भी नयी-नयी कल्पना रहती, बंधी बँधाई पाक प्रणाली नहीं। सालमें दो तीन बार ही ऐसा अवसर आता, किन्तु जब आता उसका आस्वाद भुलाया नहीं जा सकता। एक दिन महाराजकुमार रघुबीर सिंह उनसे मिलने आये। बादामकी ऐसी सुन्दर ठंढई उस दिन पिलायी जिसका रस आज भी ताजा बना है।

१९३६ के अन्तमें लखनऊमें एक धूमधामी प्रदर्शनी हुई थी•••

जब प्रसाद जी वहाँ जानेका मनसूबा बाँध रहे थे, एक दिन काशीके खादी भंडारमें सुनहले रंगकी एक बड़ी सुन्दर रेशमी छींट दिखायी दी। उसको मुझे दिखाकर कहने लगे—'आओ हम तुम इसका रूईदार ओवरकोट और कंटोप बनवावें, और वही पहनकर प्रदर्शनीमें निकलें। लोग प्रदर्शनी देखना भूल भाल कर हमको ही देखने लगेंगे।'

इस मौजी स्वभावपर किसी टीका टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं।

*

महाकवि 'प्रसाद' का व्यक्तित्व



—शिवपूजन सहाय—

निर्गुण ब्रह्म जब सगुण रूपमें व्यक्त होता है तब 'व्यक्ति'-का अस्तित्व दीख पड़ता है। वास्तवमें व्यक्ति तो अव्यक्तकी ही अभिव्यक्ति है।

अतल जल-तलको भेदकर जब कमल निकलता है तब सरोवरकी निराकार शोभा साकार और सजीव हो उठती है। कमलकी कोमलता, प्रफुल्लता, सुगन्ध, कान्ति, रंगीनी, चिकनाई-लुनाई आदि गुणसमष्टिसे ही उसके दिव्य रूपकी मनोहरता प्रभावशालिनी होती है।

मनुष्यके भी गुण ही पुञ्जीभूत होकर उसके व्यक्तित्वको आकर्षक बनाते हैं। शील, शक्ति, सौन्दर्यने मिलकर मर्यादापुरुषोत्तमका तेजस्वी रूप खड़ा-कर दिया था।

स्मितपूर्वाभिभाषी प्रसाद जीका व्यक्तित्व, विशिष्ट मानवोचित गुणोंके कारण, बड़ा हृदयग्राही था। उनकी सरल वाणीकी मधुरिमा, उनके मुक्त हास्यकी विमलता, उनके स्वस्थ शरीरकी गठन, उनके सुखदशीलकी आर्यता, उनके स्वार्जित पाण्डित्यकी प्रौढ़ता, उनके सहिष्णु स्वभावकी कुलीनता, उनकी सद्यःफला स्मृतिशक्तिकी प्रखरता, उनके सामाजिक जीवनकी उच्चता, उनके निष्कपट व्यवहारकी शालीनता, उनकी निस्पृह साहित्यसेवाकी महत्ता—सबने मिलकर उनके व्यक्तित्वको विशद बनाया था। वैसा मोहक और उत्प्रे-रक व्यक्तित्व आज हिन्दीजगत्‌में सावधानतासे टटोलना पड़ेगा।

व्यक्तित्वके निर्माणमें जिन सद्गुणोंके पारस्परिक सहयोगकी अपेक्षा होती है, उनसे वे विभूषित थे, इसका प्रत्यक्ष अनुभव उन्हीं लोगोंको होगा, जो कुछ दिनों तक उनके साथ रहकर उनके जीवनको बहुत निकटसे देख चुके होंगे।

उनकी रचनाओंमें उनका विचार-वैभव और भाव-सौष्ठव देखिए, उनकी चिन्तनधारा और कल्पना-शक्ति देखिए, उनका अभिव्यञ्जन-कौशल और

पाण्डित्यप्रकर्ष देखिए, सर्वत्र उनके व्यक्तित्वका ओज-तेज ही दृष्टिगोचर होगा। मनीषियोंके मतानुसार साहित्यकारका व्यक्तित्व उसके रचे हुए साहित्य में भी प्रतिफलित होता है।

जिन लोगोंको उनके व्यक्तित्वका साक्षात्कार नहीं हुआ, जिन्हें उनके समीप सम्पर्कका सौभाग्य सुलभ नहीं हुआ, वे तो अब उनकी रचनाओंमें ही उनके व्यक्तित्वकी विभूतियाँ देख सकते हैं।

किन्तु, जो बरसों उनसे बराबर मिलते-जुलते रहे, उनके संसर्गके सुखका अनुभव करते रहे, उनके वाग्विलासका आनन्द लेते रहे, उनके राग-द्वेष-रहित हृदयके उद्गार सुनते रहे, उनके लौकिक व्यवहारोंमें स्निग्धता देखते रहे, उनके सदाचार और सौहार्दका सौरभ पाते रहे, वे तो अब उनके व्यक्तित्वके समीक्षक न होकर समुपासक ही हो सकते हैं। विश्वनाथजीकी कृपासे, मैं भी उनमें एक हूँ।

व्यक्तित्वका सच्चा मूल्यांकन है कीर्त्तिका विस्तार। आधुनिक भारतीय साहित्यमें, हिन्दीकी ओरसे, 'प्रसाद' का व्यक्तित्व ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। अनुदिन उसके साहित्यकी प्रतिष्ठा बढ़ रही है, यह उनके आदर्श व्यक्तित्वका ही पुण्यबल है।

आज व्यक्तित्वकी परिभाषा शतरूपा हो गई है। पर सच तो यह है कि व्यक्तित्वकी परखमें विद्या बुद्धिसे पहले आचार-विचारका ही स्थान है। वस्तुतः चरित्रका ही दूसरा नाम व्यक्तित्व है। चरित्र जिसमें नहीं उसमें व्यक्तित्व भी नहीं। चरित्र जिसमें नहीं उसका कवित्व भी कागजका फूल है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्री मद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके स्वरूपोंका वर्णन किया है (श्लो० ७ से ११ तक) और सोलहवें अध्यायके आरम्भमें ही दैवी सम्पदाका भी। उन्हें देखनेसे पता लगता है कि व्यक्तित्वके निर्माणके लिए किन गुणोंकी आवश्यकता होती है और व्यक्तिके किन लक्षणोंसे उसका व्यक्तित्व तेजोमय अथवा चित्ताकर्षक प्रतीत होता है।

प्रसादजीके व्यक्तित्वमें उनके लक्षण, स्वभाव, आचार-विचार, चरित्र, ज्ञान, साहित्य आदि सबकी सत्ता मिश्रित थी। इसीलिए उनमें एक मोहिनी शक्ति थी, जो सुहृदजनोंको अपनी ओर आकृष्ट करती थी और परास्कर्ष-सहिष्णु व्यक्तियोंको भरमाती भी थी।

★

प्रसादकी जीवनचर्या



— रत्नशंकर प्रसाद —

उनके साहित्यिक जीवन और घरेलू जीवनका एक ही सत्य था। वह था सामरस्यका सत्य। किसी नन्हें परिवारकी लोक-यात्रा हो अथवा आतंक-ग्रस्त विश्वका विपुल संघर्ष, सभीका कल्याण वे इसी सत्यकी प्रतिष्ठामें मानते थे। वे आजके मनुष्यके सम्मुख उपस्थित सभी जटिलताओंको मूलस्थ विषमताओंका विपाक मानते थे, चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक अथवा आर्थिक। कामायनीमें विश्वजननीका मानव पुत्रके प्रति आदेश किंवा कामायनीका सन्देश भी इसी सत्यका निर्घोष करता है 'सबकी समरसता कर प्रचार, मेरे सुत सुन माँकी पुकार।' वह उनकी जीवनचर्यामें कैसा घुला था उन्हें निकटसे जाननेवालोंको भली भाँति विदित था। अवश्य ही जिन्होंने संकीर्ण विचारों अथवा अन्य किन्हीं कारणोंसे इस सत्यको नहीं देखना चाहा उनकी कथा और है।

अरुणोदयके पूर्व ही प्रातः कालीन कृत्योंसे निवृत्त हो निकटके बेनिया-बागमें टहलने जाया करते। उस समय वहाँ कुछ और लोगोंका भी साथ हो जाता जिनमें अधिकतर साहित्यिक होते। मुंशी प्रेमचंद और श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ भी नियमित टहलनेवालोंमें थे। वहाँसे लौटकर थोड़ा दूध पीकर अपने सुर्ती-जर्दाके प्राचीन आनुवंशिक व्यवसायकी देखभालमें लग जाते। अपने कर्तव्योंके प्रति, साहित्यिक हों अथवा व्यावसायिक, वे समानरूपसे सचेष्ट थे। कामायनीकी पाण्डुलिपि खुली कलम सहित सम्मुख रहती और वे इत्रों एवं मसालोंका मजमूआ भी तैयार करते जाते। उनके अवधान कितने सजग थे इसका यह उदाहरण हो सकता है कि कुछ देर तक मसालों और सुर्तियोंका काम करते-करते सहसा कलम पकड़ लेते और कामायनीकी जिल्दमें सहज प्रवाहसे दस बीस छन्द ढल जाते। और फिर कलम यथास्थान चली जाती तथा हाथोंमें काँटा बटखरा या मेजरग्लास आ जाता एवं मजमुओं मसालोंके गन्ध परिपाकका क्रम गतिशील हो

उठता। गन्ध परिपाकके साथ हृदय और मन, भावनाओंकी अभिव्यक्तिके लिये छन्दोंसे भर उठते और कलम हाथमें आ जाती। 'ऐसी स्थितिमें उन्हें कोई खीझ न होती और समरसतामें दोनों ही कार्य चला करते। यह बात कदाचित कम लोगोंको विदित होगी क्योंकि व्यावसायिक रहस्योंकी नितांत गोपनीयताके कारण वे कार्य एकान्तमें ही होते थे। यदि मैं भूलता नहीं तो लगभग आधी कामायनी और कितनी ही स्फुट कविताएँ इसी भाँति सुंघनी साहुके सुर्तीके कारखानेमें लिखी गयी हैं। गन्ध सम्मिश्रणके कार्यमें कितनी गम्भीरता और सूक्ष्म प्राविधिकता होती है विशेषज्ञ इसे जानते हैं, यदि एक रत्ती या एक बूंदका भी अन्तर पड़ गया तो गन्धकी परिणति भिन्न होकर समूची लागत ही नष्ट हो जाती है। वे विश्वासपूर्वक वस्तु निकालते और कहते देखो यह तोलमें इतनी है और वास्तवमें तोलने पर उसे उतनी ही पाता, अनेक बार ऐसा अवसर आया। एक बार काशी हिन्दू विश्व विद्यालयके केमिस्ट्रीके तत्कालीन प्रोफेसर गाडबोले साहबने एक गन्ध सम्मिश्रण प्रस्तुत कर उनसे पूछा कि बताइये इसमें कौन कौनसे द्रव पड़े हैं और उनसे सभी वस्तुओंका नाम सुन कर वे चकित हो गये। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि विशेष ध्यान देनेपर वस्तुओंका परिमाण भी बताया जा सकता है, हम सुर्तीके व्यवसायी बहुमूल्य यन्त्रोंकी लेबोरेटरीका काम गन्ध तन्मात्रासे ही निकाल लेते हैं। यह उनकी सर्वतोमुखी समरस अवधानताका परिचायक था।

वे किसी कार्यको नीचा नहीं मानते थे। एक बार उन्होंने कारखानेके एक उच्च वेतन कर्मचारीको कम तनखाह पानेवाले मजदूरसे क्षमा याचना करनेको बाध्य किया। कारण यह कि उच्च वेतन भोगी कर्मचारीने पानी लानेमें देर करनेके कारण मजदूरपर गिलासका पानी फेंक दिया, जिससे उसके कपड़े भीग गये। ब्राह्मणका आदर करते हुए शूद्रका असम्मान वे निन्दनीय मानते थे। स्वयं भी वे भट्ठीपर सुर्ती गलानेसे लेकर पुड़िया बाँधने और बही खाता लिखनेतकका काम कुशलता पूर्वक कर लेते थे। विशेषतः मुझे उन सबकी शिक्षा देनेके सिलसिलेमें कर दिखाया भी था। वे अपना काम अपने हाथों करने और जाननेके पक्षपाती रहे। वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि होकर बाहर भीतरसे स्वाधीन जीवनको ही लोकयात्रामें सफल मानते थे। व्यावसायिक कामोंसे निवृत्त होकर वे लगभग एक घंटा नियमित रूपसे मालिश कराते। उस समय निकट के कुछ बाल्य सहचर एवं कुछ साहित्यिक व्यक्ति एकत्र हो जाते एवं सभी प्रकारकी चर्चाएँ होतीं। इस

भाँति उनका थोड़ा मनोरंजन कुछ साहित्यिक हलचलोंसे परिचय और कभी कभी साहित्यके चरित्रोंका चयन भी हो जाता था। उन पात्रोंमें कुछ हमारे निकटके और जीवित व्यक्तियोंकी छाया मिलती है जिन्हें उन्होंने रचनाओंमें अपने अनुकूल ढाल लिया है। उनकी बैठकोंमें भाग लेनेवाले कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्हें भ्रमवश लोग उनके अन्तरग और घनिष्टके रूपमें जानते हैं जिनके शील सस्कारादि उनसे नितान्त भिन्न थे। मनमें खिन्न रह कर भी अपने निर्लेप स्वभावकी मृदुताके कारण उनसे मिलने जुलनेमें कभी हिचकते नहीं थे। कहा करते भूतभावनकी गोष्ठीमें ब्रह्मा विष्णुके साथ पिशाच वेताल भी रहते हैं। स्नानके अनन्तर थोड़ा सा व्यायाम कर भोजन करते और कुछ देर वामकुक्षी। भोजन उन दिनों अत्यन्त नपातुला और पथ्य जैसा ही था। मूंगकी दाल, हरेशाक, दो फुल्के और थोड़ा सा चावल। कभी कभी तरकारी स्वय तैयार करते और उसे अधिकाधिक स्वादिष्ट बनानेका प्रयत्न करते। दिनमें थोड़ा सो लेना उनके लिये आवश्यक भी था क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि लिखने पढनेमें मन रम जानेपर रातमें कितनी देरतक जागते रह जायगे। कभी कभी प्रातःकाल निकट आ जाता और उनका लैम्प जलता रहता, फिर प्रत्यूष वेलाकी भैरवी सन्ध्यामें वे कभी न सोते और श्रुति साहित्यके कुछ भावग्राह्य स्थल गुनगुनाते नित्य-क्रियामें लग जाते। अपराह्नमें थोड़ी देर बही खातेका काम देखकर थोड़ा वेदानेका रस पी लेते और सायकाल होते होते स्नानादिसे निवृत्त हो नारियल बाजारकी दूकान चले जाते। वहाँ भी साहित्यिकोंका एक अच्छा जमघट लगता। उसमें कहकहे लगते, नाना प्रकारकी वार्ताएँ होतीं, छन्द सुनायी पड़ते और बिचारा बैजनाथ तमोली पान लगाते लगाते थक जाता। उनके देहावसानके अनन्तर उसने लोगोंके आग्रह पर भी वहाँ बैठकर पान लगाना स्वीकार नहीं किया और अपना व्यवसाय ही बदल दिया। लोक-यात्रामें वे कितने समरस थे और साधारण एव उनकी कलासे अपरिचित व्यक्ति भी उनके प्रति कितना स्नेह सजोते थे इसका यह एक उदाहरण हो सकता है। वहाँ बैठकर वे सूक्ष्म दृष्टिसे ग्राहकों और कर्मचारियों और व्याव-सायिक आलापोंका भी अध्ययन करते जाते थे। लगभग १० बजे घर लौट कर चार पूरियाँ, थोड़ी तरकारी और एक गिलास दूध पी कर लेटते और पढने लिखनेमें लग जाते। यह उनके जीवनके पिछले १० वर्षों या कामायनी कालकी दिनचर्या थी।

★

मेरी दृष्टिमें प्रसाद



—कृष्णदेव प्रसाद गौड—

थोड़ी बहुत हिंदी पढ लेता था। उन दिनों सरस्वती ही मुख्य हिंदी की पत्रिका थी। नाथूराम शकर शर्मा, देवीप्रसाद पूर्ण, हरिऔध, मैथिली शरण गुप्तकी रचनाएँ उसमे पढनेको मिलती थीं। उनमे अपनी बुद्धिके अनुसार रस भी मिलता था। एक दिन कहीं 'इदु' पत्र देखनेको मिला। उसमें पहले ही पृष्ठपर एक रचना देखी। उसकी पहली दो पक्तिया अभी तक स्मरण हैं।

"विमल इंदुकी विशाल किरणें प्रकाश तेरा दिखा रही है
अनादि तेरी अनंत माया जगत को लीला दिखा रही है"

पूरी कविता पढनेसे ऐसा जान पड़ा कि और रचनाओंमे और इसमें कुछ अतर है। अग्रेज़ीमें 'माटर लिक' के नाटक पढ चुका था। जैसी उनमे कुछ अग्राह्यताकी अनुभूति हुई वैसी ही इस रचनामें। लेखकका नाम था जयशंकर 'प्रसाद'। किन्तु उनसे परिचय न था, न मेरे मनमे ही मिलनेकी उत्कठा हुई। उन दिनो कवियोकी सख्या भारतकी जन सख्याके अनुपातमें न थी। और कवियोंको कुछ विशिष्ट दूरके मनुष्य समझता था।

मेरी दादी स्वर्गीय रामदास गौड़की मौसी थी। इस नाते रामदास गौड़के यहा आना जाना बहुत होता था। उन्होंने सम्मेलनकी विशारद परीक्षा देनेको उत्साहित किया। मै लाला भगवानदीनसे हिंदी पढने लगा। नागरीप्रचारिणी सभाके बाहर घासपर पढाई होती थी। उसी पढ़ाईके सिलसिलेमें 'छायावाद'-का नाम सुना। इसके पहिले 'वाद' के नामपर फैजाबाद निज़ामाबाद जानता था जहाँ मेरा लालन-पालन हुआ था। यह भी सुननेमें आया कि छायावादके सबसे बड़े कवि 'प्रसाद' ही है। मेरे गुरुवर लाला भगवानदीन छायावादके विरोधी थे। और पढ़ाईके साथ इस प्रकारकी रचनाओंकी आलोचना भी करते थे।

गिरते हुए आर्थिक ढाँचेको सुदृढ किया, व्यवसायको व्यवस्थित किया, वह अकर्मण्यताकी सीमासे बहुत दूरकी बात है। उनकी कर्मण्यतामें अपना ढग था। अपनी कठिनाइयोंका विलाप वह नहीं करते थे। न किसीको अपनी पीड़ाओंसे अवगत कराते थे। बहुत पूछनेपर अतरंग मित्रोंसे सकेत कर देते थे।

अपनी बीमारीके प्रति वह अवश्य उपेक्षित थे। या तो वह जान गये थे कि हमारी ससारकी लीला समाप्तप्रायः है, अथवा नियतिके कठोर करोंमें अपनी परवशता वह समझते थे। उनसे बार बार लोगोंने कहा कि आप किसी सैनिटोरियममें जाइये। सब लोगोने मिलकर जाधवपुरमें स्थान सुरक्षित करा दिया। सब ठीक हो गया। किन्तु मनमें उन्होंने निश्चय कर रखा था। ऐन दिन वह टाल गये। तब कहा गया दूर नहीं सारनाथ ही जाइये। बाहर द्वारपर गाड़ी खड़ी हो गयी। सब सामान लद गया। उन दिनो वह ऊपरके कमरेमें थे। हम लोग उन्हें पहुँचानेके लिए आये थे। जब ऊपरसे उतरनेका समय आया, उन्होंने कहा—मैं नहीं जाऊँगा।

प्रसाद निर्भीक और साहसी थे। जिस समय सन् १९३१ मे मुसलमानों ने हिन्दुओंके विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी थी और रात एक ओरसे अल्ला हो अकबर और दूसरी ओरसे हर हर महादेवका गगनस्पर्शी नाद होता था, दो-तीन दिनोंतक रातमें महल्लोंमें पहरा पड़ा था। प्रसादजी परतलेसे छुरा लटकाए अपने घरकी निकटवर्ती गलियोंमें चार-पाँच व्यक्तियोंके साथ टहला करते थे। इससे पड़ोसियोंको कितनी सात्वना मिली थी वही जानते हैं। किन्तु यात्राका नाम उनके सामने विकराल रूप लेकर खड़ा हो जाता था। यात्रासे बहुत डरते थे। जबसे मेरा परिचय उनसे हुआ, दो ही बड़ी यात्राएँ उन्होंने कीं। एक पुरीकी जहाँ वह एक मास रहे। वहीं उनकी कविता 'लेचल मुझे भुलावा देकर' सागरकी वेलापर रची गयी। दूसरी यात्रा लखनऊ, जो महायात्राके पहले हुई।

घमडने उनके मानसिक धरातलको स्पर्श नहीं किया किंतु स्वाभिमानका प्रवाह उनकी धमनियोंमें बराबर रहा। मृत्युके पाच-छ मास पहिले महाराज कुमार डाक्टर रघुवीर सिंहने उन्हें आथिक सहायताके लिये पत्र लिखा। उन्हें दृढ शब्दावलीमे अस्वीकार कर दिया। एक और घटना बताऊँ। शाति-निकेतनमें जापानके एक महान कवि पधारे थे

गरसीदास चतुर्वेदी

उन दिनों विशाल भारतके संपादक थे। उन्होंने यहा पत्र लिखा प्रेमचंदको कि आप आइये। प्रसादजीके जानेकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। प्रेमचद जानेको तैयार थे। सवेरे बेनिया बागमे टहलते समय प्रसाद जीने प्रेमचदसे कहा आपका स्थान हिंदीमे उनसे निम्न हो तो जाइये। प्रेम-चंदने जाना स्थगित कर दिया।

चाकचिक्यसे उन्हे घृणा थी। मैने देखा कितनी बार उनके पास उनके जातीय सम्मेलनके अध्यक्ष पदके लिये तार पर तार आ रहे है किंतु वह टससे मस नहीं होते थे। जात पातकी संकीर्णता उनमें नहीं थी। धार्मिक बातोंमे भी सहिष्णु थे। शैव धर्म उनके घरानेका धर्म था। उनके यहा शिवरात्रिको रातको जागरण होता था और बाहर चदवाके नीचे लोग एकत्र होते थे। जीवनके अतिम तीन चार वर्ष वह जागरण बद हो गया था। मै दो अवसरों पर था। एक बार तो शिवपूजन जी, जनार्दन प्रसाद झा, तथा और लोग भी उपस्थित थे। किसी लड़केका नृत्य हो रहा था। शिवपूजन जी, द्विज जीने भाग पी रखी थी। उस छोकरेके गानेपर इतनी हंसी हुई कि आज भी भूल न सका।

दूसरोंकी अपस्तुतिमे उन्हे आनद नहीं मिलता था। आजकी भाँति उन दिनों भी नयी कविताका विरोध बहुत हुआ। आरभमे प० रामचन्द्र शुक्लतकने विरोध किया। 'जे बिन काज दाहिने बाँयें' सिद्धान्तवालोंने अपनी लेखनी और जिह्वासे मानसिक रोगके कीटाणु वितरित किये। नये साहित्यकारों तथा मित्रोंको छोड़कर विद्वानोंमे केवल केशवप्रसाद मिश्र ऐसे थे जिन्होंने उनकी रचनाका मूल्य समझा। किन्तु प्रसाद किसी लेखका, किसी प्रवादका उत्तर देकर विद्वताके धरातलसे उतरे नहीं। उनकी साहित्यिक कृतियोंपर जो आक्षेप हुए उसकी कभी उन्होंने चिंता नहीं की।

कवि सम्मेलनोंमे कभी जाते नहीं थे। यदि यह गर्वोक्ति न समझी जाय तो यह कहूँगा कि इन पंक्तियोंके लेखकने उन्हे दो एक स्थानपर जानेके लिये विवश किया। यों तो उनके यहाँ जो जाता था उसे वह अपनी रचना निःसकोच सुनाते थे। कामायनी संपूर्ण प्रकाशकी रेखाने चमकनेके पहले हम लोगोंके कानोंमें समा चुकी थी। सार्वजनिक सभामें सर्व प्रथम उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभामें शब्दसागरके संपूर्ण होनेके उपलक्ष्यमें जो उत्सव हुआ था, उसमें लज्जावाला अश पढा था। अन्ततः हिंदीवालोंके सम्मुख

साहित्यके ऐसे विचित्र सौंदर्यके देखनेका पहिला अवसर था। विचित्र आनंद से लोग पुलकित हो गये।

अन्तिम भेंट उनसे उनकी अमर शान्तिके दो दिन पहले हुई थी। सवेरेका समय था। डा० एच० सिंहके साथ, उन्हींकी चिकित्सा हो रही थी, मैं गया। नीचेके कमरेमें वह थे। रात भर नींद न आयी थी। सामने मसनद रखे बैठे थे। लेटनेमें पीड़ा हो रही थी। ओससे नहलाये वालटर रोजकी भाँति मुख पीला हो गया था। जाते ही उन्होंने मुस्करा दिया। वह मुसकराहट देखकर मैं यह तो न समझ सका कि मृत्युका पाश इतना दृढ हो गया है कि अड़तालीस घटोंमें प्राणको वह बाँध ले जायगी। तीसरे ही दिन रातमें तीन बजे पता चला कि नाविक भुलावा देकर उन्हें ले गया।



प्रसाद—मेरी दृष्टि में

●

—हजारीप्रसाद द्विवेदी—

आजकल प्रसाद जी हिंदीके श्रेष्ठ कवि और नाटककारके रूपमें सर्वत्र परिचित हैं। उनके पुराने आलोचकोंने भी अब उनकी प्रतिभाका लोहा मान लिया किंतु हिंदी-साहित्यमें एक ऐसा समय भी गया है जब इस अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न कविको व्यंग्यों कटूक्तियों और प्रतिकूल समालोचनाओंकी बौछार सहनी पड़ी थी। प्रसादजीकी काव्य-साधना इन्हीं व्यंग्यों और कटु समालोचनाओंके बीच शान्त और स्निग्ध गतिसे चलती रही। उन्होंने कभी कटु आलोचनाओंका उत्तर देनेकी चिंता नहीं की, यद्यपि मुझे ऐसा लगता है, कि वे उनसे थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य होते रहे। प्रसाद जी जीवनकी गहराईमेंसे रस ले सकते थे जिस प्रकार विशाल वट-वृक्ष ग्रीष्मकी धधकती ज्वालाकी बौछार सहकर भी शीतल और सरस बना रहता है, क्योंकि वह गहराईमेंसे रस खींचता है, उपरले स्तरकी ज्वाला उसके लिये कोई खास महत्त्व नहीं रखती, उसी प्रकार प्रसाद जी भी जीवनके गंभीरतलसे रस-संग्रह कर सकते थे। फेन-बुद्बुद्की भाँति क्षण-क्षणमें उद्भूत और विलीन होनेवाले और ईर्ष्या, द्वेष या अज्ञानसे पुष्टि पानेवाले सामयिक कटु उद्गारोंको उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया।

प्रसाद जीके बहुत निकट संपर्कमें आनेका अवसर मुझे कभी नहीं मिला। एक विचित्र प्रकारसे उनके काव्यसे मेरा प्रथम परिचय हुआ। मैं उन दिनों संस्कृतका विद्यार्थी था, और हिंदीकी नवीन कविताके प्रति मेरे मनमें पूर्ण रूपसे अश्रद्धा थी। कभी-कभी मैं हिंदीमें तुकबंदी कर लिया करता था, पर कवि-सम्मेलनोंमें सुनानेका कभी साहस नहीं कर सका। मैं राजशेखरके उस प्रथम श्रेणीके कविके समान था जिसका काव्य घरमें ही रह जाता है:—एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यम्। परंतु एक बार मेरी एक तुकबंदी संयोगसे भाई सोहनलाल जी द्विवेदीको मिल गई। सोहनलाल जी उदार और सहृदय कवि थे, वे भी उन दिनों काशी विश्वविद्यालयमें पढ़ रहे थे। उन्होंने दिल खोलकर मेरी कविताकी प्रशंसा की, और प्रसाद जीकी एक पुस्तक भेंट की। पुस्तक संभवतः 'झरना' थी। भाई सोहनलाल जीका अनुमान था कि उस

पुस्तककी कविताओंको पढकर मैं आधुनिक कविताका प्रशंसक हो जाऊँगा। मैंने पुस्तकको यथा-सभव बडे ध्यानसे पढा, समझनेका प्रयत्न भी किया, और इस नतीजेपर पहुँचा कि इन कविताओंका कोई मतलब ही नहीं होता। मुझे ऐसा लगा, कि कविने कलमकी नोकपर जो भी शब्द आए हैं और छदके अनुकूल पडे हैं उन्हें बिना बिचारे रख दिया है। इन पक्तियोंसे यदि कोई अर्थ निकले, तो वह बुद्धिमान् पढितकी करामात ही होगी। परन्तु इतना लाभ अवश्य हुआ, कि मुझे मालूम हो गया, इसी काशीमें जयशंकर प्रसाद नाम का कोई हिंदी कवि है, जिसके प्रति भाई सोहनलाल द्विवेदी जैसे सहृदय हिंदी-प्रेमी युवकोंकी अपार श्रद्धा है। मैं धीरे-धीरे प्रसाद जीकी रचनाओं को पढने लगा। परन्तु उनकी ओर मेरा सच्चा आकर्षण उनके नाटकोंके कारण ही हुआ, कविताके कारण नहीं। नई हिंदी छायावादी कविताके प्रति मेरी श्रद्धा कुछ आगे चलकर कविवर पतके 'पल्लव' नामक काव्य सग्रहके द्वारा हुई। यह पुस्तक भी मुझे एक दूसरे अत्यन्त सहृदय मित्र पं० शिव-कुमार शुक्लकी कृपासे प्राप्त हुई थी। अस्तु सन् १९३० ई० तक मैंने प्रसाद जीके प्रकाशित प्रायः सभी नाटक पढ डाले। इसी समय मुझे प्रत्यक्ष रूपसे देखनेका अवसर भी मिल गया। वे एक कवि-सम्मेलनमें पधारे थे, कोई कविता उन्होंने नहीं पढी। आदिसे अत तक वे शान्त गभीर भावसे बैठे रहे। कभी कभी हँस अवश्य देते थे। परन्तु अधिकाश वे स्थिर भावसे चुप-चाप ही बैठे रहे। जहाँतक मुझे स्मरण है, उनके शरीरपर एक शुभ्र महीन चादर थी, जो उनके व्यक्तित्वमें एक विचित्र गरिमा भर रही थी। मैं उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित हुआ था, और उसके बाद उनके काव्यको और भी निष्ठासे समझनेका प्रयत्न करने लगा था। परतु सन् १९३० ई० में काशी छोडनेके बाद भी मेरा यही मत था कि उन कविताओंसे अर्थ निकालना कठिन काम है। अब मैं यह तो मानने लगा था कि प्रसाद जी जैसा बहुश्रुत व्यक्ति निरर्थक शब्द-योजना नहीं कर सकता, लेकिन उनकी रचनाओंकी दुरूहता अब भी मेरे लिये ज्यों-की त्यों बनी हुई थी। स्पष्ट बात यह है कि अब पहलेकी तरह प्रसादजीकी कविताओंकी दुरूहताको उनका दोष न मानकर अपनी समझका दोष मानने लगा था।

इस बीच एक विचित्र सयोगसे प्रसाद जीको भी मेरे बारेमें कुछ पूछ-ताछ करनेकी आवश्यकता महसूस हुई। मैंने एक लेख लिखा था, जो सभवतः १९२९ ई० की 'सुधा' के किसी अकमें प्रकाशित हुआ था। लेखका शीर्षक था 'मेरु कहाँ है' प्रधानरूपसे ज्योतिषके ग्रन्थोंके आधारपर ही मैंने इस

विषयका प्रतिपादन किया था। लगभग उसी समय इसी विषयपर प्रसाद जीका भी एक लेख प्रकाशित हुआ। मुझे ठीक स्मरण नहीं कि किस पत्रिका में वह लेख निकला था। संभवतः वह पं० हरिभाऊ उपाध्यायके सपादकत्वमें निकलनेवाली त्याग-भूमिमें प्रकाशित हुआ था। प्रसाद जीने ज्योतिष-शास्त्रीय प्रमाणोंका अधिक उपयोग नहीं किया था। 'सुधा' वाले लेखको पढकर उन्हें मेरे बारेमें जिज्ञासा उत्पन्न हुई और मेरे एक परिचित मित्रसे मेरे बारेमें उन्होंने पूछताछ की। यदि मैं काशीमें रह गया होता तो कदाचित् उनके निकट पहुँचनेका अवसर मुझे मिल जाता; परन्तु मुझे बाहर चला जाना पड़ा, और व्यक्तिगत सबध अधिक नहीं बढ़ पाया।

प्रसाद जीके नाटकोंसे भारतवर्षकी भूली हुई, और अधभूली हुई प्राचीन सस्कृतिका सिंहद्वार अनावृत हो गया है। महाभारतसे लेकर गुप्तकाल तकके अनेक प्रसंगोंकी अवतारणा करके उन्होंने अपने देशकी पुरानी सस्कृतिको अपने नाटकोंके द्वारा सजीव रूपमें उपस्थित कर दिया है। मुझे अच्छी तरह याद है, कि उनके नाटकों को पढ़कर मेरे मनमें बौद्ध-साहित्यको पढ़नेकी प्रबल लालसा जाग्रत हुई थी। यद्यपि मैं इन नाटकोंसे बहुत अधिक प्रभावित हुआ था, और कभी-कभी मेरे चित्तमें इसी प्रकारके प्रयास करनेकी प्रेरणा भी उत्पन्न हुई थी; तथापि मैं प्रसाद जीके केवल दो गुणोंपर ही अधिक मुग्ध था। एक तो गभीर अध्ययनके द्वारा प्राचीन ऐतिहासिक सामग्रीके ढूहोंमेंसे ऐसे प्रसंगोंके चुननेकी दक्षता जो अपने आपमें ही महान् होते थे; और दूसरा चुने हुए छिन्न सूत्रों द्वारा निर्मित कंकालको सप्राण और ग्राहक बनानेका उनका अद्भुत रचना-कौशल।

इनके नाटकोंको पढ़कर मैं चकित भावसे सहस्रों वर्ष पुराने भारत वर्षको जीवन्त रूपमें देखनेकी दृष्टि पाता था। सुदूर अतीतके नर-नारियोंका जीवन चित्र, प्रतापी नरपतियोंके उत्थान पतन, सामतों और महन्तोंके कूट-नीतिक दाँव-पेंच, प्रेम और घृणाके घात-प्रतिघात और षड्यंत्र और विस्फोटोंका रोमाञ्चकर दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता था। रह-रहकर मेरे मनमें यह बात भी उठती थी कि प्रसादजी जरूरतसे ज्यादा षड्यंत्रों और चालबाजियोंकी योजना करते हैं। मुझे ऐसा लगता था कि अपनी बाल्यावस्था के पढ़े हुए तिलस्मी उपन्यासों, जासूसी कहानियों और ऐतिहासिक उपन्यास के नामपर चलनेवाले सनसनीखेज किस्सोंका असर उनके ऊपर रह गया था; वे अपनेको उस प्रभावसे बचा नहीं सके थे। किसी-किसी नाटकमें वे

पारसी थियेट्रिकल कम्पनियोंके प्रभावसे भी मुक्त नहीं हो सके थे। परंतु सब मिलाकर प्रसादजीकी विराट् कल्पनाका वह भारतवर्ष जो महाशोणसे कुभा और वक्षु तक फैला हुआ है, और जिसकी पवित्र संस्कृतिका महानद अनादिकालसे मनुष्यताका जयोद्‌घोष करता हुआ आगे बढता जा रहा है मुझे अभिभूत और चकित कर देता था। उस समय मुझे हिंदीमें ऐसा कोई दूसरा साहित्यकार नहीं दीखता था, जो भारतवर्षको इस प्रकार देश और कालमें प्रसारित करके देख सके, और उसकी सनातन-संस्कृतिके महान् तत्वोंको सजीव बनाकर प्रत्यक्ष करा सके।

यह कहना गलत होगा, कि मैं इन नाटकोंमें केवल गुण ही गुण देखता था। मुझे दोष भी दिखाई देते थे। प्रसादके अनेक आलोचकोंकी भाँति मैं भी मानता था, कि ये नाटक अभिनयके योग्य नहीं हैं। उनकी भाषा वैसी नहीं है, जैसी कि उसे होनी चाहिए थी। बहुतसे लोग संस्कृत-शब्दोंके बहुल प्रयोगको ही प्रसादकी भाषाका दोष बताते थे, परतु मेरा विचार था, कि उनका प्रधान दोष यह है कि वे पात्र और प्रसगोंके अनुकूल बन जाने योग्य लोच नहीं रखती।

इस प्रसगमें एक मनोरंजक कहानी याद आती है। यद्यपि, जैसा कि मैंने ऊपर कहा है कि प्रसादजीकी भाषासे मेरी शिकायत थी। परन्तु कभी-कभी परिहासमें काशीका विद्यार्थी होनेके कारण मुझे प्रसादजीकी ओरसे मित्रोंको जवाब भी देना पड़ता था। 'विशाल-भारत' के यशस्वी पत्रकार प० बनारसीदास चतुर्वेदीसे कई बातोंमें मैं आजतक सहमत नहीं हो सका, फिर भी उनके ऊपर मेरी बड़ी श्रद्धा है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि वे अत्यन्त उदार सच्चे और ईमानदार सहृदय हैं। जो बात उनकी समझमें नहीं आती, उसे वे स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार करते हैं। जो बात उन्हें अच्छी लगती है, उसे सहज-सरल शैलीमें कह देते हैं, और जो बुरी लगती है उसे भी बिना किसी व्यक्तिगत कटुताके बढाए साफ-साफ कह देते हैं। उन्हें देखकर मैंने यह समझा है कि सत्य कितना भी कठोर हो, जब ईमानदारीके साथ प्रकट किया जाता है, तब उसमें कटुता नहीं आने पाती। जो आलोचक सचाईके नामपर जहरसे बुझे वाक्योंका प्रयोग करते हैं, उनमें ईमानदारी नहीं होती। तो प० बनारसीदास चतुर्वेदी जी बराबर यह मानते रहे हैं कि प्रसादजीको भाषा लिखने नहीं आती थी। इस लपेटमें उन्होंने पूरबके सभी साकिनो को घसीट लिया था। परिहासमें वे कहा करते थे कि कानपुरके

पूरब रहनेवालोंको हिंदी-भाषा लिखने आती ही नहीं। एक बार ऐसा हुआ कि उन्होंने परिहासमें कहा कि बनारसवालोंको तो भाषा लिखने आती ही नहीं। प्रसंग प्रसादजीकी भाषाका था। उस विनोदके प्रथम लक्ष्य प्रसाद जी थे और दूसरा मैं। मैंने कहा, कि पंडितजी आज बनारसकी चाहे जो भी अवस्था हो गई हो, आजसे पचास वर्ष पूर्व बनारसके प्रति लोगोंकी ऐसी श्रद्धा थी कि पिता अपने पुत्रका नाम बनारसीदास रखनेमें गौरव अनुभव करता था। चतुर्वेदी जी खूब हँसे और आजतक उस मजाककी चर्चा किया करते हैं।

अस्तु, यह तो आन्तर बात हुई। प्रस्तुत प्रसंग यह है, कि सन् १९३५–३६ ई० तक मेरी धारणा थी कि प्रसाद जीकी प्रतिभाका गौरव उनके नाटकोंके कारण है। यद्यपि इन नाटकोंकी भाषामें और भी सुधार अपेक्षित जान पड़ता था। इन नाटकोंकी दृश्य-योजनामें शिथिलता मालूम पड़ती थी। उनके नाटकोंमें कोई-न-कोई महिलापात्र ऐसी मिल जाती है जो या तो प्रेमके अनादृत होनेके कारण भीषण हो उठती है, या किसी स्वार्थ-वश कूटनीति यन्त्रका संचालन करने लगती है। मुझे ऐसी योजनाका बाहुल्य यथार्थका कुछ अतिरेक जान पड़ता है, फिर उनके नाटकोंमें अचानक अप्रत्याशित घटनेवाले प्रसंगोंसे या जटिलता प्रकट करनेवाले पात्रकी अचानक मृत्युसे कथानकको सरल बनानेका प्रयत्न है। यह बात भी मुझे बहुत उचित नहीं जान पड़ती। मुझे ऐसा लगता था, और अब भी लगता है, कि प्रसादजीके नाटकोंके दृश्यांशोंका और भी ठोस संघटन संभव है। इन नाटकोंमें प्रसादजी कभी-कभी कवित्व-पूर्ण वातावरण उत्पन्न करनेके मोहमें पड़कर कथानककी स्वाभाविक गतिको व्याहत भी कर देते हैं। इस प्रकार विशुद्ध नाटककी दृष्टिसे मुझे ये नाटक सदोष दिखते थे और मेरे विचार आज भी बहुत अधिक परिवर्तित नहीं हुए हैं। परन्तु साथही मैं इस सत्यको नहीं भुला सका था, और न आज भुला सका हूँ, कि प्रसादजीके नाटकोंने मनुष्यके गूढ चरित्रमें प्रवेश करके इतिहासके विलुप्त खण्डोंसे अनेक अविस्मरणीय चरित्रोंकी सृष्टि की है। उनके नाटकोंके पढनेसे निःसंशय रूपसे ऐसा अनुभूत होता है कि सुदूर अतीतसे वर्तमान काल तक अविराम चली आती हुई मानव-धारामें हमें अभिभूत, चालित और प्रेरित करनेवाले सैकड़ों मनुष्य प्रत्यक्ष रूपसे सामने सामने खड़े हो गए हैं। ऐसी विशाल प्रतिभासे मंडित कविको देश कभी भुलाना बर्दाश्त नहीं करेगा।

प्रसाद—साहित्यके मेरे अध्ययन का एक बड़ा भारी विरोधाभास यह था, कि मैं कवितासे तो प्रभावित नही हुआ पर नाटकोंसे प्रभावित हुआ था, और फिर भी मै मानने लगा था, कि प्रसादको नाटकोंका प्रधान आकर्षण उनका कवित्वमय वातावरण ही है। धीरे धीरे मैं प्रसादजीकी कविता भी समझने लगा। यह तो मै स्वीकार करूँगा, कि मैं प्रसादजीकी कविताका सहज रसिक पाठक नही हूँ। बहुत थोडे कवियोंकी रचना मैं बिना किसी प्रयोजनके सिर्फ अपने आनन्द या प्रेरणा पानेके लिये, पढ़ता हूँ। परन्तु मेरे जैसे व्यक्ति सिर्फ आनन्द या प्रेरणाके लिये कविता नही पढते, बल्कि कविता पढना भी उनका पेशा या व्यवसाय है। इस व्यवसायके कारण आज बहुतसे कवियोंकी चर्चा होने लगी है, और बहुतसे गडे मुर्दे उखाडे जाने लगे हैं। साहित्य-चर्चा यदि मेरा व्यवसाय न होती, तो कदाचित् मै प्रसाद जीकी कविता पढता ही नही। इसका यह मतलब नही, कि मैं यह मानता हूँ कि प्रसादजीकी कवितामें प्रेरणा या आनन्द देनेवाला तत्त्व नही है। उल्टे, मै ऐसा मानता हूँ कि कवितामें ऐसे तत्त्व प्रचुर मात्रामें विद्यमान हैं। प्रश्न रुचि और अवसरका है। कालिदास, भवभूति और बाणभट्टकी रचनाओंको मैं जिस प्रकार बिना किसी स्थूल प्रयोजनके पढता हूँ, उसी प्रकार प्रसादको नही पढ़ता। प्रसाद को पढनेके लिये कोई बहाना ढूँढना पड़ता है जब यह बहाना मिल जाता है, तो निःसदेह छककर रस-पान करता हूँ। इससे मैं प्रसाद जीकी कविता की कोई अवहेलना नहीं मानता। बहाना नही मिलनेपर मै वाल्मीकिकी रचना भी नहीं पढ़ पाता, परन्तु कविके रूपमे वाल्मीकि का गौरव मेरे मनमे बहुत अधिक है, अस्तु।

संभवतः सन् १९३७-३८ की बात है, उस समय कामायनी नई प्रकाशित हुई थी, और प्रसाद जी बीमार थे। प० बनारसीदास चतुर्वेदीने कामायनीकी एक प्रति भेजी, और अनुरोध किया, कि विशाल-भारतके लिये उसकी एक समालोचना लिख दूँ। चतुर्वेदी जीने उदार और स्नेहपरायण हृदयके अनुरूप ही पत्रमें यह भी लिखा, कि 'विशाल-भारत'मे प्रसाद जीके विरुद्ध छपता रहा है, परतु वे इस समय बीमार हैं, और उनका स्वास्थ्य बहुत ही नाजुक स्थितिमें है, इसलिये कामायनीकी आलोचना करते समय अपने स्पष्ट विचारों को तो अवश्य लिखूँ, परन्तु कहीं भी कोई ऐसा कड़ा वाक्य न लिख दूँ, जिससे रुग्ण प्रसाद जीको रंच-मात्र भी कष्ट पहुँचनेकी संभावना हो।

चतुर्वेदी जीने और भी लिखा कि प्रसाद जीके गुणोंकी भी चर्चा उदारता-पूर्वक अवश्य होनी चाहिए, और अंतमें यह भी लिख दिया, कि ये मेरे विचार हैं, आपको जैसा उचित जान पड़े, वैसा करें।

मैंने कामायनी पढ़ना शुरू किया। एकाध जगह अटका लेकिन रुका नहीं, और कई जगह तो दरेरा देकर निकल गया। मैंने सोचा, कि क्या सचमुच यह उसी कविका काव्य है जिसको मैं किसी दिन निरर्थक शब्दयोजना करनेवाला समझता था। भाषाका अजस्र प्रवाह भावोंका अपूर्व वैभव और गहन चिंतनाकी अद्भुत् विनियोजना चकित कर देनेवाली थी। कामायनीको मैंने दुबारा पढ़ा। इस बार दोष-दर्शी आलोचककी दृष्टिसे। कामायनीकी कथासे मैं परिचित हो चुका था। इस बार उसकी बारीकी या भोंडेपनसे परिचित होना चाहता था। मैंने प्रथम पृष्ठको ही थोड़ी झुँझलाहटके साथ पढ़ा—

हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिखरपर
बैठ शिलाकी शीतल छाँह,
एक पुरुष भींगे नयनोंसे—
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

इस प्रथम पद्यमें ही आदि मानवको भींगे नयनोंसे देखते हुए देखकर मुझे थोड़ी ग्लानि हुई। यही क्या वह आदि-मानव है, जो प्रकृतिकी सहस्रों बाधाओंसे नित्य जूझा करता था, और सदा अम्लान-अकातर बना रहता था। मेरे मनमें विचार आया, कि प्रसाद जीको आदि मानवके चित्रित करनेमें सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसमें 'अवयवकी दृढ़ मांसपेशियों" और "स्वस्थ रक्त वाहिनी स्फीत शिराओं" के अतिरिक्त कुछ और भी होना चाहिए था। उसमें असरा अदम्य भाव और अकुतोभय पौरुषका भी समावेश होना चाहिए था। प्रकृतिके भयंकर प्रकोपको देखते समय उसमें प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिहिंसाकी भावना होनी चाहिए थी और और भी प्रकृति संघर्ष-जन्य उद्धत भाव उसमें दिखना चाहिए था, जो कवित्वके अभावमें मेरी वाणी प्रकट नहीं कर सकती। लेकिन अद्भुत प्रतिभा-शाली प्रसादकी वाणी अनायास ही यह कह सकती थी। मुझे सबसे बड़ा आश्चर्य इस बातसे हुआ, कि जो कवि अपने नाटकोंमें कालके विषम प्राचीरको अनायास लाँघ जाता है, वह इस काव्यमें आदि मानव-काल तक क्यों नहीं पहुँच सका। परन्तु मैंने अपने मनमें दबाया और अपनी समालोचनामें इस विचारको तरह दे गया। यह

नहीं, कि सत्यको कहनेमें मुझे कोई हिचकिचाहट थी, बल्कि यह कि, कामायनीको दुबारा पढनेक बाद मैंने अनुभव किया, कि आदि-मानव इस काव्यका लक्ष्य नहीं उपलक्ष्य है। समूचे काव्यमें अनेक मनोहर चित्रों को ऐसे कौशलके साथ सजाया गया है कि ऊपर-ऊपर स्वतत्रसे दीखनेपर भी वे एक समग्र अर्थ-भूमिकी व्यञ्जना करते हैं। यह अर्थ भूमि यह है, कि बौद्धिक प्रचेष्टायें मनुष्यको सच्चे आनन्दसे सदा दूर रखतीं हैं, और श्रद्धा ही उसे सच्चे आनन्दका अनुभव कराती हुई कल्याण-मार्गकी ओर ले जाती है। कविने इड़ाके द्वारा आयोजित उपकरण-बहुल आयोजनों द्वारा श्रद्धा विश्वास हीन आधुनिक विज्ञानपर आधारित उपकरण-बहुला सभ्यताकी ओर भी इगित किया है, और अतिम सर्गमें जिस सामरस्यकी ओर इगित किया है, वह चिरतन मानवकी सनातन समस्याओंका सनातन समाधान है। लक्ष्यपर दृष्टि न रखकर और समग्रताकी ओरसे आँख मूँदकर छोटी-मोटी ब्योरेकी गलतियोंको पकड़कर लाठी भाँजनेवाले समालोचक मुझे बहुत प्रभावित नहीं करते। इसीलिये प्रथम सर्गके प्रथम पद्यमें ही मुझे जिस वितृष्णाका अनुभव हुआ था, उसे दबा सकनेमें मैं समर्थ हो सका। कामायनीकी एक जैसी तैसी आलोचना मैंने उस समय लिख दी। वह छप भी गई; परतु मुझे उससे सतोष नहीं हुआ। मैंने नये सिरेसे प्रसाद जीकी कविताओंके समझनेका प्रयत्न किया। मैंने अनुभव किया कि प्रसादको समझनेके मेरे तीन प्रयासोंमें थोड़ी सी एकसूत्रता भी है।

प्रसाद जीकी आरभिक रचनाओंको पढनेसे मुझे ऐसा लगा, कि जैसे कवि कुछ कहना चाहता हो, पर कह न पाता हो। अन्य छायावादी कवियोंकी भाँति प्रसाद 'व्यक्तिगत अनुभूतियोके स्वतः समुछ्रित उछ्वास' के विस्फोटमें विश्वास नहीं करते थे। वे अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियोंपर अकुश लगाया करते थे। मैने अन्यत्र लिखा है, कि "एक प्रकारकी झिझक और सकोचका भाव उनकी, आँसू तककी सभी कविताओंमे मिलता है। ऐसा लगता है, कि कविका भय है कि, उसके मनमें जो भाव उमड़ रहे हैं, जो वेदना सचित है वह यदि एकाएक अपने अनावृत रूपमें प्रकट हो जायगी, तो पाठक उसकी कद्र नहीं कर सकेंगे। कविकी धारणा है, कि पाठक अभी इस परिस्थितिमें नहीं हैं कि उसके भावोंको ठीक-ठीक समझ सकें, और सहानुभूतिके साथ देख सकें। उनकी कविताओंके सबन्धमें जो आलोचनाएँ निकल रही थीं, उनसे भी उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला होगा।" जो हो, आरंभसे ही अपने भावोंक

सलज्ज और सलज्ज स्थापनामे प्रसादका सचेत व्यक्तित्व स्पष्ट हुआ है, इसमें धकिया कर आगे बढनेकी प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि चुपचाप सबके बाद धीरेसे—अज्ञात रहकर—आगे बढ़ जानेका भाव है। झरना तककी रचनाओंमें यही सलज्ज भाव रहता है। आँसूमे कवि अपने भावोंको अधिक स्पष्टताके साथ व्यक्त करने लगता है, पर अवगुंठन यहाँ भी है। प्रसाद प्रकृतिके और मनुष्यके सौदर्यको पूर्ण-रूपसे उपयोग्य बनाने वाले कवि हैं। शुरू-शुरूमे जब वे बौद्ध-धर्मके दुःखवादसे प्रभावित जान पड़ते हैं तब भी संसारकी रूप-माधुरीको छककर पान करनेके सम्बन्धमे उनके मनमे कोई दुविधाका भाव नहीं है। वे इस बातको स्पष्ट और दो टूक भाषामें नहीं कह पाते, क्योंकि तब तक उन्हें वह तत्त्व वाद नहीं मिल सका था, जो वैराग्य और कृच्छाचारमे नहीं, बल्कि सब प्रकारके सामरस्यमे ही मनुष्यकी परम-शान्तिमे विश्वास करता है।

यद्यपि सन् १९२७ ई० के बादसे ही मै प्रसाद जीकी कविताओंको अधिक ध्यानसे पढने लगा, तथापि मुझे स्वीकार करना चाहिए कि प्रसाद जीके नाटकों ने मेरे मनमें प्रकृति दत्त भीतरी और बाहरी आवरण और अवगुण्ठनके प्रति श्रद्धाकी भावना जागृत कर दी थी। मैं भी प्रसाद जीके इस तत्त्व-वादसे प्रभावित हुआ था। मुझे भी लगने लगा था, विधाताका दिया हुआ जो आवरण निरन्तर पार्थिव-सौदर्यके रूपमें प्रकट हो रहा है, वह मिथ्या नहीं है और न वह मनुष्यको वञ्चनाके जालमे जकड़नेका प्रयास ही है। महाकाल देवताने सत्यके मुखको जो हिरण्मय पात्रसे आवृत कर रखा है, वह किसी मनुष्यको बहकानेके लिये या भुलावा देनेके लिये नहीं हो सकता। उनके प्रत्येक संकेतोपर जब मृत्यु झड़ रही है और जीवन जाग रहा है, वह जादूगरके झोलेसे निकले हुए वस्तु सभारकी भाँति कुहक मात्र नहीं है, यह चेतन और हिरण्मय-पात्रका आवरण परमेश्वरका आशीर्वाद है, ये न होते तो संसार रहने योग्य न होता। एक बार मै इसी भावसे प्रभाव प्रभावित होकर एक लम्बी तुकबंदी लिख गया था, जिसकी प्रथम दो पक्तियाँ याद आ रही हैं—

स्वागत स्वागत मेरी माया। मैंने तुमसे सब कुछ पाया।

मुझे यह भी याद है कि कुछ दिन बाद 'मेरी' को काटकर उनकी कर दिया था। अस्तु।

प्रसादकी कविताओंको पढकर मै बराबर सोचता रहा कि उनकी रचनाओं मे यह लज्जा भाव और सलज्ज अवगुंठन क्यो है? अपने ढंगसे मैने इसका

उत्तर भी खोज लिया था। मुझे ऐसा लगा कि प्रसाद जी स्वयं कभी कभी अपनी झिझकके कारण खिन्न जान पड़ते हैं क्यों नहीं वे अपने भाव खुलकर प्रकट करते! क्यों नहीं लज्जाका अवगुंठन हटा पाते?

आरंभमें प्रायः सभी छायावादियोंमें थोड़ी बहुत झिझक थी। मैंने अन्यत्र लिखा है—"छायावादी कवियोंने जब अपने भावोंको प्रकट करनेमें संकोच किया है तब भावोंको इस प्रकार रूप दिया है कि वे मनोवृत्तियोंकी क्रियाके रूपमें प्रकट हों। 'भाव' होते हैं, किए जाते हैं, वे स्वयं कर्ता नहीं होते।' परन्तु कवि उनको इस रूपमें रखेगा मानों वे किसी विशेष मनोवृत्तिके मूर्त मानवीय रूपकी क्रिया हों। प्रेमी किसी सुंदररूपको छककर देखना चाहता है। देखना संभव नहीं होता, जिसके पास सौंदर्य है वह झेंप रहा है। प्रेमी दर्शकके मनमें अतृप्तिजन्य व्याकुलता है। सीधे कहना होता तो वह अपनी व्याकुलताको सहज भाषामें कह देता। ठाकुरने या बोधाने सीधे सीधे कह दिया है। पर झिझक और संकोचसे भरा छायावादी कहेगा कि 'मेरी अधजगी भावनाओंको सौन्दर्यके छबीले पद संचारने कुचल दिया!' प्रसाद जीकी कवितामें और महादेवी जीकी आरंभिक रचनाओंमें यह भाव है। इसीलिये कुछ लोगोंने भावनाओंको मूर्त बनाकर उनकी क्रियाके रूपमें भावोंके चित्रणको ही 'रहस्यवाद' कह दिया। पर यह धारणा गलत है। रहस्यवाद यह शैली नहीं है। यह केवल कविके रहस्यवादी होनेकी संभावनाका संकेत करता है। जिस कविकी रचनामें इस प्रकारका सलज्ज अवगुंठन हो, भविष्यमें उसके रहस्यवादी हो जानेकी संभावना होती है क्योंकि वह अनन्तकाल तक अवगुंठनकी इस व्याकुलताको नहीं सह सकता।"

मुझे ऐसा लगा कि शुरू शुरूमें प्रसाद जीमें यह झिझक और कुंठा सकारण थी। परन्तु धीरे धीरे वह उनके जीवन की फिलासोफी बन गई। वस्तुतः यह तत्ववाद उनकी आरम्भिक रचनाओंमें भी अस्पष्ट रूपमें मिलता है लेकिन बादमें उसमें स्पष्टता और दृढ़ता आ गई है। वे मानो इस प्रकार सोचते हैं कि आवरण और अवगुंठन बुरा क्या है। विधाताने ही तो सारे संसारमें अवगुंठनका जाल बिछा रखा है। नग्न और अनावृत सत्य तो विधाताको ही अभिप्रेत नहीं है। यह आलोक और अंधकारकी आँखमिचौनी उन्होंने ही चला रखी है। संसार का अतुलनीय सौंदर्य क्षण-भंगुर होनेके कारण ही नित्य नवीन है यह क्या बंधन है? और बंधन है तो क्या बंधन सत्य नहीं है। इसी रास्ते सोचता

हुआ कवि अंतमें अपने उस महान् तत्त्व-वादको पाता है, जो पार्थिव सौंदर्यमें स्वर्गीय महिमा भर देती है, जो क्षण-भगुर कहे जानेवाले विह्वल तारुण्यमें देवत्व का सधान पाता है, जो चिरकालसे बंधन मानी जानेवाली नारीमें मुक्ति-दात्री रूपका सधान पाता है। प्रसादजीने अपने अतिम और सर्वश्रेष्ठ काव्य कामायनीमें इस मोहन तत्त्व-वादकी स्थापना की है। नाटकोंमें नारीके जिस कूट यंत्र-चालिका रूपका उन्होंने चित्रण किया था, वह इस काव्यमें इड़ाके रूपमें निखर आता है। उनके सपूर्ण साहित्यमें नारीके जो दो रूप उलझी हुई अवस्थामें प्राप्त होते हैं, वे कामायनीमें खरादपर कसे हुए मणिकी भाँति उज्ज्वल और मोहन प्रभासे मडित हो उठते हैं। पुरानी धर्म-साधनाके साहित्यसे उन्हें अपने तत्त्व-वादका समर्थन भी प्राप्त हो गया था। उनकी आरभिक कुण्ठा भावना भगवानका महान् वरदान सिद्ध हुई है।

इस प्रकार पिछले तीस वर्षोंसे प्रसाद-साहित्यके बारेमें मैं भिन्न-भिन्न ढगोंसे सोचता आ रहा हूँ, आज उनके महान् व्यक्तित्व और विशाल प्रतिभाके सम्बन्धमें मेरे मनमें कोई द्विधा नहीं है। आरंभमें जो सलज्ज भाव और कुण्ठाग्रस्त आत्माभिव्यक्ति उनकी कविताओंमें दुर्बोध्यता और अस्पष्टता ले आ देती थी, वही उनके गंभीर अध्ययन, मनन और चिंतनके द्वारा कामायनी जैसे प्रौढ काव्यके रूपमें प्रकट हुई है, जिसमें अणुओंके आवर्त नृत्यसे लेकर भवचक्रके आघूर्णन-विघूर्णन तक समूचे सृष्टि व्यापार सौंदर्यके अखण्ड स्रोतके रूपमें मूर्तिमान हो उठे हैं। पार्थिव सौंदर्यको इतनी स्वर्गीय गरिमा प्रदान करने वाले कवि बहुत थोडे हुए हैं। प्रसादकी श्रेणीका सौंदर्य प्रेमी कवि हिंदीमें तो दुर्लभ ही है।



प्रसादका काव्य



—जानकीवल्लभ शास्त्री—

जीवनकी, सम्पूर्णतामें, उपलब्धि प्रसादके काव्यकी विशेषता है। जैसे भरी गागर नहीं छलकती वैसे ही पूर्णवाणीमें उत्तेजना नहीं होती। वहाँ ईर्ष्या भक्तिमें, घृणा श्रद्धामें और क्रोध शान्तिमें परिणति प्राप्त कर लेते हैं।

यह ठीक है कि केवल अनुकूल भाव जीवनमें गति नहीं उत्पन्न करते, उसे शक्त तथा वैचित्र्य-पूर्ण नहीं बनाते हैं अतः प्रतिकूल भावोंके घात प्रतिघातके बिना काव्यमें भी गति दीप्ति तथा विविधता नहीं आती, किन्तु इसके साथही यह भी ठीक है कि इच्छा और क्रियाके द्वन्द्वको विश्राम धामपर पहुँचाए बिना शान्ति-सुधाका पान कराए बिना कवि-कर्म किसी भी प्रकार सहृदय परिणति नहीं प्राप्त कर सकता। गतिको आनन्द-काननकी हरित-श्याम छायामें विराम मिलना चाहिए, विप्लव-विक्षोभकी शक्त दीप्तिको चाँदनीकी धुली हुई तृप्ति।

आधुनिक कविता लहरोंपर तैरती है, वह 'आपूर्य्यमाण, अचल प्रतिष्ठ' समुद्रकी महिमा नहीं स्वीकार करती। परिणाम स्पष्ट है, उसकी शक्ति और सुन्दरता—दोनों वाचिक हैं; ऊपर ही ऊपर छलकती चलती हैं।

अन्तर्द्वन्दो एवं अन्तर्विरोधोका उद्घाटन काव्यका प्रमुख प्रयोजन नहीं है, उनकी अन्वितिसे प्रवाहित होनेवाले सौन्दर्य-स्रोतसे जगत्को आप्यायित करना ही कदाचित् उसका चरम ध्येय है।

हिन्दीमें अभीतक भाषाकी सरलता-क्लिष्टताको लेकर विवाद हुआ करता है, काव्यमें घृणामूलक, नकारात्मक विचार-विक्षोभको ओजस्वी बतलाया जाता है, ऐसेमें प्रसादका काव्य इससे अधिक क्या कह सकता है कि—

'तुमुल कोलाहल कलहमें मैं हृदयकी बात रे मन।'

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रसाद विषाद्, विश्राम और वैराग्यके कवि हैं, नहीं, वह तो वासना और वैराग्यके समन्वयके, जीवनकी सम्पूर्णताके

विराटके स्रष्टा हैं। आशा हो या निराशा, हर्ष हो या विषाद—जीवनकी सम्पूर्णतामें वह उसे व्यक्त करते हैं, भोग और त्यागको जीवन-सरिताके दो कूलोंकी भाँति वह पृथक्-पृथक् नहीं प्रतिष्ठापित करते, प्रत्युत प्राणोंकी ऊष्माको—मध्यदिनके तपन-तापको सन्ध्याकी नील-लोहित शीतलता में,—हिमाकार आत्माकी शान्त-सौम्य अनन्ततामें तदाकार कर देते हैं।

यह समन्वय ऐसा सहज होता है जैसे क्रम क्रमसे पथ पार करता हुआ पथी एक निश्चित लक्ष्य पर पहुँच गया हो।

अभिव्यक्तिकी विविधता कला पक्षमें भी एकरूपता नहीं आने देती। वस्तुतः समरसतामें एकरसताकी संभावना ही नहीं है क्योंकि समरसता उषा-सी प्रत्येक उदय-कालमें नवीन है। आत्माकी प्रत्येक विवृति नित्य-नूतन हुआ करती है। एकपक्षीय अतिरञ्जनाके आग्रही जन चतुरस्र मर्यादाका निष्पक्ष मूल्याङ्कन नहीं करते : उनकी दृष्टिमें प्रखर प्रवाह लक्ष्यहीन होकर भी काव्य-का सर्वस्व हो सकता है। किन्तु जीवनके व्यक्त मध्यपर उसका दर्शन केन्द्रित नहीं हो सकता जो अव्यक्त आदि और अव्यक्त अन्तका भी चिन्तक है। उसकी, अव्यक्तकी, सकेतात्मक व्यक्ति रहस्यकी आख्या ग्रहण कर लेती है जब भी उसका इष्ट जीवनका बृहत्तर या सम्पूर्ण दर्शनमात्र होता है। प्रसादका काव्य ऐसा ही है।

आँसू, लहर और कामायनी प्रसादके प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ हैं। प्राथमिक प्रयासमें उनके निश्चित भविष्य का यत्किञ्चित आभास ही मिलता है। वह सहसा उत्तम सोपान पर नहीं पहुँच गए, प्रत्येक सोपान पर उनके पदक्षेपके चिह्न देखे जा सकते हैं। इन चिह्नोंके निरखने-परखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—इन त्रिविध उपादानोंसे उनकी काव्य-सृष्टि स्वस्थ-सबल हुई, वह निरालाके समान जन्मजात महाकवि नहीं थे। 'जुहीकी कली' की भाँति काव्य-प्रतिभाकी प्रथम प्रखर प्रभा प्रसादके प्राथमिक प्रयासमें कहीं नहीं दिखती।

प्रसादका जीवन-दर्शन शास्त्रीय ज्ञानके आलोकमें ही इतना स्पष्ट और पुष्ट है। परम्पराके अनुशीलनसे उनकी (वैयक्तिक) प्रतिभा निखरी थी। सांस्कृतिक ऐश्वर्यके विविध रूपों—धर्म दर्शन, कला आदि—की गहरी अभि-ज्ञतासे उनका साहित्य शीलवान् है। प्रतिभा और परम्पराका ऐसा संयोग विरल होता है जहाँ शास्त्र पर जीवन प्रतिष्ठित होता है; धर्म पर मानवता

अमर जागरण उषा नयनसे—
बिखराती हो ज्योति घनी रे।'

—ऐसे गीतमें भी इसी अखण्डताका संकेत है। 'बीती विभावरी जाग री' की विहाग रागिनी भैरवोकी सजग चेतनामें विवर्तित होती है। इसी प्रकार करुणाकी नई अँगड़ाई और मलयानिलकी परछाई-सी चंचल लहरको वह केवल लहराने ही नहीं देना चाहते, उसे सार्थक होनेके लिए दिशा-निर्देश भी करते हैं कि लघु-लघु लोल-लहर उठ-उठकर सूखे तटपर छिटके छहरे! वह उसके उठने, मचलनेको अन्विति देकर कृतार्थ करना चाहते हैं—

तू भूल न री, पङ्कज-वनमें
जीवनके इस सूनेपनमें—
ओ प्यार पुलकसे भरी ढुलक।
आ चूम पुलिनके विरस अधर॥

प्यासे पुलिनको चूमकर लहर उसकी प्यास ही बढाती, पर यहाँ तो विरसको सरस बनानेका अनुरोध है। विरसता और नीरसता एक ही नहीं है। 'विरस' म निर्वेद, विषाद और वैराग्यका भाव है, लहर उसमें आनन्द स्पन्दित करे, यह जड़ तटस्थता तन्मयता बन जाए!

इसे पढते समय पन्त जीके 'वीचि-विलास' की सहसा स्मृति हो आती है—

अरी सलिलकी लोल हिलोर,
यह कैसा स्वर्गीय हुलास?
सरिताकी चंचल दृग कोर,
यह जगको अविदित उल्लास।
आ मेरे मृदु अंग झकोर
नयनोंको निज छविमें बोर,
मेरे उरमें भर मधु रोर।

पन्त जीकी 'वीचि' में माधुर्य्य है जिसका उत्स उनकी कोमल कल्पना है; किन्तु प्रसाद जीकी लहर गभीर है क्योंकि वह अगाध अनुभूतिसे उठी है। दोनो कविताओंके दर्शनमें भी विभेद है, 'नौका-विहार' की भाँति इस 'वीचि-विलास' में भी पन्त जीने शाश्वतिकताको अभिव्यक्त किया है और प्रसादजीने अपनी लहरमें समन्वय या सम्पूर्णताको।

उनके किसी भी गीतमें यह केन्द्रिय भाव पुनः पुनः परिलक्षित होता है। उनकी भावनाएँ, कल्पनाएँ और अनुभूतियाँ इसीके गिर्द मँडराती हैं, इसी सत्य-बिन्दुके सहारे सुनहले वृत्त बनाती हैं:—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या है धरा, सुनो,
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित—
मेरे क्षितिज उदार बनो।

पन्तजी 'सन्ध्या-तारा' के लिए कहते हैं—

वह रे अनन्तका मुक्त मीन
अपने असंग सुखमें विलीन,
स्थित निज स्वरूपमें चिर-नवीन
निष्कम्प शिखा-सा वह निरुपम
भेदता जगत जीवनका तम
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र वह सम।

अवश्य यह उपलब्धिकी वाणी नहीं है। कविने उपमा-रूपककी भाषामें स्काइलार्कके सम्बन्धमें शेलीके समान, कुछ मुक्त आध्यात्मिक कल्पनाएँ भर की हैं फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रसादके दर्शनसे पन्तका कवित्व कम मोहक नहीं है। पन्त 'सुन्दर जीवन' के शिल्पी हैं और प्रसाद 'जीवन-मङ्गल' के द्रष्टा।

उपलब्धि और अभिज्ञताकी वाणीमें अन्तर होता है। प्रसाद अभिज्ञ न थे, ऐसा कौन कहेगा? उनके काव्यमें, सांस्कृतिक आवेदनके रूपमें, दार्शनिक विश्लेषणके रूपमें अभिज्ञताकी शतशः पहचान मिलती है। किन्तु ज्ञानके रूपमें प्राप्ति एक बात है और स्वीकृतिके रूपमें उसकी उपलब्धि दूसरी। प्रसाद ज्ञानी ही नहीं तन्मय भी थे, उनकी हार्दिकता अभिज्ञताको अभिभूत कर चुकी थी। वह रुचिकी ही प्रतीति नहीं कराते किन्तु उस 'शिवम्' को वाणी देते हैं जिसका उनके साथ निविड़ सम्बन्ध था, जो उनके सन्तुलित व्यक्तित्व तथा विशुद्ध विवेकका केन्द्र-बिन्दु बन चुका था और जो उनके लिए सर्वथा चरितार्थ था। 'कामायनी' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

तर्कके द्वारा हम जिसकी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं उसके सम्बन्धमें हमारी अनुभूति नहींके बराबर होती है। वेदों और उपनिषदोंमें जो आनन्द प्रकाशित हुआ है उसका आधार प्रत्यय है, तर्क नहीं। आनन्द तर्कातीत है, इसका अर्थ यही हो सकता है कि वह शुद्ध अनुभूतिका विषय है। अनुभूति सत्तात्मक ही हो सकती है, निषेधात्मक कदापि नहीं। कामायनीकी 'श्रद्धा' आनन्दकी अनुभूतिकी आख्या है। 'श्रद्धया विन्दन्तेऽमृतम्।' 'अमृत' की अनुभूति ही श्रद्धा है।

'अविद्या' से मृत्युको पारकर 'विद्या' से अमृत्व-प्राप्तिकी बात उपनिषद् बताती है, इड़ा अविद्या है और श्रद्धा विद्या, जो आनन्दका साक्षात्कार करती कराती है।

वस्तु-विज्ञान कार्य्य-कारण-परम्परासे परे नहीं हो सकता और आत्म-ज्ञान आनन्दको प्रकाशक ठोस धरातल नहीं दे सकता, इस होड़ाहोड़ीमें, इस परस्पर निरपेक्षतामें, इस तनावमें जीवनको सम्पूर्ण रूपमें पानेका कोई उपाय नहीं रह गया है। ऐसेमें 'यस्तद्वेदोभय सह' की सभावना नहीं है। उपनिषत् कालमें जो कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्डमें समन्वय स्थापित करनेका सन्देश था, आज आत्मा और वस्तुमें, ज्ञान और विज्ञानमें प्रतिद्वन्द्विता छिड जानेपर, आवेष्टन बदल जानेपर, उसे कामायनीमें नए स्वरसे दुहराया गया है। सघर्ष पुराना है, समाधान भी। युगके परिवर्तित वातावरणने उन सघर्ष और समाधानमें नवीनता ला दी है।

आर्य्य-सस्कृतिकी परम्पराके सहृदय अनुशीलनने प्रसादकी वाणीको ऐसा मर्य्यादित कर दिया था कि भाव और भाषाकी मारकाटके इस युगमें भी वह 'समरसता' द्वारा मानवताकी विजयका मङ्गल उद्घोष कर गए। आज जब उत्तेजित, हिसक और अशान्त स्वरमें शान्ति-पाठ किया जाता है, ऐसे कर्कश शब्दोंमें शान्त रहनेके लिए अनुरोध किया जाता है जिन्हें सुनकर धीर गम्भीर व्यक्ति भी आ-पाद-मस्तक जल उठे, तब जीवनको कामना, ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे सम्पूर्ण बनानेके लिए प्रसादजी ही उद्बोधित कर सकते थे। व्याख्याके क्रममें हम चाहें तो कह सकते हैं कि समस्त वस्तु-विज्ञानसे आक्रान्त यन्त्र युगका चित्र—

श्रममय कोलाहल, पीड़ामय
विकल प्रवर्तन महायन्त्रका

क्षणभर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया-तन्त्रका ।

—के रूपमें प्रसादजीने प्रस्तुत किया है। इस यान्त्रिक यन्त्रणासे उन्मुक्तिका उपाय सुख-दुखसे उदासीनता नहीं है। क्रिया-कलापके साथ इच्छाओंका योग जुटाए बिना जीवनका रस नहीं प्रकाशित हो सकता। अतः इच्छा और क्रियाका समन्वय अभिप्रेत है। इसी प्रकार जीवन-रससे वञ्चित ज्ञानका यह दैन्यः—

अपना परिमित पात्र लिए ये
बूँद बूँदवाले निर्झरसे
माँग रहे हैं जीवनका रस
बैठ यहाँ पर अजर अमरसे।

× × ×

सामञ्जस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं

भी प्यास, पीड़ा या असन्तुलनका मेटनेमें किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है। इन तीनोंकी स्वकेन्द्रित अपूर्णता ही वर्तमान विक्षोभके लिए उत्तरदायी है।

इस समन्वय-साधनाका रहस्य कदाचित् यह है कि वर्तमान बौद्धिक विभवका पराभव निश्चित है। यह एकाङ्गी विकास मानवको विकलाङ्ग ही बनाए रहेगा। विषसे विषका शमन या दमन होता रहे, यह नियतिको इष्ट नहीं है। इस प्रकार वह अमृतको शब्द-शेष नहीं बनाना चाहती। यदि मानवताको अशेष निराशाओं और बाधाओंके बीचसे बचकर आगे बढ़ना है तो उसकी एकही दिशा हो सकती है कि जीवनको आनन्दसे वञ्चित न किया जाय। और यह आनन्द तब तक उपलब्ध न होगा जब तक हमारी एकाङ्गिता न दूर होगी। और हम इस एकाङ्गिताको भी तर्कके द्वारा नहीं दूर कर सकते, इसे आस्थाके द्वारा ही दूर कर सकते हैं। यह आस्था इच्छा, कर्म और ज्ञानके ऐक्यकी प्रेरणा भी है और परिणति भी।

कहते हैं, वर्ग-युद्ध द्वारा आर्थिक स्वातन्त्र्यकी संभावना है! किन्तु इस प्रकारका स्वातन्त्र्य 'स्वराज्य' से कितनी समता रखता है? आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करना जीवन-रस प्राप्त करना नहीं है। टाल्सटायका,

साहित्य 'स्वराज्य' का साहित्य है और 'स्टालिन-पुरस्कार-प्राप्त' आधुनिक उपन्यास यान्त्रिक स्वातन्त्र्य या आर्थिक सुविधाओंके साहित्यिक चित्र हैं। जीवन-रससे ओतप्रोत टाल्सटाय अमर रहेगा और तात्कालिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके ये चित्र क्रमशः धुँधले पड़ते जायेंगे। क्योंकि इनमें चेतनाके उन्नततर स्तरकी ओर संकेत नहीं है। यान्त्रिक समता पाकर भी मानवताका ऊर्ध्वमुख विकास सत्से सत्की ओर, ज्योतिसे ज्योतिकी ओर और अमृतसे अमृतकी ओर अग्रसर होने पर ही सम्भव है। इस राग द्वेषात्मक चेतनाके धरातलपरसे तो विश्वकी विषमताको दूर कर सकना अशक्य ही है। कामायनी मानवताको परिपूर्णताकी दृष्टि, विकासका प्रकाश और उपलब्धिकी वाणी देती है। युगकी भौतिक समस्याको कामायनीके रूपमें प्रसादजीने एक आध्यात्मिक समाधान दिया है।

× × ×

महत् साहित्यकी कसौटी सार्वभौमिकता ही हो सकती है। देश और कालके आवेष्टनके प्रति प्रतिक्रियाओंमेंसे सार्वदेशिक सार्वकालिक और तत्त्वोंका आकलन महान् कलाकार ही कर पाता है। हिन्दीमें पहले रामचरितमानसके कविने किया था फिर कामायनीके प्रसाद जीने किया। अवश्य यहाँ यह उल्लिखित होना चाहिए कि विशुद्ध कविकी कोटिमें न तुलसीदासको रखा जा सकता है और न प्रसादको। इन दोनोंने काव्यको माध्यम बनाकर भक्ति दर्शन या अध्यात्मकी ही सरस व्याख्या की है।

कालिदास और रवीन्द्रनाथ—दोनों ही जीवन रसके महाकवि हैं जब कि प्रसाद उसके बड़े व्याख्याता। दार्शनिक कविके रूपमें इनका अपना स्थान रहेगा।

कालिदास और रवीन्द्रनाथ परम्परामें आ गए हैं, प्रसाद आ रहे हैं। यदि प्रसाद कालिदासकी अमरता और रवीन्द्रनाथकी लोकप्रियता न प्राप्त कर सके तो इसका कारण कदाचित् इनका उन दोनोंसे अधिक 'मौलिक' होना ही होगा जैसी मौलिकता श्री अरविन्दमें है। कामायनी और सावित्रीकी तुलनात्मक समीक्षाके प्रसङ्गमें इस मौलिकताकी व्याख्या फिर करूँगा।

———

कामायनीका रूपकत्व



व्यक्त होते हैं और दोनो ही प्रधान होते हैं। अन्योक्तिमें प्रस्तुत अर्थ महत्त्व-हीन होता है, अप्रस्तुत अर्थका ही महत्त्व होता है। समासोक्तिमें प्रस्तुत अप्रस्तुतमें समान रूपसे अन्वित होनेवाले कार्य, लिंग और विशेषणोंसे प्रस्तुत में अप्रस्तुतका आरोप किया जाता है अर्थात् प्रस्तुत अर्थ तो प्रधान होता है पर उससे अप्रस्तुत अर्थका भी स्फुरण होता चलता है। ये सभी अलकार काव्यगत हैं। साहित्य शास्त्रमें कथानकके सम्बन्धमें इनका विचार नहीं किया गया है। आधुनिक कालमें हिन्दीमें अग्रेजीके एलोगेरीके ढगके काव्य या नाटक भी लिखे गये हैं। उनके लिये हिन्दीमें रूनक कथा, प्राचीन कथा और उपमित कथा आदि कई शब्दोंका व्यवहार किया जाता है।

रूपक-कथाके कई रूप होते हैं और अग्रेजीमें सबको एलेगोरी कहा जाता है। एलेगोरी ऐसा लम्बा या कथात्मक रूपक है जिसमें एक कथा दूसरी कथाके आवरणमें छिपाकर कही जाती है और जिसकी घटनायें प्रतीकात्मक होती हैं और पात्र भा प्रायः मानवी कृत अथवा 'टाइप' होते हैं। उसमें या तो भावों, मनोवृत्तियों, सूक्ष्म अशरीरी वस्तुओं और शक्तियोंको मानवी कृत करके कथाका पात्र बनाया जाता है या किसी भी पात्रके माध्यमसे कथा रूपमें कोई सैद्धान्तिक नैतिक या राजनीतिक बात कही जाती है। इस तरह रूपक कथाएँ इतने प्रकारका होती है.—

१—जिनमे पात्र सूक्ष्म भावनाओ या वस्तुओंके मानवीकृत रूप होते हैं, जैसे सस्कृतमे "प्रबोध-चन्द्रोदय" 'मोहराज पराजय" आदि नाटक और हिन्दीमें प्रसादका 'कामना' और एक घूट नाटक। ऐसे काव्योंमें मानवीकृत भावनाओं को व्याख्या कथाके माध्यमसे की जाती है अतः उनमें चरित्र-चित्रण, घटना-विस्तार यथार्थ जीवन व्यापारोंके वर्णनके लिये अधिक अवकाश नहीं रहता।

२—जिनमे पात्र मानवीकृत तो नहीं होते पर प्रतीकात्मक अवश्य होते हैं। उनमें घटनायें तथा वण्य वस्तुयें भी साकेतिक या प्रतीकात्मक होती हैं। इसी प्रकारकी प्रतीकात्मक कथाओंमें प्रस्तुत अर्थके साथ ही अप्रस्तुत अर्थका भी सकेत मिलता चलता है।

३—जिनमें पात्र मानवेतर जीवित प्राणी या जड़ पदार्थ होते हैं। वे पात्र मानव भापा बोलते समझते और मानवोंसे भी बातचीत करते हैं। पच-तन्त्र और इसपकी कहानियाँ तथा कवि खलील जिब्रानकी लघु कथाएँ और टालस्टायका अनेक नैतिक कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। पशुकथा (बीस्टफेबुल)

इसी प्रकारकी एलेगोरी होती है। इस प्रकारकी कथाओंका उद्देश्य कोई नैतिक पाठ पढ़ाना या धार्मिक आध्यात्मिक उपदेश देना होता है।

४—जिनमें पात्र स्वाभाविक मानव होते हैं, घटनाएँ भी यथार्थ और कभी कभी ऐतिहासिक होती हैं। पर उनका समष्टि-प्रभाव गूढ़ार्थ व्यंजक होता है। उनमें लेखक पात्रोंका ऐसा मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चरित्र चित्रण करता और ऐसी घटनाओं और परिस्थितियोंका चुनाव करता है कि पूरी कथा मानव जीवनके किसी चिरन्तन सत्यकी ओर भी संकेत करती है। यह संकेत पूरी कथाके समन्वित प्रभाव द्वारा प्रतिभासित होता है। वेबरने वाल्मीकि रामायणको इसी ढंगकी सांकेतिक कथा माना था। वैदिक और पौराणिक साहित्यमें अनेक कथाएँ ऐसी ही हैं जो समग्र प्रभाव द्वारा सांकेतिक अर्थ भी व्यक्त करती हैं।

इस तरह पाश्चात्य रूपक-कथाओंके अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं किन्तु सबमें एक सामान्य बात यह होती है कि उनमें प्रस्तुत कथाके भीतर कोई गूढ़ार्थ अवश्य निहित रहता है, चाहे वह प्रधान रूपमें हो या गौणरूपमें। रूपक अलंकार और रूपक कथामें अन्तर यह है कि एकमें प्रस्तुतमें अप्रस्तुत-का अभेद-आरोप कुछ वाक्यों तक ही सीमित रहता है पर दूसरेमें अभेद-आरोपका निर्वाह लम्बी कथामें यहाँ तक कि सूक्ष्म विवरणोंमें भी किया जाता है। वस्तुतः रूपक-कथामें मानवीकरण रूपक, अन्योक्ति, समासोक्ति और श्लेष, इन सभी अलंकारोंका योग होता है। किन्तु इन अलंकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करना रूपक कथाका उद्देश्य नहीं होता। उनका उद्देश्य बड़ा होता है जो प्रायः अप्रस्तुत कथाके रूपमें ध्वनित होता है। बिना इस गम्भीर उद्देश्यवाली अप्रस्तुत कथाके कोई रूपक कथा हो ही नहीं सकती। रूपक कथाका अप्रस्तुत या प्रतीकात्मक अर्थ व्यक्त करनेके लिये कई शैलियाँ अपनायी जाती हैं। कहीं पात्र मानवीकृत होते हैं जिससे उनके नामसे तथा उनके कार्यों और बातोंसे अप्रस्तुत कथा प्रारम्भसे ही स्पष्ट होने लगती है। ऐसी रूपक कथामें मानवीकरण अलंकारका ही प्रधान योग होता है। कुछमें पात्र मानवीकृत न होकर प्रतीकात्मक या 'टाइप' होते हैं और घटनाएँ या वस्तुएँ भी प्रतीकवत होती हैं। स्पष्ट ही इन कथाओंमें रूपकातिशयोक्ति या साध्यवसान रूपक अलंकारका अधिक योग होता है, क्योंकि उनमें अप्रस्तुत कथा ही प्रधान होती है जो प्रस्तुत कथामें अध्यवसित होती है। अन्योक्ति-प्रधान रूपक कथाकी प्रत्येक घटना, परिस्थिति और पात्रका अप्रस्तु-

तार्थ होता है और दूसरा अर्थ ही प्रधान होता है। प्रस्तुत अर्थ अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं रखता। समासोक्ति-प्रधान रूपक कथा प्रस्तुत कथा ही प्रधान होती है। पर उससे बीच-बीच और अन्तमें समष्टि-रूपमें भी अप्रस्तुत अर्थ भी स्फुरित होता चलता है। उसमें प्रत्येक घटना, पात्र या वस्तुका सांकेतिक अर्थ होना आवश्यक नहीं है। नैतिक मनोवैज्ञानिक दार्शनिक या राजनीतिक निष्कर्ष वाले रूपक कथाओंमें लक्षणा-व्यञ्जना और ध्वनिकी सहायतासे अप्रस्तुत कथा व्यञ्जित होती है। ऐसी कथाओंमें यदि लेखक स्वयं निष्कर्ष दे देता है तो उसका सौन्दर्य विकृत हो जाता है और वे उदाहरण-कथा (उपमित कथा) का रूप धारण कर लेती हैं।/

एलिगरीके उदाहरणमें अंग्रेजीके फेयरी क्वीन',' पिलग्रिम्स. प्रोग्रस' आदि, ग्रन्थों और संस्कृतके 'प्रबोध-चन्द्रोदय', 'मोहराज-पराजय' आदि नाटकोंका नाम लिया जाता है। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में मन, विवेक, श्रद्धा, काम, रति, अहंकार, दम्भ, महामोह, शान्ति, करुणा, मैत्री, विष्णु भक्ति, वैराग्य आदि अशरीरी मनोवृत्तियों का मानवीकरण किया गया है और सदसद वृत्तियोका संघर्ष दिखाकर अन्तमें सत्प्रवृत्तियोंकी विजय दिखलाई गई है। जैन-बौद्ध, चार्वाक आदि मतोंका खण्डन करके अद्वैत मूल विष्णु भक्तिकी महत्ता दिखाना ही कविका उद्देश्य है। 'मोहराज-पराजय' नाटक, 'पुरजन नाटक'में भी इसी तरह मानवीकरण द्वारा मानसिक वृत्तियोंके संघर्ष और विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तोंका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इन रूपक कथात्मक नाटकोंमें यथार्थ जीवनका चित्रण नहीं हुआ और न अप्रस्तुत कथा ही अधिक छिपाकर कही गई है। हिन्दीमें आधुनिक युगमें प्रसाद जीने इसी शैलीमें कामना-नामक नाटक लिखा है। उसमें भी संतोष, विवेक, विनोद, विलास, दम्भ, कामना, लीला, लालसा करुणा आदि मानवीकृत पात्र हैं। प्रस्तुत कथाके माध्यमसे अन्योक्ति पद्धति द्वारा ईश्वर पुत्र पवित्र मानवके अधिकार आदिके प्रलोभनमें पड़कर पाप और दुखके गर्तमें गिरनेकी कथा कही गई है। 'कामना' का उद्देश्य मानवको प्राकृतिक जीवन बिताने और राजहीन समाज-व्यवस्था स्थापित करनेकी ओर प्रवृत्त करना है।

अंग्रेजीमें स्पेन्सरका 'फेयरी क्वीन' नामक रोमांचक महाकाव्य रूपक कथाकी ही शैलीमें लिखा गया है। उसमें अप्रस्तुत-प्रस्तुतका अभेदत्व आद्यन्त दिखाई पड़ता है। उसका उद्देश्य सर्वत्र उभरा हुआ है, यद्यपि अंतिम भागमें रोमांचकता अधिक होनेसे समासोक्ति तथा सोद्देश्यताका निर्वाह नहीं हो पाया

है। 'फेयरी क्वीन' की प्रस्तुत कथा उतनी महत्वकी नहीं है जितनी अप्रस्तुत कथा। यह अप्रस्तुत कथा राजनीतिक और नैतिक-दोनों प्रकारकी है। उदाहरणके लिये उसका प्रधान पात्र राजा आर्थर ईश्वरीय कृपाका प्रतीक है और साथ ही वह एलिजाबेथके प्रिय दरबारी लाइसेस्टरका भी, प्रतिनिधित्व करता है। यही बात उनके अन्य पात्रोंपर भी लागू होती है। इस तरह 'फेयरी क्वीन' में समासोक्ति पद्धति अपनाई गई है।

सत्रहवीं शताब्दीमें अंग्रेजोंमें मनोवैज्ञानिक और आदर्शवादी रूपक कथाओंकी रचना होने लगी। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण जान बनियनके दो रूपकात्मक उपन्यास ग्रेस एबाउण्डिग, और पिलग्रिम्स प्राग्रेस, हैं। दोनों उपन्यासोंमें प्रस्तुत कथाके माध्यमसे बनियनने दिखाया है कि मानवकी आत्मा विविध मानसिक संघर्षोंमें जूझती हुई किस तरह ईश्वर और शैतानमें चुनाव करके आध्यात्मिक पथपर अग्रसर होती है। यह दोनों ही रहस्यवादी उपन्यास हैं। पर उनमें मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओंका यथार्थ चित्रण हुआ है। लेखककी सच्ची अनुभूति उनमें सर्वत्र झलकती हुई दिखाई पड़ती है। उनमें प्रस्तुत कथासे अप्रस्तुत कथा अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः उन्हे अन्योक्ति-मूलक रूपक-कथा माना जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें रावर्टलुई स्टीवेन्सनने 'डा० जैकिल एन्ड मिस्टर हाइड', नामक उपन्यास लिखा। इसमें उपचेतनमनकी समस्या है। कुछ कलामियोंका कहना है कि यह उपन्यास मूलतः जान बनियनकी शैलीमें लिखी गयी रूपक-कथा है। अन्तर यही है कि उसमें आधुनिक मनोविज्ञानके कारण प्राचीन सुधारवादी नैतिकता (प्युरिटन एथिक्स) की जगह नवीन और व्यापक नैतिकताकी प्रतिष्ठा हुई है और तत्कालीन प्रतीकात्मक पद्धतिका सहारा लेकर कलात्मक ढंगसे मानवके दुहरे व्यक्तित्वकी व्याख्या कथाके माध्यमसे की गई है।

उपर्युक्त विवेचनके प्रकाशमें कामायनीके काव्य-कौशलकी परीक्षा करनेपर ज्ञात होता है कि प्रसादजीने उसमें प्रबोध-चन्द्रोदय वाली प्राचीन भारतीय रूपककथाकी शैली नहीं अपनाई है। अंग्रेजोंमें बीसवीं शताब्दी तक रूपक कथाकी शैलीमें जो विकास हुआ तथा वैदिक और पौराणिक-साहित्यमें जो रूपकपद्धति अपनायी गई है, कामायनीमें उन दोनोंका समन्वित रूप दिखाई पड़ता है। अतः आदि अलङ्कारोंके आधारपर नहीं की जा सकती। ऊपर जिन चार प्रकारकी रूपक-कथाओंकी चर्चा की गई है, कामायनीमें उनमेंसे चौथे प्रकारका रूपकत्व दिखाई पड़ता है। पात्र स्वाभाविक

और यथार्थ मानव है। प्रसादजीके अनुसार उसकी घटनायें भी ऐतिहासिक हैं। उसके पात्र मानवीकृत प्रतीत होते हैं, पर वे 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पात्रोंकी भाँति अयथार्थ और मनकी सूक्ष्म प्रवृत्तियोंके मूर्त पुतले नहीं हैं। वे रक्त, मासके बने मानवी चेतना और निजी व्यक्तित्वसे युक्त चरित्र हैं। पद्मावतकी तरह उसमें बीच-बीच प्रतीकात्मक ढगसे अप्रस्तुत अर्थकी ओर सकेत भी नहीं किया गया है और उसके पात्रही फेयरी क्वीनके पात्रोंकी तरह प्रतीकात्मक हैं। प्रस्तुत कथाके भीतर जो प्रतीकात्मक पात्र होते हैं वे अपने आपमें तो महत्त्वहीन और व्यक्तित्व रहित होते हैं पर उनका अप्रस्तुत अर्थ या प्रतीकार्थ बहुत महत्त्वका होता है। कामायनीके पात्रोंका उनसे भिन्न कोइ अन्य अर्थ नहीं है, फिर भी उसमें पिलग्रिम्स प्राग्रेसकी तरह मानवमनकी आध्यात्मिक यात्रा और उसमें उपस्थित होनेवाली बाधाओंकी ओर सकेत किया गया है। साथ ही उसमें स्टीवेंसनके 'डा० जैकिल और मिस्टर हाइड' की तरह मनुका दुहरा व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है। एक व्यक्तित्व किलात, आकुलि और इडासे प्रभावित है और दूसरा श्रद्धासे। अन्तमें दूसरा व्यक्तित्व ही स्थायित्व ग्रहण करता है।

इस बातको स्पष्ट करनेके लिये प्रसादजीके उपर्युक्त कथनकी व्याख्या करनी होगी जिसमें उन्होंने कामायनीके रूपकत्वकी ओर सकेत किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कामायनीकी कथा और उसके पात्र मूलतः ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकी प्रधानताके कारण कोरा रूपकात्मक काव्य लिखना प्रसादका उद्देश्य नहीं था। कामायनी-कथाके मूल स्रोतोंपर विचार करनेपर देखा जा सकता है कि उसके सभी पात्र और सभी प्रमुख घटनायें ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ऐतिहासिक तथ्योंमें रूपकका मिश्रण पसन्द नहीं करते और इसलिये प्राचीन पौराणिक आख्यानोंकी रूपकात्मक व्याख्या करनेवाले नैरुक्तको आधुनिक आर्यसमाजियों और प्राचीन भारतीय इतिहासको गप्प या माइथालोजी कहनेवाले पाश्चात्य विद्वानोंको उन्होंने एकही श्रेणीमें रखा है। अतः कामायनीकी प्रस्तुत कथाको महत्त्वहीन बनाकर उसके अप्रस्तुत अर्थका ही प्रधान बनाना प्रसादजीका लक्ष्य नहीं हो सकता था। वे ऐतिहासिक कथानक द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृतिकी उच्चतम उपलब्धियोंकी कहानी सीधी-सीधी कहना चाहते थे।

किन्तु प्रसादजीने साथ ही यह भी कहदिया है कि यदि कामायनी-कथामें किसीको साकेतिक अर्थ भी दिखाई पडे तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं

होगी। इससे स्पष्ट है कि वे कामायनीमें रूपकत्वको उतना स्वीकार करते हैं पर उनका विशेष रुख उसकी प्रस्तुत कथा पर ही है अर्थात् प्रसादजीके अनुसार कामायनीमें प्रस्तुत कथा प्रधान तथा अप्रस्तुत कथा गौण है। कामायनीकी कथाका अध्ययन करनेसे भी यही बात प्रमाणित होती है। उसकी प्रस्तुत कथामें अप्रस्तुत अर्थ प्रकट करनेके लिये कविने अपनी ओरसे अधिक प्रयत्न नहीं किया है क्योंकि उसमें प्राचीन कालसे ही रूपकत्व भर दिया गया था। कविने इतना ही किया है कि उसके ऐतिहासिक स्वरूप को उद्घाटित करते हुए गौण रूपमें उसकी प्राचीन रूपकात्मक स्वरूपको भी स्वीकार कर लिया है क्योंकि उस प्राचीन आख्यानमें निहित इतिहासमें रूपकत्व भी अद्भुत मिश्रित हो गया है और प्रसादजी उसके परम्परागत रूपकत्वके स्वीकार करनेका मोह नहीं छोड़ सके हैं। प्राचीन गाथाओंमें इतिहास तथा रूपकका सम्मिश्रण इसलिये हुआ कि प्राचीन वैदिक कालीन व्यक्तियों और घटनाओंको परवर्ती युगोंमें तत्कालीन परिस्थितियों और बदलते हुए विश्वासोंके अनुरूप मोड़नेके लिए उनका नवीनीकरण किया गया और कालान्तरमें उनकी नयी व्याख्या की गयी। उदाहरणार्थ ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणोंमें प्रजापति द्वारा अपनी कन्या इड़ाके साथ बलात्कार करनेकी प्राचीन कथाको ऐतिहासिक सत्य रूपमें स्वीकार करते हुए भी रूपक संकेतकर दिया गया है, यथा "प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरं अभ्यध्यायत्, दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये।" अर्थात् प्रजापतिने दुहितागमन किया, उस दुहिता को कोई दिवा कहता है, कोई उषा। इसके आगे फिर इस आख्यान में इस रूपककी कोई बात नहीं आयी है। मीमांसावादियोंने इसकी व्याख्या यों की गई है कि प्रजापत्यके अधिकारसे आदित्य ही प्रजापति कहे जाते हैं; उसके आगमनसे उषा उत्पन्न होती है अतः उषा उसकी दुहिता हुई। आदित्य उसी उषाके साथ संयोग करता हुआ अपना किरणोंका बीज निक्षेप करता है। शतपथमें ही मन और वाक्का विवाद दिखाया गया है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। प्रसाद जीने उसे भी मनु और इड़ाके ऐतिहासिक संघर्षका रूपकात्मक या सांकेतिक वर्णन मानकर ही इस कथा को कामायनी-कथामें समाविष्ट किया है। इस प्रकार कामायनीमें अधिकांश वर्णन ऐतिहासिक है या ऐतिहासिक सत्यके रूपमें उपस्थित की गयी है, सांकेतिक रूपमें नहीं।

फिर भी इसे सर्वथा सांकेतिक कथाके रूपक तत्त्व को बिल्कुल निकाल बाहर करना अत्यन्त कठिन कार्य था। वैदिक साहित्यमें मनु और श्रद्धा ऋषि

हैं और शतपथमें मनुको श्रद्धादेव कहा गया है जिसका श्रद्धालु और श्रद्धा का पति दोनों अर्थ हो सकता है। भागवतमें श्रद्धा मनुकी पत्नी है और उससे दस पुत्र उत्पन्न होते हैं। उपनिषदमें मनन मति, श्रद्धा और निष्ठा द्वारा विज्ञान (सत्य) को जानने की बात कही गयी है जिसे प्रसाद जीने कामायनीकी भूमिकामें मनु और श्रद्धाकी भाव मूलक व्याख्या कहा है। इस प्रकार वैदिक साहित्यमें मनु, श्रद्धा और इड़ा सबधी जो बात मिलती है उनकी ऐतिहासिक और भाव मूलक या मनोवैज्ञानिक (दार्शनिक) दोनों ही व्याख्याएँ हो सकती हैं। अत. प्रसाद जोने कामायनीके पात्रोंको यद्यपि प्रधानतया ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रदान किया है पर उनमें रूपकत्वकी भी प्रतिष्ठा स्वयमेव हो गयी है। इसीलिये कामायनीकी भूमिकामें प्रसाद जीने लिखा है कि यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मननके सहयोगसे मानवताका विकास रूपक है तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास बननेमें समथ हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि कामायनीकी कथामें ऐतिहासिक सत्यका आधार तो लिया ही गया है, उसमें मनुष्यका मनोवैज्ञानिक इतिहास भी उद्‌घाटित किया गया है।

मनु इड़ा-श्रद्धा सबधी प्राचीन आख्यानोंमें जो रूपक तत्व निहित है उसीके सहारे कामायनीमें प्रस्तुत कथाके आवरणमें मानवके समाज शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विकासकी कथा प्रस्तुत की गयी है और यह रूपक योजना प्रसाद जीकी अपनी कल्पनाकी उपज और उनकी मौलिक देन है। जल प्लावनके बाद मनुने श्रद्धा और इड़ासे मिलकर नवीन मानव सृष्टिका विकास किया यह तो ऐतिहासिक कथा हुई जो कामायनीकी प्रस्तुत कथा है। शतपथ ब्राह्मणमें मनु और इड़ाको मन और वाकके रूपमें भी उपस्थित किया गया है और छान्दोग्यमें कहा गया है कि जो मनन करता है वह विज्ञानको जानता है, मतिसे जानता है क्योंकि विज्ञान कारिणी है, किंतु साथ ही श्रद्धा भी निष्ठा द्वारा उत्पन्न होती है और निष्ठाका उत्पत्ति-हेतु कृति (इन्द्रिय सयम चित्त एकाग्रता आदि) है। इस तरह कृति, निष्ठा श्रद्धा और मति इन चारों वृत्तियों को साधन बनाकर चारोंके विकास और समन्वयसे विज्ञानको जाना जा सकता है। प्रसादने मनुकी कथामें इसी दार्शनिक पद्धतिका अध्ययन किया है। यह तो स्पष्ट है कि छान्दोग्य उपनिषदमें मनन, मति, श्रद्धा, निष्ठा और कृतिका जो आध्यात्मिक विवेचन किया गया है वह रूपक नहीं है और न मनु इड़ा और श्रद्धाकी ऐतिहासिक कथासे उसका सबध है। यह सबध प्रसाद जीने अपनी ओरसे जोड़ा है। परिणाम स्वरूप कामायनीमें रूपकत्व

संबंधी ऐसी विशेषता आ गयी है जो भारतीय या पाश्चात्य किसी रूपक कथामें नहीं मिलती। वह यह है कि उसके तीन प्रधान पात्र मनु, इड़ा, श्रद्धा ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं और साथ ही मन, इड़ा और श्रद्धाके मानवी कृत रूप भी हैं। १

इस प्रकार कामायनीकी प्रस्तुत कथामें मानव-सृष्टिके विकासके साथ उसके नायक द्वारा चरम शान्ति और परमानदकी प्राप्ति दिखायी गयी है और अप्रस्तुत कथा भी जीवके अन्नमय कोशसे आनन्दमय कोश तक आध्यात्मिक यात्रा, मानसिक संघर्ष और इच्छा, ज्ञान, क्रियाके समन्वय द्वारा अखण्ड आनंदकी प्राप्तिमें ही पर्यवसित हुई है। निष्कर्ष यह कि मनुकी कथामें मनकी कथा इस तरह पिरोई गयी है कि दोनों कथाएँ अभिन्नसी हो गयी हैं। कारण यह है कि मनुष्यकी कथा मनकी कथा ही होती है। आधुनिक युगमें वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ज्ञानके विस्तारके साथ कथा साहित्यमें जिस तरह मानसिक उलझनों, संघर्षों और क्रिया-प्रतिक्रियाओंकी अभिव्यक्ति प्रधान हो उठी है और स्थूल घटनावलीका वर्णन बहुत कम होता है, उसी तरह कामायनीमें भी मनोवैज्ञानिक सत्योंका मनुकी कथाके माध्यमसे काव्यात्मक रूपमें उद्घाटन और विवेचन किया गया है। फलस्वरूप उसके रूपक तत्त्व बहुत गौण हैं क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत कथामें बहुत कम भेद रह गया है। बिना भेदके प्रस्तुतमें अप्रस्तुतका आरोप नहीं हो सकता। इसी बातको ध्यानमें रखकर श्री नन्ददुलारे वाजपेयीने लिखा है कि "प्रसादने मानव-वृत्तियोंका निरूपण करनेवाले अपने काव्यमें एक दार्शनिकताका आभास अवश्य दिया है पर वह दार्शनिकता काव्यका अंग बनकर आयी है और उसकी प्रकृत भावना-भूमिपर ही अधिष्ठित है। वह काव्यके वस्तुवर्णन और उसके भावात्मक स्वरूपको किसी प्रकार ठेस नहीं पहुँचाती। इस प्रकार हम देखते हैं कि कामायनीका काव्य अन्योक्ति तो है ही नहीं, उसे समासोक्ति भी नहीं कहा जा सकता। उसमें एक दार्शनिक अंतर्धारा मिलती है, परंतु वह काव्यकी स्वाभाविक भावधारासे अभिन्न और तद्रूप होकर आयी है।"

यह तो ठीक है कि कामायनीके मनु, श्रद्धा और इड़ा मन, तर्क या व्यवहार-बुद्धि और आस्तिक्य-बुद्धिके मानवीकृत रूप हैं पर उसके अन्य पात्र आकुलि, किलात, कुमार न तो मानवीकृत हैं न उसके सांकेतिक अर्थ हैं। घटनाएँ भी कभी प्रतीकात्मक या सांकेतिक नहीं हैं। जल-प्लावन वर्णन, देव सृष्टि वर्णन, मनुका काम यज्ञ, सारस्वत प्रदेशकी शासन-व्यवस्था आदि

का कोई अप्रस्तुतार्थ नहीं है। काम और लज्जा मानवीकृत पात्र पात्री नहीं बल्कि मनके भीतरकी वृत्तियाँ हैं जिनकी छाया प्रतिमा (हैलुसिनेशन) का दर्शन क्रमशः मनु और श्रद्धाको होता है और अपने मनके भीतरका ही स्वर उन्हें सुनाई पड़ता है। मानसरोवर रहस्यवादी सम्प्रदायमें योगके ब्रह्मरन्ध्र या शिवलोकका प्रतीक अवश्य है पर कामायनीमें उसका वर्णन प्रतीक रूपमें नहीं हुआ है। वह स्वयं सिद्धिपीठ है और प्रस्तुत रूपमें ही उसका वर्णन हुआ है। त्रिलोक (तीन गोलक) के वर्णनमें भी सांकेतिकता नहीं रह जाती क्योंकि श्रद्धा उनका अर्थ समझा देती है। इस प्रकार कामायनीमें प्रतीकात्मक या सांकेतिक पद्धति बहुत कम अपनाई गयी है। केवल रहस्य सर्ग ऐसा है जिसमें सांकेतिक पद्धति दिखाई पड़ती है। उसमें कैलासकी यात्रा साधककी आध्यात्मिकता साधना-यात्राकी ओर संकेत करती है। पर वहाँ भी वर्णन समासोक्तिमूलक ही है अन्योक्तिमूलक नहीं। इस सर्गमें कविने योग साधनाके मार्गके व्यवधान, मधुमती भूमिका और आनन्दमय कोशकी आनन्दावस्थाकी ओर कैलास-यात्राके वर्णनके माध्यमसे संकेत किया गया है।

वस्तुत. सच्ची रूपक कथा तो वही होती है जिसमें प्रस्तुतार्थ बिलकुल महत्त्वहीन हो और अन्योक्तिके सहारे अप्रस्तुत अर्थको प्रधानता दी गयी हो। कामायनीमें यह बात नहीं दिखाई पड़ती। समासोक्ति और प्रतीक पद्धति द्वारा भी उसमें गौणरूपमें ही सही रूपकत्व और वह भी दुहरा है अर्थात् उसमें प्रस्तुत कथाके भीतर ही अन्तः सलिलाकी धाराकी तरह दो अन्य कथाएँ भी छिपी हुई हैं। पर इन दोनों प्रस्तुत कथाओंका ज्ञान पाठकको पूरे काव्य-के निष्कर्ष रूपमें होता है। पूरा काव्य पढ लेनेके बाद पाठकको यह प्रतीत होता है कि यह तो मनुकी ही कथा नहीं है बल्कि मानव मनकी संकल्पात्मक विकल्पत्माक वृत्तियोंके संघर्ष और उसकी परिशान्तिकी कथा भी है और इतना ही नही, उसमें मानव संस्कृतिके विकासका इतिहास भी संक्षेप और परोक्ष रूपमें कहा गया है।

इस तरह कामायनी कथामें व्यंजना-शक्ति द्वारा जो दो अन्य अप्रस्तुत कथायें ध्वनित होती हैं वे ये हैं—

१—जीव के अन्नमय कोशसे आनन्दमय कोशतक पहुँचनेकी कथा।

२—मानवके सामाजिक और सांस्कृतिक विकासकी कथा।

पहली अप्रस्तुत कथामे यह बात दिखाई गई है कि जीव अन्नमय कोशमें स्थित रहकर, चिन्ता, आशा, काम, वासना, ईर्ष्या और कर्म आदिमें आसक्त होता है। भारतीय दर्शनमें अन्नमय आदि कोशोका विभाजन इस प्रकार किया गया है:—

स्थान	कोश	उपाधि
१ स्थूल शरीर	अन्नमय कोश }	स्थूलोपाधि
२ प्राण	प्राणमय कोश }	
३ मन (इच्छा)	मनोमय कोश }	सूक्ष्मोपाधि
४ मन (विज्ञान)	विज्ञानमय कोश }	
५ बुद्धि	आनन्दमय कोश	कारणोपाधि
६ आत्मा	आत्मा	आत्मा

तैत्तिरीयोपनिषदके अनुसार शरीरमें अन्नमय कोश निवास करता है। अन्नसे ही प्रजाकी उत्पत्ति होती है। अतः जो अन्न ब्रह्मकी उपासना करते हैं वे भौतिक दृष्टिसे संपन्न बनते हैं। कामायनीमें प्रजापति मनु प्रारम्भमें अन्नमय कोशमे स्थित जीवके रूपमे हैं और कामयज्ञ करते, प्रजाकी उत्पत्ति और विकास करते और भौतिक सुख और अधिकारके लिये संघर्ष करते हैं। वे अपने प्रयत्नोमें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त करते हैं। मनुष्य केवल अन्नमय कोशसे ही जीवित नहीं है, बल्कि उसके भीतर निहित सम्पूर्ण पिण्डमें व्याप्त प्राणमय कोशसे आत्मवान है। इसी तरह प्राणमय कोशके भीतर मनोमय कोश, उसके भीतर विज्ञानमय कोश और विज्ञानमय कोशके भीतर आनन्दमय स्थित है। इसी अन्तिम कोशमें आत्मा निवास करती है। मनुकी जीवन कथामें जीवके अन्नमय कोशसे आनन्दमय कोशतक पहुँचनेका विकास क्रम दिखाई पड़ता है। इडा मनुको मनोमय और विज्ञानमय कोशतक ही सीमित रखती और उनसे बुद्धि संगत न्याय्यकर्म कराना चाहती है। पर मनुमें जब अन्नमय कोश प्रबल होता है तब वे इड़ा पर भी अधिकार करना चाहते हैं। अन्तमें श्रद्धा या आस्तिक्य बुद्धि जीवको अन्नमय कोशसे क्रमशः आनन्दमय कोशमे ले जाकर आत्मस्थ करनेका प्रयत्न करती और सफल होती है। आनन्दमय कोशमें पहुँचनेपर इच्छा, ज्ञान और क्रियाके बीचकी दूरी मिट जाती है, तीनोंमें अभेद हो जाता है। यही सामरस्यकी अवस्था है।

इस प्रकार कामायनीके प्रजापति मनु प्रारम्भमें अन्नमय कोशमें स्थित मन है और संकल्प-विकल्प उसकी प्रजा है। अन्तमें वे मध्यवर्ती कोशोंको

पार कर आनन्दमय कोशमें पहुँचकर आत्मलीन होते और आनन्द स्वरूप शिवत्वकी प्राप्ति करते हैं।

कामायनीकी दूसरी अप्रस्तुत कथामें मनु यथार्थ मानव या समूची मानव जातिके मूर्त्त रूप हैं। देव सृष्टिके ध्वसावशेषपर नवीन मानवीय सस्कृति और नई समाजव्यवस्थाके प्रवर्तनका उत्तरदायित्व उनपर है। यथार्थ मानवकी तरह वे गलतियाँ करते, फिर उन्हें सुधारते और इस तरह अन्धकार लोकसे प्रकाश लोकमें पहुँचते हैं। एक युगके स्थूल ऐश्वर्य और भौतिक सुख-साधनोंकी समाप्ति हो गई है पर उसके विचार और सस्कार मनुमें हैं। अतः वे अतीतकी भूलोंके प्रकाशमें नवीन युगकी स्थापनाके लिये चिंतन करते हैं। आशा बँधती है और तभी सहायताके लिये श्रद्धा मिल जाती है।

आदिम मानव समाज सहज श्रद्धालु था और मृगया, अन्नसग्रह, गुफा-वास उसका जीवन-साधन था, वह काम-क्षुधा आदि सहजात वृत्तियोंकी प्रेरणासे कार्य करता था, यह बात कर्म, काम, वासना, कर्म और ईर्ष्या सर्गोंमें बहुत उचित दिखाई गई है। यह देव जातिकी भौतिक उन्नतिसे ऊबे हुये मनु और श्रद्धाके प्राकृतिक और सरल जीवन बिताने वाले, रूसो, वाल्टेयर, टालस्टाय और गाधीके प्रकृतिवादका प्रभाव व्यक्त करता है। पर यथार्थ मानवकी भाँति मनु इस एक रस अपरिवर्तनीय और स्वादहीन जीवनसे ऊबकर कामयज्ञ हिंसा ईर्ष्या आदिमें लीन होते और श्रद्धाका त्याग करते हैं अर्थात् वे आदिम मानव जीवनकी निष्पापता और सहजतासे ऊबकर हलचल और कर्म-कोलाहलमय जीवनकी कामना करते हैं। सारस्वत प्रदेश बुद्धिके देशमें इड़ासे भेंट होती है, अर्थात् उनकी अपनी ही बुद्धि प्रजाको सगठित करने, वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सहायतासे औद्योगिक उन्नति करने, कानून बनाने और वर्ग विभाजनकी प्रेरणा देती है।

यह सब होता है पर परिणाम-स्वरूप अहकार और निरंकुशताकी भावना भी सहज ही उदित होती है जो आजकल लोकतन्त्रके भीतर भी तानाशाही, डिक्टेटरशिपके रूपमें दिखाई पड़ती है। उसकी सहज परिणति सघर्ष और युद्धमें होती है। बुद्धिका अतिशय विकास मानवके नाशका कारण बनता है। यह बात स्वप्न और सघर्ष सर्गोंमें है। इस विनाशको रोकनेका एक यही रास्ता है कि मानवका एकागी विकास—श्रद्धाहीन बौद्धिक विकास रोका जाय और बौद्धिकता और आध्यात्मिकता तर्कबुद्धि और आस्ति बुद्धिका समन्वय हो।

कामायनीमें संघर्षमें टूटे हुये मनु-मानवको श्रद्धा—आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग बताती है और अपने पुत्र कुमारको जो उसीका प्रतिरूप या प्रतिनिधि है, इड़ाके पास उससे मिलकर सारस्वत प्रदेशमें श्रद्धा और बुद्धिके समन्वयपर आधारित नवीन समाज-व्यवस्था स्थापित करनेके लिये छोड़ जाती है। इस प्रकार बौद्धिकता और आध्यात्मिकता विकल्पात्मक अनुभूति और संकल्पात्मक अनुभूतिके समन्वयसे अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रियाके समन्वयसे ही स्थायी शान्ति और सर्वांगपूर्ण संस्कृतिकी प्रतिष्ठा हो सकती है। यही प्रसाद जीका जीवन-संदेश है। मानवका विकास अभी बौद्धिक और भौतिक क्षेत्रमें ही हुआ है, आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह आज शून्य है, प्रसादने मानव जातिके विकासके इस अगले कदमकी ओर भी संकेत कर दिया है।



महाकाव्य 'कामायनी'-का सन्देश



—लक्ष्मीशङ्कर व्यास—

'कामायनी' महाकवि' 'प्रसाद' की श्रेष्ठतम और हिन्दी जगत्‌की अनुपम काव्यकृति है। वस्तुतः गोस्वामी जीके 'राम चरित-मानस'के पश्चात् यही एक ऐसा महाकाव्य है, जिसे हम विश्व साहित्यके समक्ष सगर्व रख सकते हैं। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्लके शब्दोंमें 'कामायनी'में नर-जीवनके विकासमें भिन्न-भिन्न भावात्मिका वृत्तियोंका योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना द्वारा चित्रित करके मानवताका रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रभाषा हिन्दीमें मानवताका यह रसात्मक इतिहास वस्तुतः हमारे ऋषियोंके सुदीर्घ चिन्तन एवं जीवन-दर्शनका महाकाव्य है।

'कामायनी'का प्रतिपाद्य

'कामायनी' विश्वकल्याण तथा लोक मंगलकी भावनाओंसे आपूरित है। मनु, श्रद्धा और इड़ा इसके प्रमुख पात्रत्रय हैं। श्रद्धा और इड़ाका चरित्र मनु (मन) के हृदय पक्ष तथा बुद्धि पक्षसे साम्य रखता है। श्रद्धा मन (मनु) की रागात्मिका वृत्ति है, तो इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि। मनुपर सर्वप्रथम श्रद्धाका और तत्पश्चात् इड़ाका प्रभाव पड़ता है। श्रद्धायुक्त मनु शान्ति सन्तोष एवं सुखके सहित जीवन यापन करते हैं। श्रद्धा हीन होकर वे इड़ाके सम्पर्कमें आते हैं और उसे ही अपना जीवन-सर्वस्व समझ अपना अबाध अधिकार जमाना चाहते हैं। केवल बुद्धिवादका ग्रहण तथा हृदयकी वृत्तियोंका त्याग करनेसे मानव जीवन हलचल एवं विषमतासे ही शापित-तापित रहेगा। अखण्ड आनन्द-सागरकी लहरियोंमें उल्लसित एवं आनन्दित होनेके लिए श्रद्धायुत होना परमावश्यक है। यही कामायनीका प्रतिपाद्य है।

श्रद्धाका सन्देश

श्रद्धा या कामायनीके कार्य एवं कथन ही मुख्यतः कविके लोकमंगलकी भावनाके सिद्धान्त एवं सन्देश हैं। श्रद्धाकी वरदानमयी वाणीके ही अनुगमन

द्वारा अन्तमें आनन्दकी प्राप्ति सम्भव होती है। जलप्लावनके पश्चात् मनु विलासमय विगत दिवसोंका स्मरण कर सुख-दुःखकी धारामें प्रवाहित होते हैं। अतीत वर्तमान बनकर उनके नेत्रोंके सम्मुख नृत्य करने लगता है। अपनी वर्तमान स्थितिको लक्ष्य कर वे कहते हैं:—

'आज अमरताका जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ।'

हिमगिरिकी शान्त एकान्त कन्दरामें निवास करते हुए एकाकी मनु चिन्तामग्न हो आशा निराशाके द्वन्द्वसे पीड़ित हैं। उस समय इस पुरातन पुरुषको नवीन सृष्टिकी स्थापना एवं उसके विकासका मार्ग निर्देश, जीवन दर्शनमें सुख-दुःखका रहस्योद्घाटन, जीवनकी समरसता एवं सामंजस्यका प्रचार-प्रसार करनेवाली श्रद्धा ही है।

संसारमें सुख-दुःखका रहस्य समझाती हुई वह मनुसे कहती है कि दुःखके आवरणमें ही सुख अन्तर्निहित रहता है:—

दुःखकी पिछली रजनी बीच,
विकसता सुखका नवल प्रभात।

कभी कभी दुःख दारिद्र्यसे पीड़ित एवं शोक-संतप्त मानव, समस्त संसारकी विभूतियोंको तथा मनुष्य जीवनको अभिशाप समझकर नाना प्रकारके क्लेशों-कष्टोंकी स्वयं सृष्टि कर उनसे शापित-तापित होता है। इसी स्थितिमें मनु भी थे। अतः श्रद्धा उनसे कहती है:—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगतकी ज्वालाओंका मूल।
ईशका वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।

इस प्रकार मानवीय जीवनमें सुख-दुःखके रहस्यका स्पष्टीकरण करती हुई तथा जीवनमें उनकी आवश्यकता एवं अनुपेक्षणीयताका महत्त्व समझाती हुई श्रद्धा, मनुके सम्मुख जीवन दर्शनका सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप उपस्थित करती है।

मानवताका प्रसाद

वस्तुतः मनुको मानवताके प्रसादकी प्रेरणा श्रद्धा द्वारा ही प्राप्त होती है। एकाकी मनुको विश्व कर्म क्षेत्रमें अवतीर्ण और अग्रसर करानेका सम्पूर्ण श्रेय श्रद्धाको ही है। वह मनुसे कहती है:—

बनो संसृतिके मूल रहस्य,
तुम्हीसे फैलेगी यह बेल,
विश्व भर सौरभसे भर जाय,
सुमनके खेलो सुन्दर खेल।

संसारकी छिन्न-भिन्न प्रभूत विभूतियोंके संघटन एवं समन्वय द्वारा मानवताकी सुख-सुविधा तथा सफलताका आदेश भी वही मनुको देती है:—

शक्तिके विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय।

मनु जब असुरोंके चक्रमें आकर हिंसापूर्ण यज्ञ-कर्ममें निरत रहकर सोम सुधाके पानमें मग्न रहते हैं तब उनकी सहयोगिनी श्रद्धा अत्यन्त दुखित होती है। उसे उदासीन देखकर मनु श्रद्धाको मनाने आते हैं तो वह पशु-हिंसाका घोर विरोध करती हुई कहती है:—

ये प्राणी जो बचे हुए हैं,
इस अचला जगतीके।
उनके कुछ अधिकार नहीं,
क्या वे सब ही हैं फीके।

केवल इतना ही नहीं, व्यंगपूर्ण शब्दोंमें वह मनुसे पूछती है—

मनु क्या यही तुम्हारी होगी,
उज्ज्वल नव मानवता ?

पशुओंके लालन-पालन तथा जीवन-रक्षणके द्वारा ही मानवताकी सर्वांगीण समुन्नति सम्भव है। मनुष्य जीवनका साफल्य इसीमें है कि वह अपनेसे इतर प्राणियोंका भी हित चिन्तन करता रहे। इसका प्रतिपादन श्रद्धा इस प्रकार करती है.—

वे द्रोह न करनेके स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु,
पशुसे यदि हम कुछ ऊंचे हैं,
तो भवजल निधिमें बने सेतु।

विश्व बन्धुत्वकी कामना

मनु देवसृष्टिके पुरुष थे। ऐश्वर्य और विनाशकी एकान्त साधना ही उन्हे सुखप्रद और श्रेयस्कर प्रतीत होती थी। ससारकी समस्त विभूतिया उनके विलास-वैभवका उपकरण बनें, यह उनके अन्तरतमकी एकमात्र आकाक्षा रहती थी। ऐसी स्थितिमें श्रद्धा उन्हें समझाती है:—

अपनेमे सब कुछ भरकर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।

समस्त विश्वका सुख-साधन, यदि वैयक्तिक उपयोगके लिए रख दिया जाय, तो इससे सुखके बदले दुःखका ही अनुभव होगा। व्यक्तिके सन्तोषके लिए यह परमावश्यक है कि वह अपने सुखकी सीमाको व्यापक एवं विस्तृत बनावे तथा औरोंको सुखी देख सुखका और दुःखी देख अनुतापका भी अनुमान करे। इसी लिए श्रद्धा, मनुसे कहती है—

औरोंको हंसते देखो मनु,
हंसो और सुख पाओ,
अपने सुखको विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ।

बुद्धिवादका विरोध

कामायनीके इड़ा-प्रसंगमे स्पष्ट है कि इसमें बुद्धिवादका विरोध किया गया है। मनु जब इड़ा (बुद्धि) के अनुशासनमें चलकर उसपर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित करना चाहते हैं तब उसी क्षण उनपर आपत्तियोंका पर्वत आ गिरता है, और वे कठिन क्लेशोंकी अनुभूति करते हैं। उन्हें सुख-शान्ति पुनः तभी प्राप्त होती है जब उनपर कल्याणमयी श्रद्धाके अचलकी शाति-दायिनी स्निग्ध छाया पड़ती है। श्रद्धाको सानिध्यमें पाकर वे कहते हैं:—

तुम अजस्र वर्षा सुहागकी,
और स्नेहकी मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो,
तुम उसमें सन्तोष बनी।

मनु, समाजको वर्गोंमें विभाजित कर, नाना प्रकारके विधानोंका सर्जन कर उसपर नियन्त्रण और शासन रखना चाहते है। सारस्वत नगरकी रानी

इड़ाकी सहयोगितामें मनुने, विज्ञान द्वारा सुख-सामग्रियों तथा ऐश्वर्यके विभिन्न उपकरणोंमें तो अवश्य अभिवृद्धि की, किन्तु इसी समयसे शुद्ध साहित्यिक जीवनमें कृत्रिमताका प्रवेश हुआ। मनुने यन्त्रों द्वारा अद्भुत एवं अभिनव वस्तुओंका निर्माण तो निस्सन्देह किया, परन्तु इसके साथ ही साथ जन समाज में दरिद्रता और अशक्तताका भी प्रवेश हुआ। यह मनुकी विद्रोही प्रजाके निम्नलिखित कथनोंसे स्पष्ट है—

हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख,
प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रोंसे सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

श्रद्धा और बुद्धिका समन्वय

'प्रसाद' ने मानवजीवनमें व्यवसायात्मिका बुद्धिका प्राधान्य उचित नहीं माना है। बुद्धि मनुष्यको सदा चंचल बनाये रहती है। वह तर्क-वितर्क और निर्मम कर्म जालमें फंसाये रखती है।

मनुके चले जानेपर स्वयं इड़ा अपनी असफलताकी बात श्रद्धासे कहती है। श्रद्धा उसे इन शब्दोंमें समझाती है—

सुख-दुखका मधुमय धूपछाँह,
तूने छोड़ी यह सकल राह।
चेतनताका भौतिक विभाग—
कर, जगको बाँट दिया विराग।

बुद्धिकी शुद्धि और उसका परिष्कार श्रद्धा द्वारा आवश्यक होता है। अनियन्त्रित बुद्धि विनाशका कारण होती है। आगे चलकर कामायनीका अपने पुत्र कुमारको इड़ाके हाथों सौंप देना, बुद्धि और श्रद्धाके समन्वयकी ओर ही संकेत करता है। कामायनी कुमारसे कहती है—

यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब सन्ताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य-उदय,
सबकी समरसताका प्रचार।
मेरे सुत सुन माँकी पुकार

साम्यरस्यका सिद्धान्त

'कामायनी'में जीवनके भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्षोंका त्रिवेणी संगम अत्यन्त काव्यात्मक एवं कलापूर्ण पद्धतिमें निरूपित हुआ है। इसमें उक्त तीनों महत्त्वपूर्ण पक्षोंकी वैयक्तिक सामूहिक एवं समन्वित सत्ताका मूल्यांकन तथा उनकी महत्ता मनमोहक चित्र अंकित किया गया है। सर्व-प्रथम इच्छाका अरुणलोक, द्वितीयतः कर्मका श्यामल लोक और सभीके अन्तमें है ज्ञानका लोक। ये तीनों विभिन्न अवस्थितियों में व्यर्थ-छिन्न खल पड़े थे। श्रद्धा कहती है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मनकी;
एक-दूसरेसे न मिल सके
यह विडम्बना है जीवनकी।

इसीलिए मानव जीवनके साफल्यके हेतु श्रद्धाके प्रभाव एवं प्रेरणा द्वारा इच्छा, कर्म तथा ज्ञानका एकीकरण आवश्यक है, इन तीनोंमें साम्य स्थापित होते ही अलौकिक ईश्वरीय संगीतकी ध्वनि मनुको कर्णगोचर होती है और श्रद्धायुत मनु अखण्ड आनन्दकी अनुभूतिमें मग्न हो जाते हैं। इससे कविका मुख्य प्रतिपाद्य यही प्रतीत होता है कि जीवनका चरम लक्ष्य निर्लिप्त चेतनता और अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति, इच्छा, कर्म, तथा ज्ञानकी संघटित समष्टि द्वारा ही सम्भव है।

श्रद्धावादकी स्थापना

कामायनीमें जब इड़ा और कुमार दल बल सहित हिमालयकी यात्रा कर मानसरोवरके पुण्य तीर्थ पर पहुँचते हैं और वहाँके अलौकिक दृश्योंका अवलोकन करते हैं तब इड़ा, श्रद्धाके चरणोंमें प्रणत होती है और अपनी भ्रमात्मक वृत्तिका दोष स्वीकार करती है, मनु, जगत् और ब्रह्मके ऐक्य एवं साम्यकी अनुभूति करते हुए उससे कहते हैं:—

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।

आनन्द लोकका वर्णन करते हुए वे ससारकी गूढ गतिको लक्ष्यकर कहते हैं:—

अपने सुख-दुखसे पुलकित,
यह मूर्त विश्व सचराचर,
चितिका विराट वपु मंगल,
यह सत्य सतत चिर सुंदर,

इस प्रकार 'कामायनी' में महाकवि 'प्रसाद' ने समरसताके सिद्धान्तको जीवनकी सर्वोच्च सिद्धिका मूल-मन्त्र माना है और श्रद्धावादकी स्थापना की है। श्रद्धावादके सहाय्य द्वारा बुद्धिवादके सस्कार परिष्कारके अनन्तर निर्लिप्त चेतना और अखण्ड आनन्दकी साधनाका चरम लक्ष्य ही कामायनीका सन्देश है।



आँसूपर बाह्य प्रभाव



—विनयमोहन शर्मा—

प्रसाद आधुनिक हिन्दी काव्यके निर्माताओंमेंसे हैं। यदि कोई उनकी भावुकता और कलाप्रियताको उनकी एक ही रचनामें देखना चाहे तो उसे आँसूकी ओर इंगित किया जा सकता है। इसके दो कारण हैं। एक तो उसमें प्रेमकी स्मृति इतनी सत्यताके साथ अभिव्यक्त हुई है कि हमारा कवि के साथ अवलम्बित साधारणीकरण हो जाता है। हम कविकी स्मृतिके साथ अपनी सोई हुई वेदनाको अपनी ही आँखोंमें छाई हुई अनुभव करने लगते हैं। दूसरा कारण उसकी अभिनव अभिव्यंजना प्रणाली है। इसी बातको आचार्य रामचंद्र शुक्लने इस प्रकार कहा है कि "अभिव्यंजनाकी प्रगल्भता और विचित्रताके भीतर प्रेम वेदनाकी दिव्य विभूतिका विश्वके मंगलमय प्रभावका सुख और दुःख दोनोंको अपनानेकी उसकी अपार शक्तिका और उसकी छायामें सौंदर्य और मंगलके संगमका भी आँसूमें आभास पाया जाता है'।

'आँसू' के इस वैशिष्टयने प्रसादके समसामयिक और परवर्ती हिन्दी कवियोंको तो प्रभावित किया ही, अन्य भाषा भाषी कवि भी उसकी ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने कभी उसकी भावधाराके साथ तादात्म्य स्थापित करनेका प्रच्छन्न प्रयत्न किया और कभी उसके अनुवादका खुला प्रयास किया। मराठीमें उनके ही जीवनकालमें श्री बोरवणकरने 'आँसू' के ही छंदमें उसका रुपान्तर किया और उनके पश्चात् अनिलकुमारने मराठीमें ही उसी छंदमें अनुवाद किया है जो बोरवणकरके अनुवादसे अधिक सरस है। तेलगुमें भी उसके अनुवादकी चर्चा सुनी गई है।

आँसूकी इस लोकप्रियताको देखकर कुछ व्यक्तियोंके मनमें यह भाव भी उदित हुआ है कि आँसूमें बाह्यप्रभाव आ गया है और कवि स्वयं स्फूर्त न होकर बाहरसे प्रेरित हुआ। श्रीमती शचीरानीने अपने साहित्य दर्शनमें गेटेके वेंटेरकी तुलना प्रसादके आँसूसे करते हुए लिखा है कि जिस परिस्थितिमें

गेटे द्वारा 'वेंटेर'की रचना हुई उसी परिस्थितिमें 'आँसू' भी लिखा गया। परन्तु 'वेंटेर' में भी मस्तिष्ककी आँधी तूफान बनकर प्रगट हुई है, 'आँसू' में प्रशान्त भाव द्वारा अश्रुकणोंमें बिखरकर फूट पड़ी है। गेटे और प्रसादकी रचनाओंमें भाव साम्य हो सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि प्रसाद गेटेसे प्रभावित हैं।

विगत वर्ष "कल्पना" में "आँसू" की मौलिकताकी चर्चा करते हुए एक लेखकने उसपर बंगलाका प्रभाव प्रतिपादित करनेका प्रयत्न किया है। पर उसके अधिकांश उदाहरण ऐसे हैं जो किसी भी विरह काव्यमें खोजे जा सकते हैं।

आँसूकी पंक्ति है—

"विष प्याली जो पीली थी वह,
मदिरा बनी हृदयमें।"

लेखकने इसके जोड़में चण्डीदासकी यह पंक्ति प्रस्तुत की है

"के जाने खाइले गरल हइबे पाइबे एतेक दुखे।"

(मुझे क्या पता था कि गरल खानेपर इतना दुःख झेलना पड़ेगा।)

प्रसादमें विषका मदिरामें परिणत होनेका जो भाव है और उससे उसमें जो उत्कृष्टता, गहनता आ गई है वह चंडीदासमें कहाँ है। चंडीदासको विष दुःख देता है। "प्रसाद" बार बार विष पीनेको ललचाते हैं। जिस तरह मदिरा पी पीकर भी "और और" की ललक बनी रहती है उसी प्रकार प्रसादमें विष पीनेकी चाह प्रति बार उल्लास भरती जाती है।

बंगलासे इन्दिरा देवीकी यह पंक्ति उद्धृत है—

"आकाश भरे उटत तारो, फुटत हास चादेर मुखेर।"

और उसकी जोड़में प्रसादकी यह पंक्ति दी गई है

"मधु राका मुसकाती थी पहले देखा जब तुम को।"

हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि इन्दिरादेवीके "चादेर मुखसे हास फूटते" देखकर प्रसादको "मधु राका मुसकाने" की कल्पना हुई होगी। प्रसादके काव्यमें प्रकृतिका मानवीकरण आँसूके पहिले भी मिलता है।

राकाका मुसकाना कोई बंगलाकी ही अभिनव कल्पना नहीं है। कहीं कहीं बंगला कवि और प्रसादके भावोंमें टक्कर भी दिखाई देती है--

(१) "छायानट छवि पर्देमें, सम्मोहन वेणु बजाना"

—प्रसाद

"छन्द गीतेर आनन्दमम मधुर मायानटे
जागिएदित जीवन वीणाय राग रागिणी तार
मर्म माझे मुखर पीडेर मूर्छना झंकार।"

(२) "चातककी चकित पुकारें, श्यामा ध्वनि सरस रसीली
मेरी करुणार्द्र कथाकी, टुकड़ी आंसूसे गीली।"

—प्रसाद

मौमाछि देर गुंजरणे जागल श्याम कुंजवने।
स्वप्नसम तार काहिनी आजके प्रिये वेद विप्रहरे।"

—करुणानिदान वन्द्योपाध्याय

(३) "तुम खिसक गये धीरेसे, रोते अब प्राण विकलसे।"

ए हरि कहलुम तुमा पाश लागि,
सो अब जीवइ रवहुं पुन भागी।

—घनश्यामदास

(तुम मुझे छोड़कर भाग गये और मैं पड़ी रोती रह गई)।"

प्रसादकी पक्तिया हैं—

"थक जाती थी सुख रजनी, मुखचन्द्र हृदयमे होता
श्रम सीकर सदृश नखतसे अम्बर पट गीला होता।"

इन्हें पढकर लेखकको आग्ल कवि मौरिसकी निम्न पक्तियोंका स्मरण हो आता है—

"तुम नहीं जानते कि रात होनेपर मेरी प्रियतमा भी निकट आ जाती है आपसमें मधुर सभापण और क्षमा प्रदान होता है। आधीरातके अंधकारमें उसके चुम्बन शरीरमें स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं। प्रसादकी पक्तियोंका भाव साम्य उधारकी सामग्री ही है, यह नही कहा जा सकता। रविबाबूकी गीतांजलिमें कबीरके भावोंकी छाया देखकर जब कुछ लोगोने उन्हे कबीरका ऋण स्वीकार करने को कहा तब उन्होंने बहुत स्पष्टतासे कहा कि मैंने गीताजलिकी रचनाके बहुत बाद कबीरका अध्ययन किया था। प्रसाद टुटपु जिये कवि नहीं थे कि वे भानमतीका कुनबा जोड़ते रहते थे। उनकी प्रेमानुभूति सहज गहन

थी। अतः अन्य अनुभूतिशील कविके उद्‌गारोंमें यदि उन्हीं जैसे भावोंका साम्य है तो क्या आश्चर्य है ?

"आसू" में फारसी उर्दू साहित्यके प्रभावकी भी चर्चा की गई है और साथ ही यह भी कहा गया है कि कविकी इससे गहन आत्माभिव्यजना हुई है। यदि आत्माभिव्यजना है तो यह स्पष्ट है कि वह उनके अपने हृदयका आलोड़न है, उनकी अपनी अन्तर प्रेरणाकी सृष्टि है और यदि उसमें बाह्य प्रभावकी बात है तो वह आत्माभिव्यक्तिकी कृति ही नहीं रह जाती हिन्दीके समीक्षक "आसू" को हिन्दी काव्य साहित्यकी उत्कृष्ट रचना मानते हैं और साथ ही यह भी कल्पना करने लगते हैं कि हिन्दीके कविमें इतनी ऊँची उड़ान भरनेकी क्षमता नहीं हो सकती है। वह बिना सहारे पख खोल ही नहीं सकता। यह हमारी लघुत्व भावनाका ही द्योतक है। और क्या कहें ?



प्रसादकी चतुर्दशपदियाँ



—किशोरीलाल गुप्त—

जिस प्रकार छायावाद एवं आधुनिक रहस्यवाद हिंदीमें अंग्रेजीसे आये, उसी प्रकार सानेट भी हिंदीमें अंग्रेजीसे आया। हिंदीवालोंने सानेटकी चरण-संख्याकी प्रधानता देते हुए इसका हिंदी अनुवाद 'चतुर्दशपदी' नामसे प्रचारित किया। इस नामके गढ़नेका श्रेय श्री लोचन प्रसाद जी पाडेयको है। प्रभा भाग १ सख्या २ (७ मई १९१३ ई०) मे पाडेय लोचन प्रसाद 'हिंदीमें चतुर्दशपदी पद्य अर्थात् Sonnet' शीर्षक लेखमें लिखते हैं:— "बगालीमें Sonnet के जन्मदाता माइकल मधुसूदन दत्त हैं। उड़िया भाषामें इसके प्रचारक रायबहादुर मधुसूदन राव भक्त कवि हैं। मैंने अपनी सपादित 'कविता कुसुम माला' में दो चतुर्दशपदी पद्य लिखकर रख दिये हैं। उनपर अब तक किसी समालोचकने विचार (नही किया ?)"

'कविता कुसुम माला' की चतुर्दशादियोंके नाम हैं 'बाल्य स्मृति' और 'श्मशान' इन दोनों कविताओंकी पाद टिप्पणी है—' A Sonnet (चतुर्दशपदी कविता)।' विभिन्न कवियोंकी कविताओंसे विभूषित यह काव्य संग्रह सन् १६१० ई० में 'इंडियन प्रेस, प्रयाग'से प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार इन चतुर्दशपदियोंका प्रकाशन काल और सभवतः विरचन काल भी १९१० ही है। 'सानेट'का रूपातर पाडेय जीने अपनी कविताओंकी पाद टिप्पणीमें तो 'चतुर्दशपदी कविता' एवं प्रभावाले लेखके शीर्षक एवं उसके अंतरमें 'चतुर्दशपदी पद्य' नामसे किया है। आजकल उसे केवल 'चतुर्दशपदी' कहते हैं, उसके साथ कविता या पद्य लगानेकी आवश्यकता नहीं है। 'प्रसाद' जीने यह अनावश्यक अंश काट दिया था। वे 'इन्दु'में प्रकाशित अपनी चतुर्दशपदियोंके शीर्षकके नीचे केवल 'चतुर्दशपदी' लिखते थे। पाण्डेय जीने पादटिप्पणीमें अपनी चतुर्दशपदियोंकी ओर पूर्ण सकेत कर दिया है, नहीं तो इस संग्रहमें चौदह पक्तियोंकी एक और कविता भी 'ईश-विनय' नामकी है पाण्डेय जी इसे चतुर्दशपदी नहीं मानते। संभवतः इसमें सयोगसे चौदह

पक्तियाँ आ गई हैं। ऐसा माननेका उनके पास कारण है। पहले तो उन्होंने इसे चतुर्दशपदी समझकर लिखा नहीं, दूसरे इसकी रचना प्रणाली भी दोनोंसे अत्यधिक भिन्न है। इन दोनोंका छंद १६, १५ के विरामसे ३१ मात्राओंका ताटक है जिसका अन्तिम अक्षर सदैव लघु होता है। 'ईश-विनय'में प्रत्येक दो चरणोंका तुक मिलता चलता है। जैसी हिंदीकी स्वीकृत पद्धति है। किंतु इन दोनों रचनाओंमें तुक-प्रणाली अग्रेजी ढगकी है और 'श्मशान'में 'पेट्राकंन सानेट'की तुक प्रणालीका अनुसरण किया गया है अर्थात इसकी तुक प्रणालीको संकेतात्मक ढगसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं:—

abba, abba, cd, cd, cd

वाल्यस्मृतिकी तुक प्रणाली है:—

ab, ab, ab, ab, cd, cd, cd.

बाल्यस्मृतिको हिंदी साहित्यकी प्रथम चतुर्शदपदी होनेका गौरव प्राप्त है, क्योंकि 'कविता कुसुम माला' में इसे पहले स्थान दिया गया है, श्मशानको बादमें। इसलिए इसको यहाँ पूर्णरूपसे उद्धृत कर देना अप्रासगिक एव अनुपयुक्त न होगा:—

कौन लूट ले गया हाय! मम बाल-कालका सुख भंडार?
कहाँ प्रबल उत्साह, कहाँ अब गई हृदयकी शान्ति समूल?
कहाँ सखा सगिनी आदि का वह नैसर्गिक प्रेम अपार,
आँख मिचौनी, सुखद्-धूल-गृह खेल कहाँ शैशव सुख मूल?
चला गया वह समय हाय! इस जीवनको करके निःसार
वही नयन, तनु वही, किंतु है दृश्य आज जगमें प्रतिकूल
मुझे, बाल संगिनी सखा गण भी करते हैं हाहाकार
इस जीवनके भीषण रणमें पड़, निज निज सुख कर निर्मूल
शान्ति पूर्ण उस बाल कालके पावन सुखकी होते याद
शोक अग्निसे तनु जलता है, व्याकुल होते हैं मन प्राण
स्थायी मुझे ज्ञात होता था पावन शैशवका आह्लाद
था नहिं मेरे बाल हृदयको कुटिल कालकी गतिका ज्ञान
चिर बदी रोता है ज्यों नित सोच सोच निज गृह सुख-स्वाद
त्यों अब मैं व्याकुल होता हूँ उस सुखका कर मनमें ध्यान।

'ताटक' छदके लिये यह तुक प्रणाली बहुत उपयुक्त ज्ञात नहीं होती, बारहवीं पक्तिमें 'नहिं' का 'नहीं' के स्थानपर चिन्त्य प्रयोग है। 'चल'

पंक्तियाँ (Run-on lines) भी यहाँ अशोभन लगती है। फिर भी नया प्रयोग होनेके नाते इस रचनाका अभिनन्दन होना चाहिये था। 'श्मशान'-की तुक प्रणाली बिना किसी परिवर्तनके ली गई है, और वह इस दृष्टिसे अंग्रेजी चतुर्दशपदियोंके अधिक निकट है, फिर भी उसमें उपदेशात्मकता अधिक आ गई है—

लोचन प्रसाद जीकी कुछ और भी रचनायें हैं, जो चौदह चौदह पंक्तियोंकी हैं और जिनकी तुक प्रणाली भी हिन्दीकी ही है। उन्हे उन्होंने चतुर्दशपदी सज्ञा नहीं दी है। अभिनव प्रयास होते हुए भी, ये रचनायें द्विवेदी-स्कूलकी ही हैं। इनमें आत्माभिव्यंजन तथा आवेगका अत्यधिक अभाव है।

सन् १९१३–१४ से प्रसाद जीने नये सिरेसे हिन्दीमें चतुर्दशपदियाँ लिखनेका श्रीगणेश किया। इंदु कला ३, किरण ४, मार्च १९१२ में प्रसाद जीकी एक कविता 'सरोज' प्रकाशित हुई जो अब 'कानन कुसुम'–मे है। इसमे भी चौदह पक्तियाँ हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि ये पक्तियाँ जान बूझकर रक्खी गई हैं अथवा अनजानमें। किन्तु चौदह पक्तियाँ ही हो जाना सानेट नही कहलाता। इसका छद सगीतात्मक प्रवाह लिये हुए है, परन्तु यह कविता इतिवृत्तात्मक, नीतिपूर्ण और स्वानुभूति रहित है, और सानेटकी कोटिमें नहीं रक्खी जा सकती। संभवतः इसी युगकी एक और रचना 'मोहन' है जो 'इदु' अप्रैल १४ में प्रकाशित हुई। पहले इसमे १६ पक्तियाँ थी। अब १४ रह गई हैं। अंतिम दो पंक्तियाँ जिनमें कविका नाम भी था अब (कानन कुसुममे) छोड़ दी गई हैं—

हम तुम हों एक जब फिर छिपना छिपाना कैसा,
अपना 'प्रसाद' अमृत हमको चखा दे मोहन।

यह 'सरोज' से भी निम्नकोटिकी है। इन दोनोकी तुक प्रणाली उर्दू गजलोंकी सी है। इसे भी चतुर्दशपदियोंकी कोटिमें नहीं रखा जा सकता।

'इदु' कला ४ खड १, किरण २, फरवरी १९१३ मे करुणालय प्रकाशित हुआ। इसमें रोहिताश्वकी एक प्रार्थना है जो १४ पक्तियोंकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये चौदह पक्तियाँ जानबूझकर रक्खी गई हैं। पहली बात तो यह है कि ये प्रबध काव्यके अतर्गत होते हुए भी स्वतंत्र है, ये पंक्तियाँ 'करुणालय' भरमें श्रेष्ठतम हैं क्योंकि ये और सभी पक्तियोंकी अपेक्षा अधिक अनुभूतिमयी हैं और इनमें करुणाका उद्रेक-सा हो रहा है। साथ ही इसकी अतिम दो पक्तियोंका तुक भी मिलता है। सारी रचना अतुकात है, यही दो

पक्तियाँ सतुक हैं—इसका कुछ विशेष हेतु अवश्य है। अंग्रेजी और इटालियन चतुर्दशपदियोंका एक प्रमुख भेद यह भी रहा है कि जहाँ इटालियन चतुर्दशपदीके अतिम दो चरणोंका तुक न मिलना चाहिये, वहाँ अँग्रेजीवालीमें अवश्य मिलना चाहिए और शेष बारह चरणोंकी तुक प्रणाली चाहे जैसी भी हो। हो सकता है शेक्सपीयरकी चतुर्दशपदियोंकी इस विशेषताको प्रसाद जीने इस चौदह पंक्तियोंकी रचनामें ग्रहण किया हो। इस तुकका अतुल प्रभाव भी पड़ता है, जैसे अपनी बातको और भी प्रभावशाली बनानेके लिये कोई अपनी हथेली पीट दे, जैसे मुहर लगानेवालेको यह विश्वास न हो कि मुहरके निशान ठीक लगे हैं और वह फिरसे एक नया ठप्पा और जोरसे मार दे। यह तुक भावको और भी प्रभावशाली बनानेके लिये आया है। साथ ही इसमें एक ही भावकी सहिति है और इस छदमें आगे चलकर प्रसाद जीने अन्य अनेक अभिनव चतुर्दशपदियाँ प्रस्तुत की हैं। इससे सिद्ध होता है कि हो न हो प्रसाद जीने इसकी रचना पहले चतुर्दशपदीके ही उद्देश्यसे की हो और बादमें करुणालयमें समाविष्ट कर दिया हो—जैसा उनके नाटकोंके गीतोंके लिये कहा जाता है। अस्तु, यह कविता सब प्रकार चतुर्दशपदीके गुणोंसे युक्त है और हमें इसे चतुर्दशपदी माननेमें किसी प्रकारका सकोच न होना चाहिए पर स्वय प्रसाद इसके चतुर्दशपदी होनेका सकेत कहीं भी नहीं देते।

आगे चलकर प्रसाद जीने इसी २१ मात्राओंके अरिल्ल छदमें निम्न आठ चतुर्दशपदियाँ और लिखीं, जो सभी १९१४–१६ के बीच इदुमें प्रकाशित हुईः—'मेरी कचाई' (अक्टूबर, १४) 'हमारा हृदय' (जनवरी, १५) 'प्रत्याशा' (फरवरी, १५) 'अर्चना' 'स्वभाव' (मार्च, १५) 'वसत राका' (मई, १५) 'दर्शन' (अगस्त, १५) 'सुखभरी नींद' 'स्वप्न लोक' (सितबर, १६)

ये आठों चतुर्दशपदियाँ अत्यत प्रौढ हैं, और इनके प्रकाशन कालका विस्तार दो वर्ष है। इनमें इनको स्वयं प्रसाद जीने चतुर्दशपदियाँ माना है। 'इदु' में जब यह सर्वप्रथम प्रकाशित हुई तब इनपर पाद टिप्पणी दी गई थी—'Sonnet के ढग पर।' इनमेंसे दो 'मेरी कचाई' एव 'वसत राका' तो निर्ग्रंथ रचनाएं हैं और केवल 'इदु'–की ही फाइलमें मिल सकती है शेष 'झरना' में उपलब्ध हैं, पर अब उनमें दो-दो पक्तियाँ और बढा दी गई हैं। ये सभी रचनाएँ छायावादका प्रारभ करती हैं और रहस्यवादी भावधारा इनमें

प्रवाहित होती है। इस वर्गकी रचनाओंके प्रतिनिधि स्वरूप दोनो निर्ग्रंथ चतुर्दशपदियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं*—

मेरी कचाई

हम ही कायर हैं, तुमसे फिर क्या कहें
कि 'नहीं तुम मिलते हो मनसे स्वच्छ हो'
यही 'कचाई मेरी' बंधन तोड़कर
जो तुमसे मैं प्रियवर मिलता हूँ नहीं
सबको समझा बुझा सभीसे अलग हो
जिस क्षण मिल जानेको हम प्रस्तुत रहे
अपना तुम्हीं दुकूल सँभाल नहीं सकी
दौड़ पड़ो, मेरे आकर्षणमें खिंचे,
फिर भी मैं कहता हूँ, मेरी बेबसी—
प्रियतम ! तुमको ज्ञात सभी है, फिर कहो,
अपनी अनुकंपासे क्यों वंचित किया ?
क्या अपनेसे तुमही मिल सकते नहीं ?
प्रियतम तुमको कहने लायक मैं नहीं
फिर भी विनती करनेका अधिकार है।

—'इंदु' अक्टूबर १४

खिला हुआ है हृदयारण्य वसंतका
आज पवन है उलझा उलझा घूमता
इस काननमें, कोमल किसलय पुंजमें
कुमुद बंधु उज्ज्वल किरणोंकी ज्योतिका
अन्वेषक आलोक डालकर देखता
सुमन कुंजकी विमला रम्यस्थलीको
उज्ज्वल जीवन छायासी जो है बनी।
आज हमारे और तुम्हारे मिलनकी,
अपनेको विस्तृत होनेकी प्रेममें,

---

* इन दोनो रचनाओंमें सानेटके नियमके अनुसार तुक नहीं है। सं०

स्वर्ग सुंदरी गणने जब देखी दशा
डाल दिया अपने पट (सुंदर चद्रिका)
तव कमनीय कांति क्या छिपनेकी कभी
ऐसे झीने पटमे, वह तो और भी
परदा बनकर तुमको इंगित कर रही

—'इदु' मई १५

जून १६१५ की 'प्रभा' में पाडेय लोचन प्रसादका एक दूसरा लेख है अतुकान कवितापर। इसमें प्रसाद जीके एक पत्रका हवाला है जिसमें 'प्रसाद' जीने लिखा है कि तीन अतुकात छदोंमें उन्होंने चतुर्दशपदियाँ लिखकर छपवाई हैं। इंदुकी फाइल उलटनेसे पता चलता है कि ये चतुर्दशपदियाँ हैं—(१) 'मेरी कचाई' (अक्टूबर '१४), (२) 'हमारा हृदय' (जनवरी '१५) (३) 'प्रत्याशा' (फरवरी '१५)। प्रसादजीका तात्पर्य तीन 'छन्दों' से इन्हीं तीनों चतुर्दश-पदियोंकी सख्या बताना है, न कि तीन प्रकारके अतुकात छन्दोंमें चतुर्दश-पदियाँ।

प्रसादजी साहित्यके रूपों (Forms) के मार्मिक अन्वेषक और सफल प्रयोक्ता थे। छद-विधानकी दृष्टिसे उन्होंने चतुर्दशपदियोंमें भी तीन प्रकारके प्रयोग किए। पहले प्रकारमें अरिल्लमें लिखी हुई अतुकात चतुर्दश-पदियाँ हैं जिनका विवेचन हम अभी कर आये हैं। दूसरे प्रकारमें उन्होंने तीन रोला एव अतमें उल्लालाका तथा तीसरे प्रकारमें वीर छदका प्रयोग किया है। दूसरे प्रकारके प्रयोगके अतर्गत केवल तीन रचनाएँ आती हैं। (१) रमणी-हृदय (२) महाकवि तुलसीदास (३) नमस्कार। जैसा कि कहा गया है इसका छन्द-विधान अत्यत सरल है। तीन रोला और अन्तमें एक उल्लाला। प्रत्येक दो पक्तियोंका तुक मिलता चलता है।

'रमणी-हृदय' का प्रकाशन सर्वप्रथम 'इदु' जनवरी १६१४ में हुआ और यह अवश्य १६२३ की रचना है। 'महाकवि तुलसीदास' सर्वप्रथम सवत् १६८० वि० (१६२३ ई०) में गोस्वामीजीके त्रि-शत-वार्षिक-जयन्ती-समारोहके अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित, तुलसी ग्रन्थावली (तृतीय भाग) के अन्तिम पृष्ठपर छपा। पर यह इतने बादकी रचना नहीं है। फिर 'कानन कुसुम' के तीसरे सशोधित परिवर्द्धित सस्करण (१६२७ ई०) मे यह प्रकाशित हुआ। सस्करणमें कहा गया है कि

इसमे १९१७ तककी ही रचनायें हैं। इस प्रकार इसके रचना कालकी इधरकी सीमा १९१७ हो जाती है। पर यह रचना १९१३-१४की है। संभवतः नागरी-प्रचारिणी सभामें मनाई गई किसी तुलसी जयंतीके अवसरपर यह पढी भी गयी रही होगी। रचनाकालके इस निर्णयमे दो बातें सहायक हैं। पहली तो इसकी अभिव्यंजना प्रणाली द्विवेदीकालीन है और इस प्रणालीका प्रभाव प्रसादजी पर १९१४ के बाद बिलकुल ही नहीं रह गया था। दूसरे इसी प्रणालीकी एक रचना 'रमणी हृदय' जनवरी १९१४ मे प्रकाशित हुई। उसी ढर्रे पर चलने-वाली यह रचना भी इसी समयके आगे पीछे की गई होगी या तो अगस्त सन् १३ या अगस्त सन् १४ में। प्रसादजीने भारतेंदुजीकी दो प्रशस्तियाँ लिखी हैं—

(१) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (प्राचीन संस्करण, भाग १७, संख्या ३- सितम्बर ३, १९१२)

(२) भारतेन्दु प्रकाश—(चित्राधार)—'इंदु' कला ३, किरण १ अश्विन ६६ (सितम्बर ११) तुलसीदासजीकी यह प्रशस्ति इनसे कहीं अधिक प्रौढ है। इसलिए इसका रचनाकाल १९१३ या १४ है।

इस ढंगकी तीसरी रचना जिसका नामकरण मैंने 'नमस्कार' किया है, 'कानन कुसुम' के 'मकरंद-विंदु' के अंतर्गत है, और तृतीय संस्करणमें जो रचनाएँ जोड़ी गई हैं उसमेंसे एक है। 'इंदु' जुलाई, १३, अगस्त, १३, में 'नमस्कार' शीर्षकके अन्तर्गत दो छप्पय छपे हैं एककी अंतिम पंक्ति है:—

नमस्कार मेरा सदा पूरे विश्व गृहस्थको

दूसरेकी—

नमस्कार सदनंतको ऐसे वारम्बार है

इस प्रकार तीनो रचनाओंकी शैली और विषय एक ही हैं—इसीलिये इस रचनाका भी नाम मैंने नमस्कार रख दिया है। यह अनुमान करना सत्यसे दूर न होगा कि इसका रचनाकाल भी उन दोनो छप्पयोंके ठीक आगे पीछे १९१३ में ही होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस ढंगकी तीनो चतुर्दशपदियाँ अधिकसे अधिक एक सालके भीतर, १९१३ ई० में, लिखी गईं। ये सभी स्थूल एवं वस्तुप्रधान हैं। शीघ्र ही प्रसादजीको यह मालूम हो गया कि यह प्रणाली होनेके कारण चतुर्दशपदियोंके अनुकूल नहीं है और इसीलिए उन्होंने इसका

परित्याग करना ही समीचीन समझा। पतजीकी भी कई चतुर्दशपदियाँ रोला छन्दोमें हैं, परन्तु उन्होने अन्तमें कहीं भी उल्लाला नहीं रखा है। हरिऔधजीने अवश्य 'कल्पलता' में इस प्रणालीपर चार चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं।

'महाकवि तुलसीदास' इन तीनों रचनाओंमे श्रेष्ठतम है।

उपर्युक्त दो प्रकारके छदोमें प्रसादजीकी चतुर्दशपदियाँ इनी-गिनी ही हैं, और इनका प्रयोग लघुकाल तक ही सीमित रहा। सन् १९१४ से ही प्रसादजीने ३० मात्राओंके वीर छदमें चतुर्दशपदियाँ लिखनेका प्रयोग प्रारभ किया, और इसका उपयोग वे अन्ततक करते रहे। इस छदमें उन्होने ग्यारह रचनायें प्रस्तुत कीं:—

(१) खोलो द्वार—इदु (जनवरी १४)
(२) प्रियतम—इदु (सितम्बर १४)
(३) नहीं डरते—कानन कुसुम (द्वितीय सस्करण) और चित्राधार (प्रथम सस्करण १९१८)
(४) पाई बाग—चित्राधार (प्रथम सस्करण) और झरना (द्वितीय सस्करण)
(५) गान—कानन कुसुम (तृतीय सस्करण)
(६) दीप—झरना (द्वितीय सस्करण)
(७) चल वसत बाला अचल से—अजातशत्रु
(८) अलकाकी किस विकल विरहिणी—,,
(९) ससृतिके वे सुदरतम क्षण—स्कदगुप्त
(१०) अगरु धूमकी श्याम लहरियाँ—,,
(११) निज अलकोंके अधकारमें—लहर ('माधुरी' मार्च, ३३)

'खोलो द्वार' इस प्रकारकी पहली रचना है और इतनी सुदर है कि आचार्य शुक्लजीको भ्रम हो गया है कि यह १९२६ के आसपासकी रचना है। वस्तुत: यह १९१३ की रचना है, जो जनवरी १४के इदुमें सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। शुक्ल जीने 'इदु'की फाइलें नहीं उलटी थीं, और यह रचना 'झरना' प्रथम सस्करण (१९१८) में नहीं सकलित की गई थी। झरनाके द्वितीय सस्करणमें यह पहली बार ग्रथित हुई, शुक्लजीके भ्रमका यही कारण है।

इस चतुर्दशपदीके प्रत्येक चरणमें ३१ मात्राएँ हैं और छंद शास्त्रकी दृष्टिसे इसे 'लावनी' या 'ताटंक' छंद कहते हैं, अन्तमें गुरु लघु आवश्यक होते हैं। वस्तुतः वीर छंदके अन्तमें एक लघु अक्षर और जोड़ देनेसे यही छंद बन जाता है, गतिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्य चतुर्दशपदियोंमें भी यत्र तत्र इस प्रकारके परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। यह भेद सहज ही दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि गतिमें कोई अन्तर नहीं आता। 'अजातशत्रु' एवं 'स्कंदगुप्त' तथा 'लहर' वाली चतुर्दशपदियाँ प्रौढ प्रसादकी देन हैं जो अत्यन्त रम्य हैं। इनमें कहीं भी किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं दृष्टिगोचर होती।

प्रसादजीकी अन्तिम चतुर्दशपदी 'स्वर्ण संसार' है। यह चाँदमें (नवम्बर ३३ में प्रकाशित हुई थी। इसका छंद २८ मात्राओंका है और तुक प्रणाली उर्दू गजलोंकी सी है, अर्थात् पहले दो चरणोंका तुक एक है, और यही तुक शेष सम चरणोंका भी है। चतुर्दशपदियोंके संसारमें प्रसादजीका यह अन्तिम प्रयोग था:--

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजीने चतुर्दशपदियोंके लिये अनेक प्रयोग किए, किन्तु उन्होंने अंग्रेजी तुक प्रणालीका प्रयोग हिंदीके लिए उसी प्रकार अवांछनीय एवं अश्रेयस्कर समझा जिस प्रकार वाट, सरे एवं शेक्सपीयरने इटालियन सानेटकी तुक प्रणालीको अंग्रेजीके लिये अनुपयुक्त समझा था। प्रसादजी हिंदीकी नब्ज पहचानते थे, इसीलिए विदेशी काव्य रूपको अपनाते हुए भी उन्होंने उसे देशी ही वस्त्र पहनाया और यह वस्तु उनके हाथ में विदेशी होते हुए भी स्वदेशी हो गई है। प्रसादजीने 'आक्टेव' एवं 'सेसटेट' का भी कोई विचार नहीं रखा है इसीलिये वे चतुर्दशपदी को स्वतंत्र सत्ता देनेमें समर्थ हो सके।

प्रसादका काव्य-शैलीगत विकासका संक्षिप्त परिचय

—प्रेमशंकर—



जहाँ एक ओर किसी कविकी विचारधारा उसके सम्पूर्ण चिन्तन-मननका प्रतिफलन होती है, वहीं शैली उसकी कारयित्री प्रतिभासे सम्बन्ध रखती है। अपने भावों और विचारोंके प्रकाशनके लिए कवि नए नए प्रकारके जो माध्यम अपनाता है, उसमें कुछ तो उसे परम्परासे उत्तराधिकारके रूपमें मिल जाते हैं, किन्तु कुछका निर्माण उसे स्वयं भी करना पड़ता है। बात यह है कि बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियोंके कारण कविताके उपादानोंमें जो अन्तर आ जाता है, उसके सफल प्रकाशनके लिए नई शैलीको गढना पड़ता है। प्रत्येक युगमें महान कविके समक्ष इसी प्रकारका प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह इस बातका अनुभव करता है कि मेरी भावनाओंके लिए वे माध्यम, प्रतीक और शब्द पर्याप्त नहीं हैं, जो अबतक काव्यमें व्यवहृत होते रहे हैं। यहींपर विचारणीय प्रश्न यह भी आ जाता है कि काव्यमें शैलीके क्षेत्रमें जहाँ एक ओर कुछ ऐसे उपमान, छंद और शैली विधान होते हैं जो हर युगमें अपनी नवीनता बनाए रखते हैं, वहाँ अधिकांश काव्य-उपादान ऐसे होते हैं जो कुछ समय प्रयोगमें आनेके अनन्तर घिस जाते हैं। उनमें कोई नया आकर्षण नहीं रह जाता, साथ ही वे नए भावोंको वहन करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। यहाँ यह भी स्वीकार करना होगा कि शैलीको जन्म देनेके पूर्व कविको अनेक नए नए प्रयोग करने पड़ते हैं। इन प्रयोगोंके अनन्तर ही वह किसी निश्चित शैलीको ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार हर महान कवि किसी न किसी शैलीका जन्मदाता कहा जा सकता है। शायद विचारों और भावों-की अपेक्षा शैलीके आधारपर विश्वके विशिष्ट कवियोंमें अधिक अन्तर मिलेगा। जहाँ वे सभी अपनी विकसित चेतनाके कारण भाव-क्षेत्रमें एक ही मानवीय स्वरसे अनुप्राणित हैं, वहीं अपनी अभिव्यक्तिके लिए उन्होंने नई नई शैलियाँ ग्रहण कर ली हैं। वे एक ही लक्ष्यपर पहुँचनेवाले विभिन्न पगडंडियोंके राही हैं।

प्रसादको विरासतके रूपमें कोई ऐसी परिपुष्ट शैली नहीं मिली थी, जिसके आधारपर वे अपने काव्यका निर्माण करते, और निश्चिन्त होकर बैठ जाते। भारतेन्दुके लावनी और खयाल, गुप्तजीके हरिगीतिका तथा हरिऔधीजके अतुकान्त छन्द नई शैलीके नामपर पेश किए जा सकते हैं। पर इन कवियोंने जिन भावों और विचारोंको प्रकट किया था, वे समयसे दूर थे। कहनेका तात्पर्य यह है कि उनमें अपने युगका ताप नहीं था। सभ्यताके परिणाम-स्वरूप आनेवाले संघर्षसे भरे हुए प्राणीका अंकन उसमें नहीं हो सका था। यही कारण है कि अपनी राष्ट्रीयता और आदर्शवादितासे समन्वित होते हुए भी साकेत और प्रियप्रवासके नायक उस युगसे कुछ पीछेकी वस्तु मालूम होते हैं। इस दृष्टिसे 'मनु' निस्सन्देह अपने युगका ऐसा सफल प्रतीक है, जिसके माध्यमसे समस्त सामाजिक और मानसिक संघर्ष स्पष्ट हो सका है। शिथिल परम्पराके कारण छायावादके सभी प्रमुख कवियोंको नई शैलीका निर्माण करना पड़ा।

साधारण सांस्कृतिक और बौद्धिक पृष्ठभूमिके कारण आरम्भमें प्रसाद ब्रज-भाषाकी उसी बँधी-बँधाई परिपाटी पर चले, जो सवैया, और घनाक्षरीमें बँधी हुई थी। इस दृष्टिसे 'चित्राधार' की रचनाएँ अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। हाँ, यत्र-तत्र दो-चार प्रयोग वहाँ भी देखनेको मिल जाते हैं। कुछ ऐसे शब्दोंका व्यवहार ब्रजभाषाकी रचनाओंमें किया गया है, जो प्रायः व्यवहृत नहीं होते थे। भावनाके क्षेत्रमें प्रसादकी जो मौलिकता आरम्भसे थी, उसका क्रमशः विकास होता गया। जीवनने उन्हें नई अनुभूतियाँ प्रदान कीं। अध्ययन और चिन्तनसे उन्होंने अपनी बौद्धिक और मानसिक शक्तिका प्रसार किया। वास्तवमें अनुसंधान करते हुए जिस प्रकार किसी विद्यार्थीको कुछ ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनके आधारपर वह अपने अध्ययन क्रमको आगे बढ़ाता है, उसी प्रकार कवि भी रचनाके दौरानमें कुछ ऐसे माध्यम मिल जाते हैं, जिनके बारेमें वह यह अनुभव करने लगता है कि इनके द्वारा वह अपनी अनुभूतियोंको अधिक सुगमतासे अभिव्यक्ति दे सकता है। इस दृष्टिसे खड़ी बोलीकी आरंभिक रचनाएं कवि प्रसादकी प्रयोगशील वस्तुएं हैं। इनमें कविको शैलीके नए प्रयोग करते देखा जा सकता है।

आरम्भिक कृतियोंमें जहाँ एक ओर प्रयोगशील कविकी अनेक दुर्बलताएँ देखी जा सकती हैं, वहीं उसके निर्माणकी शक्तिका भी आभास मिल जाता है। जब कोई भी कवि नए माध्यमों और शैलियोंकी तलाश करता है, तब

उससे गलतियाँ हो ही जाती हैं। पर इसी स्थानपर उसकी कारयित्री शक्ति की विषम परीक्षा होती है। साथ ही उसके धैर्य और साहसको भी देखा जा सकता है। प्रसादके 'काननकुसुम'में कुछ ऐसे प्रयोग हमारे समक्ष आते हैं, जिसके आधारपर हम सहज ही यह कह सकते हैं कि कवि अपने व्यक्तित्वके निर्माणमें प्रयत्नशील है। अपनी अनुभूतियोंके लिए वह पुराने माध्यम दुर्बल और असमर्थ पा रहा है। मिल्टनकी तरह प्रसादने क्रमशः अपने पंखोंमें शक्ति पैदा की ताकि वह खुले आकाशमें उड़ सकें। 'कानन कुसुम' में 'मिल जाओ गले' आदिकी साधारण उक्तियाँ हैं, किन्तु इसीके साथ छन्दोंकी विविधता और नए प्रतीकोंकी खोजका प्रयास भी इसी पुस्तकमें है।

शैलीकी दृष्टिसे 'आँसू' प्रसादकी प्रथम विशिष्ट रचना है। उसका आगमन हिन्दीके लिए नई दिशाका सूचक था। प्रतीकोंके सहारे जिस प्रणय-कथाको प्रस्तुत किया गया है, उसमें अनुभूतिकी बड़ी गहराई है। बिना किसी कथाका सहारा लिए हुए उसमें जीवनके एक सघन चित्र, एक मार्मिक संवेदनाको सग्रथित कर दिया गया है। नए प्रतीक और उपमान 'आसू' में इतनी शक्तिके साथ प्रयुक्त हुए है कि कविके आगामी प्रौढ चरणकी सूचना सहज ही प्राप्त हो जाती है। इन प्रतीकोंके सहारे नारीका बड़ा ही मासल चित्र प्रस्तुत किया जा सका है। शायद इन प्रतीकोंकी संकेतात्मक शैलीके कारण ही उस समयके कुछ साहित्यिक 'आँसू' में रहस्यवाद सम्बन्धी आत्मा-परमात्माको खोजने लगे थे। लौकिक जीवनकी यह विरह-वेदना एक ओर यदि उदात्तीकरणके द्वारा अन्तमें विराट् रंगमंचपर प्रस्तुतकी जा सकी, तो साथ ही लाक्षणिक शैलीमें उसने अभिव्यक्तिको बड़ी शक्ति प्रदान की। गीतिकाव्यकी शैलीमें लिखा गया, यह काव्य हिन्दीके उन समीक्षकोंके लिए आजकी भारी समस्या है जो बने-बनाए चौखटोंमें प्रत्येक चीज़को फिट करनेकी कोशिश करते हैं। 'मेघदूत' की भांति 'आसू' विशिष्ट रचना है, जिसमें अपनी भावनाको अभिव्यक्ति देनेके लिए कविने पूरी स्वतन्त्रता ली है।

'झरना' में प्रसादकी दोनों ही प्रकारकी रचनाएं हैं। कुछमें 'कानन-कुसुम' का सा प्रयोगशील स्वर है, तो साथ ही कतिपय कविताएं 'आसू' और 'लहर' के समीप हैं। 'झरना' से 'लहर' के बीच दूरी सी मालूम होती है। इसका कारण यही है कि 'लहर' की रचनाएं अभिव्यंजनाकी दृष्टिसे बड़ी प्रौढ और प्रांजल हैं। कवितामें स्पष्ट अभिव्यक्तिका जो दुर्लभ गुण

होता है, उसे पर्याप्त प्रयासके अनन्तर प्रसादने प्राप्त किया। किसी गहन अनुभूतिको स्पष्ट रीतिसे किसी ऐसे प्रतीकके द्वारा प्रस्तुत कर देना, जो उलझा हुआ न हो, कठिन कार्य है। प्रसादकी 'लहर'की संग्रहीत कविताओंमें शैलीकी दृष्टिसे विविधता है। गीतिकाव्यको ध्यानमें रखकर प्रसादके कुछ सर्वश्रेष्ठ गीत 'लहर' में संग्रहीत हैं। भाषाकी गठन और सार्थक शब्दोंके प्रयोगकी कलाका पूर्ण परिपाक इसमें मिलता है। 'बीती विभावरी जाग री' आदि गीत अपनी संगीतमयतामें भी बड़े सरस हैं। इन गीतोंके अतिरिक्त इसमें प्रसादकी वे लम्बी रचनाएं हैं, जिन्हें हम 'कामायनी' की पृष्ठभूमि कह सकते हैं और जिनका प्रयोग किसी सीमातक पूर्व ही आरम्भ हो चुका था। इन आख्यानक काव्योंमें विभिन्न चित्र-फलकोंपर कार्य किया गया है। 'अशोक' की चिन्ता' में जीवनके प्रति पश्चात्ताप और क्षोभकी भावना है। मनोवैज्ञानिक आधारपर लिखी गई 'प्रलयकी छाया' सम्भवतः भावाभिव्यक्तिकी शैलीकी दृष्टिसे कामायनीके अधिक समीप रक्खी जा सकती है। कमलाके जीवनका आन्तरिक द्वन्द्व अपनी दुर्बलताओंमें बड़ा ही मार्मिक और प्रभावशाली है। प्रसादकी प्रतिनिधि रचनाओंमें उसे सहज ही लिया जा सकता है। इसके चित्र बड़े भाव गहन हैं।

'कामायनी' प्रसादकी ऐसी कृति है, जिसे हम उनके कवि-व्यक्तित्वका प्रतीक कह सकते हैं। इसके विषयमें विद्वानोंकी अलग अलग धारणाएँ हैं, जिन्हें हम संक्षेपमें कह देना चाहेंगे। हिन्दी काव्यको संस्कृतके लक्षण ग्रन्थोंकी कसौटी पर कसनेवाले समीक्षक 'कामायनी' को महाकाव्य नहीं मानते। किन्तु केवल महाकाव्य न होनेसे किसी काव्यकी उत्कृष्टतामें सन्देह नहीं किया जा सकता। मैं मानता हूँ विश्वके सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों—इलियड, पैराडाइज लास्ट, रामायण, रघुवंश आदिकी तुलनामें प्रसादकी कामायनी, एक महाकाव्य नहीं है। किन्तु प्रश्न यह है कि हम महाकाव्यके आधारपर उसकी परीक्षा करना क्यों आवश्यक समझते हैं? क्या बिना महाकाव्यका निर्माण किए कोई महाकवि नहीं हो सकता? शेक्सपियर और रवीन्द्र दोनों ही विशिष्ट श्रेणीमें आ जाते हैं। 'कामायनी' मुख्यतया गीतिकाव्य की ही शैलीमें लिखी गई है, और उसमें गीति तत्वकी प्रधानता है। जीवनके एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न को उसमें कविने लिया है किन्तु 'कैनवास' कुछ छोटा पड़ गया है। शायद इसीलिए उसमें व्यापकता का घनत्व अधिक है। 'कामायनी' पर नवीनतम आरोप दुरूहता और स्पष्टताका लगाया जाता है। यदि

यह छोड़ भी दिया जाय कि कभी कभी थोड़ी सी रहस्यमयता और स्पष्टता काव्यका एक अनिवार्य गुण होते हैं, तो इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि प्रत्येक नये काव्यको समझनेमें कुछ कठिनाई होती है। शायद टी० एस० इलियट आज भी साधारण पाठकके लिए दुरूह है। कारण स्पष्ट है। नई परम्पराको जन्म देनेवाले कविके प्रतीक, भाव सभी नये होते हैं। वह अपने व्यक्तित्वसे उन्हें गढता है। उसके कृतित्वको समझनेके लिए हमारी पूरी मानसिक तैय्यारी होनी चाहिए। कामायनीके पीछे विभिन्न दर्शनों और चिन्तनधाराओंकी जो प्रेरणा भूमि है, उसका भी ध्यान रखना होगा। सम्भव है 'कामायनी' में दो-चार स्थल ऐसे हों, जहाँ कवि अपनी अभिव्यक्तिको बहुत स्पष्ट न कर सका हो, अन्यथा सम्पूर्ण कृति प्राणवान और प्रभावशील चित्रोंसे सज्जित है। श्रद्धाके सौन्दर्यांकनमे प्रसादकी प्रतीक योजनाकी शक्ति देखी जा सकती है। शायद महत्वाकाक्षी कवि 'कामायनी' मे एक साथ इतना अधिक कह देना चाहता था कि उस सामग्रीका प्रयोग अनेक रचनाओंमे किया जा सकता था। वास्तवमें 'कामायनी' अपने युगकी चेतनासे अनुप्राणित काव्य है। नए मानवका संघर्षशील व्यक्ति उसमें प्रस्फुटित हुआ है। अपनी भावनाको अभिव्यक्ति देनेके लिए प्रसादने उसमें गीति काव्यकी सरस शैलीका अवलम्ब ग्रहण किया है। अपने चित्रकी सघनताके लिए उन्होंने प्रतीकोंकी योजनाकी है। उसमें नाटकीय तत्त्वका समावेश उसे मार्मिक बना देता है।

प्रसादने ऐसी शैलीका प्रणयन किया जिसकी हिन्दीमें कोई विशेष परम्परा नहीं थी, और उसका अनुकरण करनेका प्रयास तो कुछ कवियोंने किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। प्रसादकी शैलीको क्रमिक विकासमें देखनेसे उनके व्यक्तित्वका पूरा चित्र हमारे समक्ष आ सकेगा। 'चित्राधार' से 'कामायनी' तक आते आते उन्होंने बड़ी मजिलें तय कीं। धीरे धीरे उन्होंने अपनी चेतनाका प्रसार किया, अपने व्यक्तित्वका निर्माण किया, और अन्तमें ऐसे स्थल पर पहुँच गए जहाँ महान् कवि जाते हैं। छायावादकी प्रायः सभी प्रमुख विशेषताएँ प्रसादके काव्यसे पल्लवित और पुष्पित हुईं। अपने अनुभूति प्रधान काव्यमें उन्होंने बाह्य जीवनका समावेश कराया। इसके लिए अनेक छोटी छोटी कविताओंमें कविको अपनी चेतनासे संघर्ष करते हुए देखा जा सकता है। 'आंसू' के द्वितीय संस्करणमें जो परिवर्तन हुए थे, वे इस बातके प्रमाण हैं कि कवि अपने निरन्तर विकास-

में प्रयत्नशील है। प्रसादकी शैली रसकी उस धाराको विकासमें योग-दान देती है, जो जीवनकी गहराईमें उतरकर उन मानवीय मूल्योंका प्रकाशन करती है, जो अधिक स्थायी होते हैं। इस कार्यमें प्रसादको कालिदाससे सम्भवतः सबसे अधिक प्रेरणा प्राप्त हुई। वे अपनी शैलीमें अन्तर-बाह्य, आदर्श-यथार्थ सौन्दर्य-जीवन आदिका समन्वय कर सके और प्रतीकोंको जन्म दे सके।



कामायनीमें कामतत्व

—करुणापति त्रिपाठी—



कामायनीकी अभिनव दृष्टि

"कामायनी" आधुनिक युगकी ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति है जिसकी रचना किसी भी भाषाके साहित्यमें शताब्दियोंके अनन्तर हुआ करती है। इसमें कविकी नवनवोन्मेषशालिनी काव्य-प्रतिभाकी मर्मग्राहिणी शक्तिका अद्भुत उन्मीलन हुआ है। मानवता और मानवीय प्रकृतिके रहस्यों और मूलभूत प्रवृत्तियोंका अत्यत सूक्ष्म परिचय और व्याप्तिकी गाथा इसमे गायी गयी है। मानव-जीवनके बौद्धिक भावात्मक और क्रियात्मक अशोका अतीव मनोरम चित्र अकित करते हुए उनमें सामजस्य और समन्वय स्थापित करनेका सकेत किया गया है। इसीके साथ-साथ मानव जगत्की उन आदिम प्रवृत्तियोंकी क्रीड़ा भी कामायनीमें दिखाई देगी जिनके वशीभूत होकर मानव आदि-कालसे अपने जीवनका सामरस्य, सतुलन खोकर वैषम्य एव तज्जन्य क्षोभसे अपने जीवनको युग-युगसे अशान्त बनाता चला आ रहा है।

कामायनीमें जहाँ एक ओर हृदय और मन, कर्म और बुद्धि, ज्ञान और क्रिया, शरीर और आत्मा, वासना और सहज आकर्षण, नर और नारी, त्याग और ग्रहण, पत्नीत्व और मातृत्वके बीच सतुलन स्थापित करनेका अपूर्व काव्यात्मक प्रयास किया गया है वहीं दूसरी ओर दर्शन और जीवन, विज्ञान और मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक दृष्टि और व्यावहारिक आचारके सतुलन द्वारा मानव-जीवनकी पूर्णताका चित्र निर्मित करनेका प्रयास किया गया है। इसीके साथ-साथ आदिकालीन मानव वृत्तियोंको लेकर, आदिकालीन मानव गाथाको लेकर सघर्षपूर्ण आधुनिक युगका विश्लेषण करते हुए कामायनीकारने पुरातन अद्यतन युगको एकत्र आबद्ध कर दिया है।

मनु और श्रद्धाके रूपमे, प्राचीन गाथाके माध्यमका सहारा लेकर, उन्होंने आधुनिक—कमसे कम भारतीय—नर नारीकी अत्यन्त सजीव और

स्वाभाविक प्रतिमा निर्मित की है। अनेक भारतीय दर्शनों, आगमों एवं उपनिषदोंके तत्वज्ञानके प्रकाशमें, वैदिक एवं पौराणिक कथाओंसे वस्तु-बीज लेकर प्रसादजीने कामायनीके कथा-प्रबन्धका रेखाचित्र प्रस्तुत किया और कविकी काव्यमय उर्वर कल्पनाके मनोरम-रंगोंमें कामायनीका हृदयहारी चित्रांकन हुआ है। काव्यके इस साहित्यिक एवं भावुक चित्रमें मानवके भाव-मय मानसाञ्चलका, उसके भाव-जगत्की भावना—मूर्तियोंका जैसा मनोहारी एवं स्वाभाविक विश्लेषण किया गया है, वैसा अन्य काव्योंमें दुष्प्राप्य है।

मानवीय कामनाओं, वासनाओं, इच्छाओं और भावनाओंका उद्घा-टन और श्रेय-साधनाकी ओर उसकी उन्मुखताका भव्य पर साथही रस-मय उद्घाटन करनेमें कविको पूर्ण सफलता मिली है। कामायनीकी कदाचित् यह सबसे बड़ी विशेषता है कि प्रेय मार्गके मध्यमसे श्रेय मार्गकी साधनाका स्वरूप उन्होंने प्रस्तुत किया। यद्यपि जीवनके भारतीय आदर्शोंके रूपको ही उन्होंने मानव-जीवनका आदर्श स्वीकार किया और श्रेय-साधनाकी रूढ़ि-प्रतिष्ठाके रूपमें कामायनीका सर्जन हुआ तथापि उनके द्वारा प्रतिष्ठापित रूढ़ि, ह्रासोन्मुख एकाङ्गी अन्धपरंपराका अव्यावहारिक अनुसरण न होकर वर्त्तमान जीवनके सुस्थिर विश्लेषणका परिणाम है। मानवके अद्यतन जीवनका विश्लेषण करते हुए उन्हें जो ऐसी मूल विषमताएँ उपलब्ध हुईं, जिनके असंतुलन-जन्य विक्षोभसे मानव-जीवनका सागर आलोड़ित, सामञ्जस्य-हीन तथा सामरस्य-विरहित हो गया है, उसका प्रसादजीने निदान किया। और उसी निदानके आधार पर पुरानी मूलभूत आदर्श स्रोतोंकी रूढियोंके अभिनव, युगानुरूप ग्रहणीय रूपको जीवन्त, व्यावहारिक स्वरूपमें प्रतिष्ठित किया है। उनकी प्राचीन पर अभिनव जीवन-मान्यताएँ चिन्तन-सवलित अनुभूतिकी उपलब्धियोंके रूपमें सर्वतोमुखी जीवन-दर्शनका सन्देश देती हैं।

क्यों कि कामायनीका मनोवैज्ञानिक आधार प्रयोग-प्रौढ, अनुभव-प्रेरित एवं सुविकसित है। उसका जीवन-दर्शन निवृत्तिमय न होकर व्यावहारिक जीवनकी आधार-शिलापर निर्मित है। उसमें जहाँ एक ओर दार्शनिक मनन अन्तर्निहित है वहीं दूसरी ओर जीवनके दृश्य एवं व्यवहार-सापेक्ष्य समस्या-ओंके प्रति जागरूकता भी है। दूसरे शब्दोंमें, प्रेय-समन्वित श्रेय-साधना द्वारा व्यवहार-दृष्टि और आध्यात्मिक चिन्तनको मानवके जीवन-तन्तुमें गूंथ दिया गया है। इसी कारण प्रसादका आनंदवाद आध्यात्मिक और जागतिक-उभय

दृष्टियोंकी समस्याओंका सतुलित समाधान उपस्थित करता है। और इसी लिए पूर्वयुगके साधनात्मक रहस्यवादियोंके समान इस कृतिमें प्रतीकात्मक एव गुह्य पद्धतिका अनुसरण नहीं किया गया है। और इसी कारण प्रवृत्तिवादी या निवृत्तिवादी साधकों अथवा धर्माचार्योंके समान कामायनीकी आदर्शोपलब्धि परंपरानुसारी रूढि-ग्रस्त न होकर नवयुगकी यथार्थ एवं वास्तविक प्रवृत्तियों का विश्लेषण और समाधान प्रस्तुत करती चलती है।

अपने इसी वैशिष्ट्यके कारण कामायनीका कलाकार जहाँ एक ओर दार्शनिक एव धार्मिक परपरानुसारी मान्यताओंके रूढि-ग्रस्त सकुचित दृष्टिसे मुक्त होकर अभिनव सदेश देता हुआ आता है, वहीं दूसरी ओर काव्य और साहित्यकी परपराभुक्त सर्जनाके बंधनोंको तोड़कर रहस्यवादी, प्रेममार्गी, रीतिवादी अथवा छायावादी काव्य-परपराके बीचसे अभिनव काव्यमार्गका निर्माण करता है। रहस्यवादी सन्तोंके समान प्रसाद न तो अनाहत नाद और सहस्रार चक्रके अमृत-वर्षणके चक्करमें फँसते हैं, न प्रेमाख्यानक कवियों की विशुद्ध रहस्यमय सत्ताके निर्गुण सौन्दर्यानन्दमें मतवाले हो जाते हैं, न भक्तोंके समान लोक-लाज छोड़कर गिरिधर गोपालकी मधुरलीलामें लीन होकर सांसारिक जीवनादर्शको भूल जाते हैं, न रीतिवादियोंकी भाँति नायिका की ललित चेष्टाओंको ही जीवन-साध्य मानकर उसीमें आत्मार्पण करते हुए अष्टयामकी चर्यामें निरत होनेका सदेश देते हैं और जीवन की जीवन्त समस्याओंकी उपेक्षा करके कल्पना-निर्मित लोकमें विचरण करते दिखाई पड़ते हैं।

अपनी कामायनीमें प्रसादने आधुनिक जीवनकी समस्याओं और विषमताओंको समझनेका प्रयास किया है। जिन वैषम्योंके कारण मानवका जीवन अपना सतुलन खोकर अन्तर्बाह्य सघर्षोंकी क्रीड़ा-भूमि बना है, उनके मूल कारणोंको समझने और समझानेका प्रसादजीने यहाँ प्रयास किया है। उनका निदान मानवताके ऐसे प्रश्नोंसे सबद्ध है जो शाश्वत हैं, मानव-जीवनकी आदिम अवस्थासे चले आ रहे हैं, ज्ञान-विज्ञानके विकासयुक्त इस आधुनिक युगमें और भी विकराल हो गए हैं। इसी कारण उनका समाधान भी, उनकी चिकित्सा-पद्धति भी साप्रतिक युगके अनुरूप है, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवन-दर्शनके साथ सतुलित है। कामायनीमें उनके जीवन-दर्शनकी आधार-भित्ति मानवताकी भूमिपर प्रतिष्ठित है। इस कारण प्रसादकी कामायनी वास्तविक अर्थमें अभिनव-दृष्टि-सपन्न आधुनिक एव नवीन काव्यदर्शन है।

प्रसाद मानते हैं—"काव्य आत्माकी संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञानसे नहीं है। वह एक श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कोंसे और विकल्पके आरोपसे मिलन न होनेके कारण आत्माकी मनन क्रिया जो वाङ्मय रूपमें अभिव्यक्त होती है, वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्यके उभय लक्षण प्रेय और श्रेय—दोनोंसे परिपूर्ण होती है।" (काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ० १७) आगे वे (पृष्ठ २२ में) कहते हैं—"जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है।" ..."और यही वाणी (काव्यात्मक श्रव्य साहित्य) आत्मानुभूतिकी मौलिक अभिव्यक्ति है।" इस प्रकार प्रसादकी दृष्टिमें स्वात्माकी संकल्पात्मक अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति काव्यकला है और वह है, 'अनुभूतिमयी प्रतिभाका स्वयंपरिणाम'। उस मौलिक अनुभूतिकी प्रेरणाको प्रसाद सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक मानते हैं। फलतः उनकी दृष्टिमें उस श्रेयमयी सौन्दर्य-सत्ताकी अभिव्यक्ति भी रमणीय होती है।

श्रेय, प्रेय और सौन्दर्य—इन त्रि-तत्वोंके संतुलनसे जिस काव्य-निर्माणकी चर्चा प्रसाद करते हैं, उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति, सूक्ष्म और स्थूल, भौतिक और आध्यात्मिक व्यावहारिक और दार्शनिक—उभय प्रकारकी जीवन दृष्टियोंका समन्वय परिलक्षित होता है। इसीके परिणाम-स्वरूप आलोच्य काव्य-रचना वास्तविक जीवन-दर्शन है एकांगी नहीं। ऐसे आध्यात्मिक चिन्तन या निवृत्ति-मार्गका कामायनीमें कोई स्थान नहीं है जो भौतिक उपादानों से उद्भूत, भूतकणोंसे आकलित और भौतिक वृत्तियोंसे आवेष्टित मानवकी उपेक्षा करे और न ऐसे प्रवृत्तिमार्गी जड़वादी भौतिक दृष्टिका ही इसमें अनुसरण है जो मानवको जड़भूत अणुओंके आकस्मिक संयोगका आकस्मिक परिणाम मानकर सूक्ष्म या आध्यात्मिक मानवात्माकी अवहेलना करे। दोनोंके समन्वित स्वरूपका—मानव जिनका उत्कृष्ट संश्लेषण है—आकलन जीवनका वास्तविक दर्शन है, वही मानव जीवनकी समरसता है, वही मानव-जीवनका साध्यभूत आनंदवाद है और वही कामायनीका भी प्रतिपाद्य है। मानवका शाश्वत और क्षणिक आराध्य यही आनन्द है, जिसका आविर्भाव कणकण-व्यापी आनन्दमय परम सत्ताका ही सर्वकालीन स्वरूप है।

कामायनी इस संदेशका उद्घोष करती है अपने प्रेयतर काव्य-पद्धतिसे। दर्शन और शास्त्र, विज्ञान और मनोविज्ञान या तो अपनी रूढ़िभुक्त शैलीमें

प्रतिपादन करते हैं अथवा प्रयोग-रुक्ष नीरस प्रणालीसे। पर मनीषी कविने प्रेयसवलित श्रेय साधनाका काव्यके प्रेयतर मार्गसे प्रतिपादन किया है। किंतु प्रेयतर काव्यमार्गका अनुसरण करते हुए भी उन्होंने मानव-जीवनके उपादान-भूत बुद्धि और भाव—द्विविध तत्वोंका जीवनमें स्थान और महत्व निर्धारित किया और उनके संतुलनका संकेत वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिककी भाँति किया है। अपने इस विश्लेषणमें उन्होंने भौतिक विकास या सृष्टिकी उत्पत्तिका भी मूल स्रोत ढूँढनेका प्रयास किया है। कामायनीमें काम उसी मूल शक्तिके रूपमें, सृष्टिकारिणी पराचितिके रूपमें अंकित हुआ है। इस धारणाका संकेत नीचेकी पंक्तियोंसे स्पष्ट आभासित होता है—

वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
अपने आलसका त्याग किए,
परमाणु-बाल सब दौड़ पड़े,
जिसका सुंदर अनुराग लिए।

कुंकुम चूर्ण उड़ातेसे मिलनेको गले ललकतेसे,
अंतरिक्षके मधु उत्सवके विद्युत्कण मिले भलकते से।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ, प्रारंभ माधुरी छायामें,
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी मतवाली अपनी मायामें।"
"कर रही लीलामय आनंद, महाचिति सजग हुईसी व्यक्त,
विश्वका उन्मीलन अभिराम, इसीमें होते सब अनुरक्त।"

भारतीय निगमागमोंमें कामका स्थान

ऋग्वेद संहिताके युगसे ही कामका, कामके लौकिक और भौतिक रूपका ही नहीं वरन् उसके व्यापक और गौरव-पूर्ण तथा सूक्ष्म स्वरूपका महत्व स्वीकार किया गया है—

"काम स्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्,
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदा प्रतीष्या कवयो मनीषा॥"

उस परम आदि निर्विकार सत्तामें प्रथम स्फुरण कामका ही हुआ, उसीसे समस्त सृष्टिका आरंभ होता है—

"सोऽकामयत बहुस्यां, प्रजायेय।"
"काममय एवाय पुरुषः।"
"एकोऽबहु स्याम्। बहुधा स्याम्"

आदि उपनिषद्-वाक्योंमें उसी कामकी चर्चा हुई है। उस निर्विकार सत्तामें कामका यही प्रथम स्फुरण समस्त सृष्टिका कारण है। एक, अद्वैत सत्ताने नर-नारीके रूपमें, युग्म या मिथुनके रूपमें अपना विभाजन किया—

"आत्मैवेदमग्र आसीत् स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स है तावानास यथा स्त्रीपुमाँसौ सम्परिष्वक्तौ········ आत्मानं द्विधापातयत्।" (बृहदारण्यकोपनिषद्।) कहनेका साराश यह कि भारतीय संस्कृतिके वैदिककालसे काम आध्यात्मिक अथवा सूक्ष्म रूपमें सृष्टिका कारणभूत मूल तत्व माना जाता रहा है।

सृष्टिका मूल कारण उस परमचितिमें आदि कामभावनाका स्फुरण है। अतः यह समस्त सृष्टि कामज है। इसीलिए प्रवृत्तिमार्गके तीन पुरुषार्थोंमें—धर्म, अर्थ और काममें—कामका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आजके इस वैज्ञानिक युगमें भी तीनमेंसे दो पुरुषार्थोंकी—धर्म और अर्थकी—महत्ता प्रतिष्ठित है। मार्क्स द्वारा प्रवर्त्तित या प्रचलित दर्शनमें अर्थकी प्रमुखता और फ्रायड के दर्शनमें कामकी विशिष्टता स्वीकृत ही है। पर वस्तुतः 'काम' और 'अर्थ'—दोनो ही प्रवृत्ति मार्गके प्रमुख साध्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। सकुचित अर्थमें काम दाम्पत्यभाव या द्वन्द्वज सुखका द्योतक है और व्यापक अर्थमें अर्थैषणा, धनैषणा या सुत्तसम्पत्तिवित्तैषणा—सब कुछ उसी कामका ही रूप है। अतः तात्विक दृष्टिसे विचार करनेपर जीवनमें अर्थ और काम अथवा काम ही सर्व-प्रमुख या एकमात्र पुरुषार्थ है। और धर्म, रूढ अर्थमें, सकुचित अर्थमें चाहे जो कुछ भी हो, पर व्यापक अर्थमें 'काम'—पुरुषार्थका ही नियन्त्रक है। काम-प्रवाहको वह ऐसी पद्धतिसे ले चलनेका साधन है जो जीवनको संतुलित, समरस, वैषम्यहीन बनाए रखे।

इसीलिए कहा गया है, धर्मसे ही अर्थ और कामकी समुचित आराधना होती है, इसलिये धर्मका सेवन करो। 'धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्नु सेव्यताम्।' कहनेका आशय यह है कि मानव-जीवनको सुखी, समृद्ध एव स्वस्थ बनाए रखनेके लिए यद्यपि धर्मको भारतीय सस्कृतिने प्रधान पुरुषार्थ कह दिया है तथापि मनन करनेसे उसका तात्पर्य यही प्रतीत होता है वह कामोद्भावनाके निरंकुश, असंतुलित अथवा स्वच्छंद वेगका नियन्त्रकमात्र है। कामकी और अर्थकी समाराधना ऐसी होनी

चाहिए जो नियन्त्रित हो, जीवनधाराको क्षुभित और विषमगामी न बनावे। कामाराधन ऐसा हो जो जीवनके अन्य समस्त अंगोंको निगल न जाय वरन् समस्त अवयवोंको एक सूत्रमें आबद्ध करके उनके भीतर अपना मन्द प्रवाह बहाते हुए सबको सरस तथा सजीव बनाए रखे।

शैवागम और शैवशाक्त उपनिषदोंमें भी इस व्यापक रूपका निर्देश—कामायनीके आनदवाद और दार्शनिक आधारमें जिनकी सहायता ली गई है—कामके इस स्वरूपका संकेत, यत्रतत्र बिखरा दिखाई देता है। 'कामकला-विकास में बताया गया है कि त्रिपुरसुन्दरीका ही पर्याय कामकला है। और त्रिपुरसुन्दरी या कामशक्ति महेश्वरकी आदिशक्ति है जिसके कारण सृष्टिका, समस्त चराचरका विकास होता है। वह पराशक्ति शिवशक्तिके समागमसे स्फुट होती है, वही बीजाकुररूपिणी है।

"सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीज शिवरूपविमर्शनिर्मला दर्शः॥
स्फुटशिवशक्तिसमागमबीजांकुररूपिणी पराशक्तिः।
शिवशक्तिमिथुनपिण्डः कवलीकृतभुवनमण्डलो जयति।"

शिवशक्ति-मिथुनके इस पिण्डने सकल भुवन-मडलको कवलीकृत कर रखा है। वह काम कमनीयताके कारण काम है—"कामः कमनीय-तया"•। वह तात्त्विक या मूल निर्विकार रूपमें प्रकाशस्वरूप परम शिव है और स्फुटेच्छा-शवलित रूपमें महेश्वर है, आनदमय, सृष्टि-समुद्भावक शक्ति या सत्ता है।

इसी कारण इन आगमोंमें कामेश्वर-कामेश्वरीका परम तत्वके रूपमें वर्णन है, जिसके अंकमें आद्या त्रिपुरसुन्दरी स्थित है—

"आसीना विन्दुमये चक्रे सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
कामेश्वराङ्कनिलया····· ·· ······ · ····· "

शैवागममें कामेश्वर-कामेश्वरीकी महनीयता तथा गरिमा यद्यपि बहुत वर्णित है तथापि उस विषयमें इतना ही यहाँ कहना पर्याप्त है कि 'काम' वस्तुत निर्विकार परमशिवके अनतरका वह रूप है, जिसमें सृष्टिलीलाके स्फुरण के आरम्भिक लक्षणोंका पूर्वाभास होने लगता है। और कामशक्तिसे समन्वित वह सत्ता इदताकी द्वैतभावनासे सवलित होती है, 'इद' का विमर्श उसमें स्पदित होने लगता। और तब सृष्टिकी आविर्भावलीलासे समन्वित होकर वही महेश्वर हो जाता है। अर्थात् आदि काम-प्रधान होनेपर परमशि

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर हो जाता है। जहाँ काममयता उद्भूत रहती है, शब्द-प्रयोगमें कामभाव—प्रवृत्ति-निमित्तक होता है तब उसे हम 'काम' कहते हैं और जब आनन्दमय, मंगलमय परमसत्ता का सर्वकर्तृत्व प्रवृत्ति-निमित्त रहता है तब उसे हम महेश्वर कहते हैं। शैव-दर्शन परम्पराके प्रसंगमें इसी सदाशिवकी शक्ति त्रिपुर-सुन्दरी या त्रिपुरा बताई गई है—"सदाशिवशक्तेः त्रिपुरायाः" (त्रिपुरतापिनी-उपनिषद्) शिव इसी शक्तिके संयोगसे ईश्वर, सर्वकर्तृत्व संपन्न होता है—श्रीगुरुः, परमशिवः, तस्य स्वातिरिक्तप्रपञ्चसर्गस्थिति-भङ्गकरणकारणभूता शक्तिः तया योगतः खलु ईश्वरत्वं भजति।" (भावनोपनिषद्-भाष्य) इसी कामसे उत्पन्न काम-कला, श्रद्धा या त्रिपुरसुन्दरी है, त्रिपुरोंमें कामायनीके ज्ञान क्रिया-इच्छा-स्वरूप त्रिबिन्दुओंमें-सामरस्य-कारिणी मंगल-विधायिनी श्रद्धा है। महेश्वर सृष्टिकर्त्ता हैं और काम तथा रति उनकी शक्तियाँ हैं जिनके योगसे सृष्टिका उद्भव होता है। कुछ लोग 'अहंता' को काम और इदंताको रति मानते हैं—विमर्श परामर्श भी कहते हैं। काम-रतिके द्वन्द्वसे उत्पन्न त्रिपुरसुन्दरी कामकला, सृष्टि-स्थिति-प्रलयका संचालन करनेवाली शक्ति है।

इन बातोंकी चर्चा करते हुए एक बात यहाँ स्पष्ट कह देना अत्यंत आवश्यक है। कामायनीमें किसी पात्र या सिद्धान्तका निरूपण या चित्राङ्कन विशुद्ध रूपसे किसी दर्शन या आगमकी रूढ परंपराको लेकर चलता है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। शैवागमकी बहुत सी मान्यताओं और धारणाओंका स्वीकरण कामायनीमें किया गया है। बहुतसे तत्व भी, सिद्धान्त भी गृहीत किए गए हैं। किन्तु, वैदिक संहिताओं, उपनिषदों, पुराणों और भारतीय दर्शनोंके विचारोंकी छाया भी कामायनी पर पर्याप्त पड़ी है। यह अवश्य है कि शैवागमकी सहायता सबकी अपेक्षा प्रमुख रूपसे ली गई है, उसकी अनेक बातें और सिद्धान्त भी लिए गए हैं। पर सर्वथा साम्प्रदायिक रूपमें शैवागमका पूर्णानुसरण ही इसमें नहीं है। अतः साम्प्रदायिक रूपमें सब कुछके विश्लेषणसे कामायनीकी रमणीयताका वास्तविक परिचय नहीं मिल सकता। 'काम'का ठीक-ठीक स्वरूप समझने के लिए सरस एवं साहित्यिक पद्धतिका अनुसरण करना चाहिए।

कामका व्यापकत्व

वैसे कामको कुछ लोग परमशिवकी स्वतन्त्र इच्छा कहते हैं, कुछ महेश्वर-मनका पर्याय बताते हैं, और कोई अहंता—इदंतासे सम्पन्न

महेश्वर कहते हैं। इसी प्रकार अनेक तर्क-वितर्क द्वारा कामके रूपका विचार-निर्धारण करनेकी चेष्टा की गई है। पर वस्तुतः कामका वह भाव सकलित बुद्धि-सगत रूप यहाँ दिखाया गया है जिसका प्रभाव जड़-चेतन सर्वत्र परिव्याप्त है। आदि सत्तामें एकसे अनेक होनेकी कामनाके रूपमें जिसका प्रथम उन्मेष, हुआ, ईश्वरका वही रूप काम है। और तबसे एकका अनेकके रूपमें विकास चिरकालसे चला आ रहा है। एक वटबीजमें उस कामशक्तिका विकासोन्मुख अकुरण देखा जा सकता है। एक लघु बीज विशालतम वृक्षमें परिणत होकर विशालवृक्ष-जनक कोटि-कोटि फलों बीजोंका अखड प्रवाह बहाता चलता है।

आदि शक्ति होनेसे उस कामकलाका निरतर गतिशील विकास सर्वाङ्गीण रूपसे सवर्द्धनशील भी है और सर्वग्रासी भी। उसकी व्याप्ति सीमाके अन्तर्गत मानवसे लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतगतक ही नहीं वृक्ष-लता, फलफूल सभी कुछ आते हैं। स्थावर-जगम, चर-अचर सभी काम के प्रभावसे विजित रहते हैं।

"जे सजीव जग चर-अचर, नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि, भए सकल बस काम॥
सबके हृदयँ मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहि तरु साखा।
नदी उमगि अँबुधि कहुँ धाई। सगम करहिं तलाब तलाई॥
जहँ अस दसा जड़न कर बरनी। को कहि सकहि ,सचेतन करनी॥
पशु पच्छी नभ जल थल चारी। भए काम बस समय बिसारी॥
मदन अँध व्याकुल सब लोका। •• •••• •••••••••• • • ।"

वस्तुत. गोस्वामीजीने जिस स्थितिका वर्णन करते हुए कामके व्यापक और सर्वग्रासी प्रभावके वर्णनमें कहा है—

"दुइ दड भरि ब्रह्माण्ड भीतर कामकृत कौतुक अयम्"—वह कौतुक स्थूल या सूक्ष्म रूपसे सर्वत्र ओतप्रोत है। सन्तोंकी निर्गुण भक्तिमें, सूफियोंकी प्रेमपीरमें, वैष्णवोंकी नवधा भक्तिमें उसी कामका, प्रेमका व्यापक एव उन्नयनीकृत रूप जीवको ईश्वरतक पहुँचाने वाला है। कामायनीके रहस्य और दर्शन सर्गोंमें भी उसके परमार्थ--साधक रूपका विलास लक्षित होता है—इसकी चर्चा आगे होगी। कामका वासना--चेष्टित, आवेग-प्रेरित, असतुलित स्वरूप समस्त सासारिक सघर्षों, पीड़ाओं और उद्वेगोंका कारण होता है और

उसका समरसतापादक संतुलित स्वरूप मानव जीवनके चरम साध्य, शाश्वत आनंदका भी साधक होता है।

कामके असंतुलित रूपसे ही क्रोध-लोभादि षड्रिपुओंका जन्म होता है, संमोह होता है, बुद्धि-विभ्रम होता है और अन्तमें, विनाशके अतल गर्तमें मानव जा गिरता है। कामका अर्थ यहाँ काम सामान्यसे भी है, पंच ज्ञानेन्द्रियों और मनके समस्त विषयोंसे भी है और नर-नारीके द्वन्द्व-सुखसे भी है। काम-सामान्य और काम-विशेष, स्थूल काम और सूक्ष्म काम, सबका नियन्त्रण आवश्यक है। उसका त्याग, पूर्ण परित्याग या जीवनसे पूर्ण विरक्ति वस्तुतः सृष्टि-प्रवाहके विपरीत जानेका प्रतीप-प्रयास है। पर साथ ही उसका विवेकहीन असंतुलित अन्धानुसरण भी जीवनमें प्रलय ले आता है। अतः वह मानवका आराध्य है, पर संतुलित रूपमें। उसका प्रभाव सर्वव्यापी है, पर हितकर रूपमें तभी जब जीवनोपादानके अन्य तत्वोंके पारस्परिक संयोजनको वह संतुलित बनाए रखे।

कामके इस सर्वव्यापी रूपको ही फ्रायडने संसारकी मूल और सर्वतोधिक शक्तिमती वृत्तिके रूपमें लिया है। इसीलिए फ्रायडके कामकी व्याप्ति आबालवृद्ध सर्वत्र दिखाई देती है। किन्तु फ्रायडने उसे भौतिक ही रूपमें मनोविज्ञानीकी भाँति देखा। उसके आध्यात्मिक पक्षको अपनी सीमासे बाहर ही छोड़ दिया। पर भारतीय चिन्तकोंने युग-युगसे कामके व्यापक, अमूर्त, अनङ्ग एवं आत्मयोगी रूपका विवेचन किया है। फ्रायडने भी कामवृत्तिके सब्लिमेशन, उन्नयनसे मंगलविधानको स्वीकार किया पर दार्शनिक धरातलतक उन्होंने यात्रा न की।

प्रसादने जीवनके व्यापक, सृष्टिसे प्रलयतक व्याप्त, आदिम युगसे आजतकके विस्तारमें कामके प्रभाव और उसके परिणामका चित्रण किया है। कामायनी देखनेसे यह स्पष्ट दिखाई देता है।

कामातिचारका परिणाम—प्रलय

देव-सृष्टिके अवशेष मनु हिमगिरिके उत्तुंग शिखरपर बैठे चिन्ताकातर होकर प्रलय-प्रवाह देख रहे हैं। वह चिन्ता कर रहे हैं उस अतीतकी जिसमें कल्पवृक्ष-संपन्न अमरपुरीके निवासी सुख-विलासमें डूबे हुए थे। देवताओंका वैभव, विलास और सुखाराधन अबाधगतिसे जीवनका उन्माद लिए बहता रहता था—

"चलते थे सुरभित अचल से,
जीवनके मधुमय निश्वास।
कोलाहलमें मुखरित होता था,
देव-जातिका सुख-विश्वास।
सुख, केवल सुखका वह संग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ इतना,
छायापथमें नव तुषारका
सघन मिलन होता जितना।"

मोहमयी विलास-मदिरा पीकर देवोंको अपनी अमरताके दम्भमें अटल विश्वास दिखाई देता था। स्वयं देव होनेके कारण वे कामोपासनाके मंगल-विधायक रूपको भूलकर अतिचारी हो उठे थे। उनके अतिचारसे आक्रांत धरणी काँप-काँप उठा करती थी—

"कँपती धरणी, उन चरणोंसे
होकर प्रतिदिन आक्रान्त।"

और कामके इसी निर्बाध निरंकुश आराधनके कारण—

"हुई इसीसे
कड़ी आपदाओंकी वृष्टि।" जो वृष्टि प्रलयकारिणी बन ऐसे विध्वंस कारी वेगको बहानेवाली बनी कि उसीमें सब कुछ बह गया—

"गया सभी कुछ गया मधुरतम
सुर - बालाओंका शृङ्गार,
उषा ज्योत्स्ना सा यौवन स्मित
मधुप - सदृश निश्चित विहार।"

प्रसादजीने 'चिन्ता' सर्गमें प्रलयके कारणोंका विश्लेषण करते हुए यह दिखाया है कि दानव-सृष्टिके विनाशके बाद देवत्वकी स्थापनाके उद्देश्यसे महाशक्तिने अनन्त शक्ति-सम्पन्न चिर किशोर वयवाले देवोंका निर्माण किया था। पर देवगण अपने वैभव और सुख-साधनोंकी सघन छायामें कामके उस प्रकाशमय रूपको भूल गये जो सृष्टिके शिवमय आनन्द रूपका विस्तार करने चला था।

देव गण बन गये नित्य विलासी। कामातिचारके प्रखर प्रवाहमें पड़कर वे विलास और उपभोगको ही जीवनका सर्वस्व समझ बैठे। उनके जीवनमें वासनापूर्ण नृत्य, गीत, अभिसार, अप्सरा संगम, अनंग-पीड़ाका मदिर लास्य,

सोमसुराकी उपासना, अनन्त कामतृष्णा और उसका अनियन्त्रित संतर्पण—यही सब जीवनका चरम साध्य और आराध्य बन गया था।

दुर्दाम वेगसे बढ़ती हुई विलासमयी कामोपासना और अतर्प्यवासनाके संतर्पणका प्रवाह अप्रतिहत और विषमगतिसे बढ़ता गया। फलतः मूलशक्ति इस एकाङ्गी और अतिचारपूर्ण विषमाचरणसे विक्षुब्ध हो उठी।

देवोंका एकाङ्गी और कामतुलका आराधक जीवन सृष्टिचक्रको गतिमय बनाए रखनेवाला सन्तुलन खो बैठा। शिवविधायिनी कला असन्तुलित हो उठी और भीषण प्रलयने कामातिचार-जन्य, विलासिता-संतर्पणसे समुद्भूत असहनीय विक्षोभको छिपानेके हेतु अपने जलांचलमें समस्त सृष्टिको विलीन कर लिया।

मनु यह सब चरित देख चुके थे। देवताओंके अतीत वैभवकी मधुमय क्रीड़ा, निरर्गल विलासोपासना, उपभोगका एकान्त आराधन, कामना-संतर्पणका नाटक, उसका भीषण परिणाम एवं देवसृष्टिका महाविनाश देख चुके थे। और आज विलास-साधक संश्लिष्ट पंचभूतोंका विश्लिष्ट ताण्डव देखकर चिन्तादग्ध हो रहे थे।

इसी आत्मविश्लेषणमें पड़े-पड़े मनुने देखा धीरे-धीरे घटते हुए प्रलय प्रवाहको। प्रलयकी भीषण कालरात्रि 'जलमें अन्तर्निहित हुई।' आशा-स्वरूपा नवसृष्टिमयी उषाकी आलोक किरणें दिखाई पड़ने लगीं। अपनी अमरताका दम्भ पहले ही मनुके हृदयमें नष्ट हो चुका था। उन्होंने सृष्टि-विधायिनी कामशक्तिकी परिवर्त्तनकारिताको देखा और समझा सबको परिवर्तनके पुतले—

"देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्त्तनके पुतले।"

उन्होंने समझ लिया कि विश्वदेव, सविता, सोम, मरुत, पवमान—आदि सभी परिवर्तनके पुतले हैं और महेश्वरकी सृष्टि-संचालिनी कामशक्तिके प्रभावसे ही अपने पथपर चलते रहते हैं। सिर झुकाकर उसीकी सत्ता-प्रभुता सब स्वीकार करते हैं। सृष्टिका सर्जन करनेवाला काम अनन्त रमणीय है, विश्वदेव है। सर्व-प्रेरक, सर्व-संचालक होकर भी उसका अस्तित्व अदृश्य बना रहता है—

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो भार विचार न सह सकता ।
हे विराट् ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान"—

उस रहस्यमय कामकी व्यापकताके साथ-साथ मनुके हृदयमें स्पृहणीयता का उदय होता है। वही काम मनुके अन्तरमें अनुभूति कराता है कि आशोदयके साथ-साथ—

"जीवन ! जीवनकी पुकार है, खेल रहा है शीतल दाह",

और तब "किसके (उसी मंगलमय सृष्टि-प्रवर्तक) चरणोंमें नत होता नव प्रभातका शुभ उत्साह।

मैं हूँ (अहंताका रूप-विशेष) यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानोंमें।

मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभके गानोंमें।"

चिन्ता-जर्जर मनु स्वस्थ हो उठे, लुब्ध नयनोंसे प्रकृति-रम्यता निहारने लगे और कामका स्फुरण पुनः होने लगा—

"नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान,
चिर परिचित सा चाह रहा था,
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।"

मनुमें नवोदित सहचर-कामनाने उन्हें श्रद्धाका दर्शन कराया और—

"एक झिटका सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे से"

और तब उनके कामप्रेरित कुतूहलने 'उन्हें मौन न रहने दिया। श्रद्धाकी वह सर्वविजयिनी रम्य सुषमा—"नित्य यौवन छविसे दीप्त' थी, वह—"स्पर्शके आकर्षणसे पूर्ण, प्रकट करती ज्यों जड़में स्फूर्ति" सी प्रतीत हुई। फिर भी मनुने देवों द्वारा कामोपासनाकी विफलताका वर्णन करते हुए अपनेको निरुपाय, निरुद्देश्य, असहाय, उद्भ्रान्त और विस्मृतिका अचेत स्तूप बताया। पर इसके साथ ही कामकी प्रेरणाके कारण साहचर्यके लिए आगत श्रद्धा 'वसंतकी अग्रदूती-सी, नखतकी आशा-किरण-सी, कोमल हृदयके कविकी कान्त कल्पना-सी प्रतीत हुई और उसकी वाणी' सुमनको मधुमय सन्देश सी देती सुनाई पड़ी।

श्रद्धाने मनुकी विरक्ति देखी और देखा उनके अवसादको जिससे आक्रान्त हो कर वे जीवनसे हताश हो रहे हैं। अतः कामजन्या श्रद्धाने कहा—

"हृदयमें क्या है नहीं अधीर, लालसा जीवनकी निःशेष?
कर रहा वञ्चित कहीं न त्याग तुम्हें, मनमें धर सुंदर वेश।
दुःखके डरसे तुम अज्ञात जटिलताओंका कर अनुमान,
कामसे झिझक रहे हो आज, भविष्यत्से बनकर अनजान।"

मनुको देखकर श्रद्धा समझ रही है कि देव-सृष्टिके ध्वंसको देखकर मनु कामके अनिष्टकर अन्तसे त्रस्त हैं। दुःखकी ज्वालाका मूल उन्होंने कामको ही मान लिया। असंतुलित और निर्बाध कामातिचारकी विध्वंसकता वे न समझ पाये। उन्होंने यह न समझा कि अतर्पणीय भोग लालसा, वासनामय कामका सतर्पण तथा कामक्रीड़ाका अतिचार वस्तुतः प्रलयका कारण था। काम मंगल-सर्जन कर सकता है और करता भी है, पर साथ ही उसका अतिचार विध्वंसकारी हो जाता है। वह एक दुधारी तलवार है। लीलामय महाचेतनकी वह ऐसी सप्राण एवं जीवन्त शक्ति है जो अभिरम्य विश्वका उन्मीलन भी करती है, मंगल-मण्डित श्रेयपथको भी प्रशस्त बनाती है, उसका विषम अतिचार त्याज्य है। उसका संतुलित, समरस ग्रहण जीवनकी सफलता है—

"कर रही लीलामय आनंद, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्वका उन्मीलन अभिराम, इसीसे होते सब अनुरक्त।
काम मंगलसे मंडित श्रेय सर्ग, इच्छाका है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।"

निष्क्रिय पड़ी हुई महाचितिमें जागरणमयी सक्रियता ही काम है। वह महाचेतनका उद्बोध है। उसका तिरस्करण-सृष्टि-प्रवृत्त आनन्दमय महेश्वर का तिरस्कार-सा है।

देव सर्गके विनाश-कारणोंका विचार करते हुए मनु, जिसे जगत्की पीड़ाओंका मूल कारण समझ कर जीवनका अभिशाप मान बैठे थे, वह काम वस्तुतः ईश्वरका रहस्यमय वरदान है। और उसका रहस्य है उसकी सन्तुलित उपासना, समरस आराधना—

"जिसे तुम समझे हो अभिशाप जगतकी ज्वालाओंका मूल;
ईशका वह रहस्य वरदान, कभी मत जाओ इसको भूल,

विषमताकी पीड़ासे व्यस्त, हो रहा स्पंदित विश्व महान्,
यही सुख-दुःख-विकासका सत्य, यही भूमाका मधुमय दान।"

स्पन्दनीभूत विश्वमें पीड़ाका आविर्भाव वैषम्य-जनित है। अन्यथा समरस कामोपासना, वस्तुतः भूमाका, अनन्त प्रचुरताका मधुरतम दान है। देवसृष्टिमें घटित भीषण परिणामकी चर्चा करनेपर श्रद्धा कहती है—

"हार बैठे जीवनका दाँव, जीतते मरकर जिसको वीर।" वह आगे कहती है—त्याग, विरक्ति या अवसादसे जीवन-प्रवाहमय सर्ग-सरिताका निर्माण नहीं होता, उसके लिये उमग-भरा कामना-तरंगित हृदय आवश्यक है—

"तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकाक्षासे है भरा सो रहा आशाका आह्लाद।
प्रकृतिके यौवनका शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल,"

इसी कामकी सप्राण चेतनासे अनुप्राणित होकर विधाताकी वह वरदानमयी वाणी सुनी जा सकेगी जिसमें वह कहता रहता है—"शक्ति शाली हो विजयी बनो"।

श्रद्धा आगे कहती है कि यदि देव परिणाम देखकर तुमने शिक्षा ग्रहण की है तो 'अग्रसर है मगलमय वृद्धि' और 'देव असफलताओंका ध्वस प्रचुर उपकरण जुटाकर पड़ा है'। उसीके द्वारा मानव-भावोंके सत्यके रूपमें चेतनाका सुंदर इतिहास लिखा जायगा। यदि तुम जागरूक रहकर कामोपासना करोगे तो "विधाताकी कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतलपर पूर्ण" होगी और देव, दैवी सृष्टि, जो नहीं कर पायी उसे मानवता पूर्ण करेगी—

"शक्तिके विद्युत्कण, जो व्यस्त विकल बिखरे हैं निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।"

यहाँ 'श्रद्धा' सर्गका उद्धरण कुछ अधिक इस लिए देना पड़ा कि कामयनीकी प्रमुख नायिका, रतिकामजन्या श्रद्धाको—जिसे कामायनी और कामकला भी कहा गया है—सबने माना है। उसीके नामपर महाकाव्यका भी नामकरण हुआ है। उसी श्रद्धाने आगे रहस्य सर्गमें ज्ञान, क्रिया और इच्छाके त्रिपुरोंको दिखाकर मनुको समझाया है कि "ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मनकी, एक दूसरेसे न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।" क्योंकि ज्ञान, क्रिया और इच्छा—ये त्रिपुर सनुलित समरसता स्थापित करने चले थे, पर फैलाते जा रहे हैं विषमता—

"सामंजस्य चले ये करने किंतु विषमता फैलाते हैं;
मूल स्वत्व कुछ और बताते, इच्छाओंको झुठलाते हैं ।"

जीवनकी यही विडम्बना आजके इस युगमें भीषण विषमयताके सर्जन द्वारा हमारे जीवनको दुःखकी सर्वग्रासी ज्वालासे दग्ध कर रही है। हमारे ज्ञान विज्ञानका, 'ज्ञान' पुरका, बुद्धि-शक्तिका विकास प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारोंके कारण तथा शास्त्रोंकी समुन्नतिके परिणामस्वरूप आज मानवकी शक्ति प्राचीन कल्पनाकी सीमाको लाँघती हुई उन्नतिके अनन्त लोकमें ऊपर उठती चली जा रही है। हम चन्द्रलोकमें उपनिवेश-स्थापनाका प्रयास देख रहे हैं, पृथ्वीसे सप्तर्षि-मंडलकी यात्राका स्वप्न निकट भविष्यत्में साकार होनेका अनुमान कर रहे हैं, मंगल-लोकको युद्धमें जीतकर भूतलका झंडा वहाँ फहरानेकी योजना सोच रहे हैं, पाताल लोककी अगाध संपत्ति हस्तगत करनेके प्रयासमें हैं। आज हमारा ज्ञान-विज्ञान वेगके साथ विकास-गिरिके उत्तुंग शिखरकी ओर बढ़ता चला जा रहा है।

पर जिस अनुपातमें हमारे ज्ञानलोक या बुद्धिका विकास हुआ उस अनुपातमें हमारे हृदय और उसकी वृत्तियोंका, 'इच्छा बिन्दुपुर' का विकास नहीं हुआ। यही मानवलोकके विकासकी विडम्बना है। इसीसे आज हमारा जीवन-संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष और महत्वाकांक्षाका रंगमंच हो रहा है। चारों ओर युद्ध, संघर्ष, चालबाजी और स्वार्थका साम्राज्य फैला हुआ है। इच्छा और ज्ञान तथा क्रियाका समरस विकास नहीं हुआ, इसीसे लिप्सा और तृष्णासे समद्भूत विक्षोभ मानवको अशान्त बनाए हुए है। अणुबम और हाइड्रोजन बमकी विभीषिकासे, अथवा उनसे भी भीषणतम संहारास्त्रके आतंकसे संत्रस्त मानवता कराह रही है। यह सब परिणाम है कामकी असंतुलित उपासनाका। देवोंके कामातिचारका भयंकर परिणाम देखकर भी मनुकी संततिने जीवनको संतुलित बनानेमें सफलता नहीं प्राप्त की। कामका नियन्त्रण और मंगलोन्मुख संचालन करनेमें वह आज भी असफल हो रहा।

इन त्रिपुरोंमें कामका प्रतिबिम्ब—इच्छालोक—एक प्रकारसे सबसे प्रमुख है। कर्मका सम्पादन क्रिया का व्यवहार इच्छासे ही प्रेरित होता है। और ज्ञान, इच्छाके उद्भावनका कारण होता है। पर कोरा ज्ञान क्रियाका साक्षात् जनक नहीं होता। हम जो कुछ इस संसारमें करते हैं उसकी प्रेरणा हृदयसे अथवा इच्छाकेन्द्रसे ही प्राप्त होती है। अतः सामान्य अर्थमें

'क्षणभरमें सब परिवर्तित अणु-अणु थे विश्वकमलके।
पिंगल परागसे मचले, आनद-सुधारस छलके।"

क्योंकि समरस, स्वच्छंद, प्रकाशमय प्रेमज्योति (कामकला) से निखिल विश्व प्रतिभासित हो उठेगा और अखड आनद छा जायगा—

"प्रतिफलित हुइ सब आँखें, उस प्रेमज्योति विमलासे,
सब पहचानेसे लगते, अपनी ही एक कलासे।
समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था,
चेतना एक विलसती आनद अखड घना था।"

साराश यह कि श्रद्धा या कामायनी वस्तुतः कामकी ही मगल-विधायिनी कलामूर्त्ति हैं। सच्ची मानवताके विकासार्थ महेश्वरने मनुसे उसका मिलन कराया और श्रद्धाने, 'श्रद्धा' सर्गमें ही 'ईश' के रहस्यव रदान, कामके सतुलित समरस उपयोगका सकेत कर दिया था। किन्तु सेवा सार श्रद्धाका समर्पण पूर्ण सहयोग पाकर भी मनु सजल, करुण ससृतिकी नैयाको दया, ममता तथा विराट् सौन्दर्यकी पतवारके सहारे खेनेमें समर्थ न हुए।

कामका लौकिक रूप

श्रद्धाने ईशके रहस्य-वरदानकी समस्याका समाधान उपस्थित कर दिया, पर मधुमय आनदकी निर्विकार चेतनाको वे कदाचित् देव-सृष्टिके अपने पूर्व सस्कारोके कारण समझ न सके। काम-प्रेरित प्रकृतिको उल्लासके साथ सहज पर निर्विकार गतिसे आकर्षणमयी सृष्टि-साधनाकी ओर अग्रसर होते देख कर भी उनकी आँखें न खुलीं। समस्त-सृष्टिमें उसके प्रभावको व्याप्त देखकर भी उसका वास्तविक रूप मनुके लिये और उन्हींके समयसे आजतक मानवके लिए नील आवरणमें छिपा हुआ दुर्बोध ही बना रहा। सृष्टि-निर्माणोन्मुख प्रकृतिके निखिल अणु जिसकी प्रेरणासे उल्लसित होकर अविरत लास्य कर रहे हैं, ऋण-धन - विद्युतकणोंके समान सर्गस्पृहासे आकृष्ट होकर मिलनके लिए तीव्र गतिसे दौड़ रहे हैं, वह सब कुछ और उनकी सौन्दर्यमयी कृतियाँ मनुके लिये रहस्य ही बनी रह गयीं। क्योंकि कामका ठीक-ठीक रूप, श्रद्धाके समझानेपर भी वे न समझ सके।

किन्तु उसको न समझने पर भी उसके मादक एव आकर्षक प्रभावके प्रखर प्रवाहमें प्रकृतिके साथ वे भी बह चले। निर्माण होने लगा। सौन्दर्यमयी चचल कृतियाँ अपनी मादक मोहकताको लिये हुए नाचती और मनु-

मनको आकृष्ट करती प्रतीत हुई। किन्तु मनु उसको ठीक-ठीक पहचान न सके—

"मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी, वह सबका छाया उलझन है।
सुदरताके इस परदेमें क्या अन्य धरा कोई धन है।"

जिस अहस्य, अमूर्त अनंगकी वृत्तिका संचरण मनुके जीवनमें व्याप्त अवसादको दूर करके समस्त प्रकृति-सृष्टिको आकर्षक मोहकतासे भर देता है, चन्द्र-तारक, नदी-नद, पवत-समुद्र, कुसुम-भ्रमर, स्थावर-जंगम—सभी जिसकी प्रेरणा से मधुमय आकर्षणकी मादकतामें बहे जा रहे हैं, उस जीवन धनका साक्षात् करनेकी दृढ भावनाको मनु हृदयमें तरगित पाते हैं। उस अनंग-पीड़ाका, कामप्रेरणाका भार उन्हें असह्य हो उठता है—

"जो कुछ हो, मैं न सम्हालूंगा, इस मधुर भारको जीवनके;
आने दो कितनी आती हैं बाधायें दम सयम की।"

पर स्थूल इन्द्रिय ज्ञानके उपासक मनुकी अतश्चेतना कामके तात्विक स्वरूपको समझनेमें असमर्थ ही रहती है। आकर्षणकी मादक सुषमा उनके लिये दुर्भेद्य ही रह जाती है। श्रद्धा द्वारा महाचितिके काम वरदानका रहस्य समझाये जाने पर भी उनकी समझमें नहीं बैठ पाता। श्रद्धाके ममतामय समर्पणसे उनकी भौतिक वासनामयी इन्द्रिय-लिप्सा अकुरित होकर तीव्र वेगसे पल्लवित-कुसुमित होने लगती है। देवोंके अपरिसीम तृष्णा-तर्पणसे भी अतृप्त मनसिज अपने विषम रूपको लिए हुए चिर तृषित होकर मनु-मानसमें आविर्भूत होता है—

"कौशल यह कोमल कितना है सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या?
चेतना इन्द्रियोंकी मेरी मेरी ही हार बनेगी क्या।"

और तभी कामका, विकृत विषमबाणका चीत्कार, सर्वग्रासी हाहाकार मनु सुनते हैं—

"पीता हूँ, हा पीता हूँ यह स्पर्श, रूप, रस गध भरा,
मधु-लहरोंके टकरानेसे ध्वनिमें है क्या गुंजार भरा।"

आगे चलकर वह पुनः कहता है—

"प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा, संतुष्ट ओघसे मैं न हुआ;
आया फिर भी वह चला गया तृष्णाको तनिक न चैन हुआ।

देवोंकी सृष्टि विलीन हुई अनुशीलनमें अनुदिन मेरे,
मेरा अतिचार न बंद हुआ उन्मत्त रहा सबको घेरे।
मेरी उपासना करते वे मेरा संकेत विधान बना
विस्तृत जो मोह रहा मेरा वह देव विलास वितान तना।
मैं काम रहा सहचर उनका उनके विनोदका साधन था।
हँसता था और हँसाता था उनका मैं कृतिमय जीवन था।"

जो अनादि वासना थी, वह आकर्षणमयी विकृत वासना बनी। उसका वास्तविक रूप, जो सृष्टिका प्रवर्त्तक होता है, जीवनमें कामज आकर्षण और स्थूल प्रेम बनकर विषमता उत्पन्न करने लगा। वैसे काम और रति सृष्टि-चक्रके प्रवर्त्तक थे—यौवनमयी शक्तिसे सृष्टि—संचालनकी योजना मूलशक्तिने बनाई थी—

"जो आकर्षण बन हँसती थी रति थी अनादि वासना वही,
अव्यक्त प्रकृतिके उन्मीलनके अन्तरमें उसकी चाह रही।
हम दोनोंका (काम रतिका) का अस्तित्व रहा उस आरंभिक आवर्त्तन सा
जिससे संसृतिका बनता है आकार रूपके नर्त्तन सा।
उस प्रकृति लताके यौवनमें उस पुष्पवतीके माधवका,
मधुहास हुआ था वह पहला दो रूप मधुर जो ढाल सका।"

रति-कामके इस संमिलनसे मानो मूल शक्ति उद्बोधित होती है, सृष्टिके अणु-परमाणु निर्माणके पथपर अपनी अनन्त मादकता, असह्य आकर्षण, अगाध मोहकता एवं अपरिमेय उल्लाससे दौड़ पड़ते हैं। देव-सृष्टिमें देवोंके कामातिचारके कारण अतृप्त तृष्णाने विनाश किया। अपने उद्देश्यमें असफल काम-शक्ति इधर-उधर भटकती पथ खोज रही थी। मनु और श्रद्धाके मिलनपर उसे आलम्बन मिला। जो विषमबाण आरंभिक वात्या उद्गम था, वह अपना ऋण शोध करनेके लिये, संसृतिकी प्रगति बनकर मानवकी शीतल छायामें आया—

"आरंभिक वात्या उद्गम मैं अब प्रगति बन रहा संसृतिकी,
मानवकी शीतल छायामें ऋण शोध करूँगा निज कृतिका।
यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम कला,
उसका संदेश सुनानेको संसृतिमें आई वह अमला।"

काम जन्या श्रद्धा असफल कामका संदेश सुनाने आई। ४६
कला या प्रेमकला जड़ चेतनाकी गोठ थी, भूल-सुधारोंकी सुलझन थी, जीवनके उष्ण विचारोंकी शान्तिमयी शीतलता थी। पर मनु उसे समझ न सके। श्रद्धाके समर्पणको वे अपने तृष्णाधिकारका साधन मान बैठे। यौवनकी जिस सहज वासनाने अधीर मनकी क्षोभमयी, उन्मादमयी अतृप्तिने दोनोंका मिलन कराया—उस मिलनको भावी मंगलके साधनरूपमें मनु न देख सके, उस मिलन-संगमसे मानवताकी एकीभूत त्रिवेणीको प्रवाहित न कर सके वरन् उसी मिलन-जन्य भोग-सुखको साध्य मान बैठे।

पतित्व और पत्नीत्वके संगमसे संसृतिके विकासकी कल्पनाको जन्म न दे सके। विश्वासमयी श्रद्धा नारीने सफल्याश्रुजलसे जीवनके सुनहले सपनोंको दानकर जीवनके सुंदर समतलमें पीयूषमदाकिनी प्रवाहित की और आँसूसे भींगे अंचलपर अपने मनका सबकुछ रखकर स्मिति रेखासे सधिपत्र लिखा उसको मनु श्रद्धाका उदार समर्पण निष्काम उत्सर्ग न समझकर नारीकी विवशता और अपना अधिकार मान बैठे। उनके पूर्व-संस्कार इसी अधिकार-लिप्साके साथ-साथ अँगड़ाइयाँ लेते हुए जग उठे।

अपने और मनुके प्रेममय संगमसे उत्पन्न मानवके प्रति जब श्रद्धाकी वात्सल्य कल्पना दुलार-प्यारसे परिपूर्ण होकर प्रेम-तरल हुई तभी मनु विषम कामोपासनाके कारण ईर्ष्यालु हो उठे। अपने ही बीजसे अंकुरित-पल्लवित भावी मानव बालतरुके प्रति श्रद्धाके सहज प्रेमको देख असहिष्णु हो उठे। अपनी ही सन्तान ईर्ष्याकी भित्ति हुई। वे उस अबलाको त्यागकर चल पड़े।

अपनी पुनरसफलतासे काम अत्यंत क्षुब्ध हो उठा। अपनी कन्याका मनुको दान देकर जिस मानवताकी शीतल छायामें मधुर सृष्टिका निर्माण करने चला था—वह वञ्चित होकर मनुको उसका मानवताका भविष्यत् बताता कह रहा है—

"मनु तुम श्रद्धाको गये भूल
उस पूर्ण आत्म-विश्वासमयीको उड़ा दिया था समझ तूल
तुमने तो समझा असत् विश्व जीवन धागेमें रहा झूल
जो क्षण बीते सुख साधनमें उनको ही वास्तव लिया मान
वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मतिका व्यर्थज्ञान
तुम भूल गए पुरुषत्व मोहमें कुछ सत्ता है नारीकी
समरसता है सबंध बनी अधिकार और अधिकारीकी

और इसे सुनकर, सत्य भर्त्सना सुनकर मनु काँप गए। अभिशप्त तापकी ज्वालासे उनका मन और शरीर भस्म होने लगा। कामने फिर कहा कि श्रद्धाने प्रणय-पूर्ण सरल हृदयसे ऐसा मान भरा जीवनदान दिया जिसमें निज-शान्त-प्रभासे ज्योतिमान चेतनता ही चेतनता थी। पर मनुने सुदर जड़ देहमात्र पाया और उसीकी विषम गरलधारासे अपना जीवनपात्र भरा। जलन, वासनाको जीवन-भ्रमतममें मनुने सबसे प्रमुख मान लिया।

और इसीसे कामने सफलताका भी होकर भी असफल होनेवाले कामने प्रजातत्रकी विकल बने रहनेका शाप दिया। इड़ा सर्गमें 'हो शाप भरा तव प्रजातत्र'—से लेकर छ-सात पदोंतक जो मानवताके लिए शापमयी भविष्य-द्वाणी की है वह आजके सघर्ष-युगका जीवन चित्र है। जिसका कारण बताया गया है—"कल्याण-भूमि यह लोक यही श्रद्धा-रहस्य जाने न प्रजा" और इसीसे नवयुगकी समस्त व्याधि ह्यमारी सी समस्त विश्वमें छाई हुई है।

अभिशप्त होकर भी मनु अपनी श्रद्धावृत्तिको उद्बोधित न कर सके। इड़ाके तर्क-वितर्कमयी इड़ाके प्रलोभनपूर्ण चित्रोंसे आकृष्ट होकर उसीके सकेतोंपर नाचने लगे। कामकी बारबार दी हुई चेतावनी और श्रद्धाके प्रतीकात्मक सकेतोंको भुलाकर विषम महत्वाकाक्षाके पीछे दौड़ने लगे।

परिणाम भीषण हुआ। अपनी कामशक्तिके असफल प्रयोगसे महेश्वर शिव भी क्षुब्ध हो उठे। निरकुश और अनियन्त्रित विषम कामोपासनाने मनुके जीवनको भीषण-प्रहारोंके आघात-प्रतिघातसे अद्यतन युगसा क्षतविक्षत बना दिया। और स्वप्नदृष्ट मनुकी दुर्दशा देखकर श्रद्धा अपने प्रेममय औदार्यका शीतल लेप लेकर उद्धार करने आ पहुँची। और अन्तमें एकबार पुनः भाग जानेवाले मनुको ढूँढकर कामायनीने सच्ची मानवताकी प्रतिष्ठाका पथ सकेतित किया।

इसी चिर-पुरातन आधुनिक युगकी व्याधिका समरसतापूर्ण कामोपासना द्वारा ममतामयी श्रद्धाके माध्यमसे प्रसादने कामायनीमें चिकित्सा निर्धारित की है। कामके इस तात्विक रूपको समझकर ही कामायनीका सदेश हृदयगम किया जा सकता है।

☆

प्रसादके नाटक



—नन्ददुलारे वाजपेयी—

प्रसादके नाटक हमारे नाट्य इतिहासमें सम्मानित स्थानके अधिकारी हैं। अपने पूर्वसे चली आती हुई पारसी रंगमंचकी परम्परा और भारतेन्दु-युगीन नाट्य कलाकी पृष्ठभूमिपर उन्होने जो विशिष्ट निर्माण किया उसकी विकास प्रक्रिया उनके नाट्य साहित्यमें अंकित है। डी० एल० रायने उन्हें नई दिशाका सकेत दिया जिससे हिन्दी संसार इस कालतक अपरिचित था और उनकी प्रकृति प्रदत्त स्वच्छंद मौलिक चित्त प्रवृत्तिने हिन्दी नाट्य जगतको एक नये मोड़पर ला खड़ा किया।

इतिहासकी घटनाओंका अनुवर्तन करनेमें पूर्ण स्वतंत्रताका उपयोग नाटककार नहीं कर सकता। प्रसादकी प्रतिभा इस कसौटीपर कसी जाकर ही निखरी। उन्होंने इतिहासका बंधन स्वीकार करते हुए भी ऐसे पात्रों और चरित्रोंकी योजना की जो शत प्रतिशत ऐतिहासिक नहीं है। नाटकीय पात्रोंमें व्यक्तित्व-स्थापन या चरित्र निरूपणका यह प्रयत्न हिन्दी नाटकोंके विकासकी ऐसी कड़ी है जो प्रसादको असाधारण महत्व प्रदान करती है।

स्वतन्त्र नाटककारकी हैसियतसे उनकी पहली विशेषता है उनका काव्यत्व। उनका कवि-व्यक्तित्व उनकी सारी कृतियोंमें उपस्थित है। वाक्यावलियोंमें प्रसाद शैलीकी छाप कुछ ऐसी लगी हुई है कि भ्रमकी संभावना ही नहीं। उनके संवादोंका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है जो साधारणतः किसी अन्य नाटककारकी कृतिमें नहीं मिलता। उनके चरित्रोंकी सृष्टि, विशेषकर उनका नायक प्रसाद जीके कवि जीवनके आदर्शोंका प्रतिनिधि है। उनके नाटकोंका साचा ही काव्यात्मक है और इसलिए कवित्व प्रधान भाषा और गद्य गीत शैलीके संवादकी रचना उनके लिए साधारण वस्तु बन गई है।

उनके नाटकोंकी दूसरी प्रमुख विशेषता उनकी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक उत्कर्षकी साधनाको दृष्टिपथमें रखकर निर्मित हुआ। उनका नाट्य साहित्य

अनोखी उचाइयोंपर पहुंच गया है। चद्रगुप्त नाटकमें बहुतसे पात्रोंका निर्माण उस कालके सास्कृतिक चित्रको सर्वांगीण एव पूर्ण रूपक प्रतिष्ठा देता है। फिर भी उन्होंने संस्कृतिके नामपर परम्पराका गुणगान अध-श्रद्धासे नहीं किया, सभी स्थलोंपर उसे 'ऐतिहासिक' आधारपर स्थापित करके ही स्वीकार किया है। उनके ध्रुव स्वामिनी नाटकमें विवाह-विच्छेदपर उनकी दृष्टि उन्हें स्पष्ट रूपसे सस्कृतिकी सजग द्रष्टा घोषित करती है।

प्रसादका तीसरा गुण है उनका ऐतिहासिक अध्ययन और इस विषयमें उन्होंने अपने समकालीन कलाकारोंको बहुत पीछे छोड़ दिया है। इद्रको सर्वप्रथम ऐतिहासिक सम्राटके रूपमें उपस्थित करते हुए वे एक नाटक लिखना चाहते थे किन्तु उनके असामयिक निधनसे यह कार्य न हो पाया। इतिहासकी विवादास्पद समस्याओंको सुलझानेका उनका प्रयास अपने क्षेत्रमें भी महत्त्वपूर्ण है।

उन्होंने सस्कृतिको विभिन्न मानवीय अर्जनका समन्वय माना जो कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं किन्तु विभिन्न क्षेत्रोंमें अर्जित मानव श्रमका नवनीत है। उनका कथन था कि भारतीय जीवन-दर्शनका आशावादी रूप समन्वयकी भित्तिपर आधारित होकर ही इतना उन्नत हो सका है। अतः जातीय जीवनके विभिन्न पहलुओंको विराट चित्ररूप देकर उपस्थित करनेका आग्रह उनके नाटकोंमें दिखाई देता है। जीवनके सभी क्षेत्रोंके उल्लेखका यह प्रयास जहाँ सास्कृतिक रूप दर्शनका श्रेय लेता है वहाँ रेखाचित्रों और रगोंके विनिमयका व्यापार नाट्य वस्तुको अतिशय शोभावान और आकर्षक बना देता है। किन्तु इससे कभी कभी नाटककी कथा वस्तुपर औपन्यासिक रंगत चढ जाती है। वस्तु-सकलनकी सीमाका अतिक्रमण इसी प्रक्रियाका परिणाम है।

प्रसाद जी मनोवैज्ञानिक शिल्पी थे; उन्होंने चरित्र निर्माणके क्षेत्रमें असाधारण कलात्मक सौष्ठवका परिचय दिया। उनका उत्कर्ष इसी क्षेत्रमें है और यह निर्विवाद सत्य है कि दूसरा कोई लेखक ऐसे निर्माणमें समर्थ नहीं हो सका। उनके नाटक भाव प्रधान या रस प्रधान नहीं हैं। श्रेष्ठ नाटकमें वस्तु, नेता और रसका समन्वय होना चाहिए। यह नाटकका आदर्श है जिसके समीप पहुँचनेकी साधना ही नाटककारका साहित्यिक श्रम है। प्रसादका सबल पक्ष चरित्र निर्माणका है, उन्होंने इस क्षेत्रमें अपने अद्वितीय साहित्यिक प्रतिभाका परिचय दिया है। उनकी चरित्र सृष्टिमें स्थिर एव चल दोनों

प्रकारके प्रतिनिधि हैं। स्थिर चरित्रोंके गुणोंका उभार नाटकमें नियोजित विभिन्न परिस्थितियोंकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप होना है, किन्तु चल चरित्रोंमें मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व और घात-प्रतिघातकी आवश्यकता होती है। पात्रोंकी मनोभावना अपने परिस्थिति चक्रसे संघर्ष करती है और इस प्रकार इस विरोधसे उनकी चरित्रगत विशेषताओंमें निखर आता है। ऐसे पात्र जीवन-संग्रामके सैनिक होते हैं जिनका क्षत विक्षत शरीर भी हमारी प्रशंसापर अनायास अधिकार कर बैठता है। नाटकोंकी पुरानी सृष्टियोंमें सद्वृत्ति परायण पात्र कभी दुश्चरित्र होते नहीं दिखाए गए हैं। दुश्चरित्रको सद्वृत्ति सम्पन्न करनेकी योजना भी कम ही है।

प्रसादके पात्र जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंसे आए हुए आत्म चेतनासे उद्वेलित संघर्ष रत व्यक्ति हैं और उनका चित्रपटल एक विशालताको अपनी सीमा रेखाओंमें बाँधकर चलने में समर्थ है।

प्रसाद द्विजेन्द्रलाल रायकी भाँति मध्ययुगीन सामन्ती परकोटेमें ही घिर कर नहीं रह गए। उन्होंने सुदूर अतीतके पात्रोंको अपनी पैनी दृष्टिसे परखा और उन युगोंकी समस्त सामाजिक एवं दार्शनिक-वैचारिक क्रांतियोंके साथ उन्हें हमारे समक्ष ला खड़ा किया। इतिहाससे संस्कृतिका ऐसा अपूर्व योग अन्यत्र नहीं मिलेगा। प्रत्येक नाटकमें प्रसादका मुख्य पात्र भारतीय संस्कृतिकी विकासोन्मुख धारा को प्रवाह देता है। वह युगकी सांस्कृतिक समस्याओंका प्रतीक भी है जिसके माध्यमसे नवनिर्माणकी सूचना प्रसाद हमें देते हैं।

प्रसाद जीके नाटकोंमें मनोवैज्ञानिक रहस्योद्घाटन भी विशेष महत्व रखता है। 'कामना' की रचना उनकी इस रुचिकी परिचायक है जिसमें सन्तोष एवं विवेकका व्यक्तीकरण करके घटना विरोध एवं नाट्य सुलभ संघर्ष द्वारा इन वृत्तियोंका उत्कर्ष दिखाया गया है। साहित्यकी इतिहास-दृष्टिके लिए यह बात महत्वपूर्ण सिद्ध होगी कि मनोवृत्तियोंको प्रतीकात्मक आवरणमें उपस्थित करके सुलझानेका प्रसादका यह प्रयास संस्कृतके प्रबोधचंद्रोदयके पश्चात सबसे गौरवशाली है।

प्रसाद जीने नाटकोंके समयकी अवधि अधिक रखी है किन्तु उसका उद्देश्य साहित्यमें इतिहासका यथातथ्य चित्रण और दीर्घ समयके अन्तर्गत चरित्रोंकी मनोवृत्तिमें होने वाले परिवर्तनोंका निरूपण है। अतः प्रसादका नाटकीय रंगमंच पात्रबहुल होनेके साथ-साथ समय-बहुल भी हो गया है।

नारी चित्रणमें प्रसादका कौशल सराहनीय है। उनकी नाटकीय नारियों-का अनुशीलन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर जहाँ नारीके आदर्शकी कल्पनाका स्वर्ग साकार है वहाँ उसका सम्पूर्ण मानवीय आकर्षण एव रमणीयतासे युक्त जगत् उद्घाटित है और साथ ही नारीका प्रतिरोध और प्रतिहिंसासे भरा रगस्थल भी दृष्टिपथमें आ गया है। उनकी नारी पुरुषोंकी भाँति वर्गके साँचोंमें ढलकर निमित नहीं हुई। पुरुष पात्रोंकी अपेक्षा नारी पात्रोंके चित्रणमें प्रसादने अधिक कलात्मक उत्कर्ष एव मनोवैज्ञानिक विशिष्टताका परिचय दिया है।

'विशाख' प्रसाद जीकी नाट्य कलाका शैशव प्रयोग है, उसकी अपरिपक्व टेकनीकको इसी दृष्टिसे देखना सगत होगा। उसमें गीतोंका बाहुल्य नाटकके गभीर प्रभावको कम कर देता है। प्राचीन आख्यानोंका 'प्रेम-त्रिकोण (एक नारी और उसके दो पुरुप प्रेमी) इसमें चित्रित है। जिसे इतिहासका जामा पहना कर पेश किया गया है। नेपथ्यका प्रयोग है जो आधुनिक दृष्टिसे त्याज्य है। कथानक या सवादोंके बीच बीच पात्र बोलते बोलते पद्यात्मक हो जाते हैं जिसको पारसी रग मचका प्रभाव कहा जायगा। भाषा एव सवादकी अनुप्रास योजना भी पारसी स्टेजसे आई है। राज दरबारके चित्रमें परम्पराका निर्वाह है। विदूषक सस्कृत नाटककी जीवनहीन प्रतिलिपि है। व्यग एव छींटाकशीमें पिष्टपेषण है। राजमहलके षडयन्त्रोंका दर्शन हमें तिलस्मी रहस्योंकी याद दिला देता है। चद्रलेखाको भूत प्रेत लीला द्वारा वशमें करनेकी वस्तु योजना प्रसादकी आरभिक नाट्य स्थितिका परिचय देती है। प्रेममूलक द्वद्वपर आधारित ऐसा वस्तु विकास प्रसादके परवर्ती किसी नाटकमें नहीं है।

विशाखकी वस्तु योजना जटिल नहीं सरल है और पर्याप्त रूपसे नाटकीय भी। घटनाएँ गतिशील हैं एव नाटकीय गुणसे परिपूर्ण। तीसरे अकका नाग जातिका आक्रोश और महल्को घेर लेनेका दृश्य प्रभावशाली है। चंद्रलेखा और विशाखका विरोध बड़ी शक्तिशाली सचाईसे है अतः आकर्षक है। हत्याओंकी योजना गभीर तत्वके अभावकी सूचक है। चरित्र चित्रणमें मनो-भावनाओंका वैशिष्ट्य नहीं दिखाया गया। प्रथम परिचयमें प्रेमका रोमान्टिक टेकनीक अपनाया गया है। विशाखकी निर्भीकता चद्रलेखाके प्रेमकी आधार शिला पर ही स्थित है और इस प्रेमकी सीढीको निकाल देनेपर विशाख आकर्षण हीन हो जाता है। विशाखके समान ही चंद्रलेखा भी प्रसादकी

मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालासे अछूती रही। उसकी चरित्र रेखाएँ विरल और भूली भूली सी हैं, उन्हें पुष्ट करना और उनमें रंग भरना आवश्यक था। यद्यपि चद्रलेखा ही समस्त नाटकीय घटना चक्रकी केन्द्र बिंदु है, परन्तु उसका व्यक्तित्व नाट्य-योजना द्वारा प्रस्फुट नहीं हो पाया। बौद्ध पात्र ऐतिहासिकताकी रक्षा करनेमें प्रहरीका कार्य करते हैं। प्रेमानंदपर आधुनिक युगके आदर्शोंकी छाया है।

'राज्य श्री' में प्रसादका नाटकीय वस्तु विन्यास एक कदम आगे बढ़ा है किन्तु नाटकमें विशिष्ट केन्द्र बिन्दुका अभाव, घटनाओंकी आकस्मिक विलक्षणता, और प्रेम त्रिकोण सूत्र यहाँ भी प्रसादके आरंभिक प्रयोगोकी सूचना देते हैं। शातिदेव अतृप्त वासनाओंका साधु है जो आगे चलकर विकट घोष दस्युका रूप धारण कर लेता है। ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व वाले पात्रोंकी योजना विस्मय लानेके लिए की गई है। सुरमाका चरित्र भी कौतूहलकी सृष्टि करता है। प्रेमियोंको मदोन्मत्त बनानेकी यह पद्धति 'मागंधी' में भी है। स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ तक प्रसाद अपनी तारुण्य वृत्तियोंको ही प्रस्तुत कर रहे हैं। अभी गाभीर्य और जीवनका बहुमुखी दृष्टिकोण तथा कर्त्तव्य-निष्ठा उद्भूत नहीं हुई है। बादकी नाट्य निर्माण शक्तिने प्रसादके नाटकोंको 'नाटक' (Heroic comedy) बनाया है। इन पिछले नाटकोंके प्रायः सभी पात्र एक गभीर स्तरपर विशिष्ट लक्ष्यको लेकर काम करते हैं। प्रसाद जीके आरभिक नाटकोंकी 'महापुरुष' या महात्मा विषयक प्रक्रिया भी राज्य श्रीमें उसी रूपमें है। विशाखके प्रेमानंदकी भाँति 'राज्यश्री' के दिवाकर मित्रका प्रवेश, उसका क्रिया कलाप तथा उसीके संसर्गसे नाटककी सुखात्मक समाप्ति, यह प्रसादकी आरभिक नाट्य योजनाका साँचा यहा भी पाया जाता है। राज्यश्रीका भाग्यजन्य उत्थान पतन विस्मयबोधक है। हत्याओंकी संख्या एव भौतिक संघर्षका बाहुल्य सीमाका अतिक्रमण करता प्रतीत होता है। चारित्रिक सघर्षके लिए ऐसी योजना आवश्यक नहीं। मानसिक और चारित्रिक सघर्ष उनके पिछले नाटकों में इस रूपमें आए हैं कि घटना प्रधान उछल कूद और शारीरिक संघर्षकी आवश्यकता नहीं रही है।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रसादके प्रारंभिक नाटक बौद्ध दर्शनके निवृत्ति परायण संन्यासमार्गपर आधारित हैं जब कि उनके बादके नाटक कर्त्तव्य-निष्ठ प्रवृत्ति-परायण संघर्परत और कर्ममार्गी चरित्रोंको प्रस्तुत करते हैं।

'अजातशत्रु' नाटकसे ही प्रसादका वास्तविक चरित्र चित्रण कौशल आरभ होता है। अजातशत्रु पात्र-बहुल नाटक है, तथापि उसमें कतिपय मार्मिक चरित्र रेखाकित हुए हैं। प्रखर और प्रस्फुट चरित्र चित्रणके लिए पात्रोंका आधिक्य बाधक होता है। अजातशत्रुमें प्रसादने अतर्द्वंदकी प्रणालीका भी प्रयोग किया है। श्रेष्ठ अतर्द्वंद अपने साथ घटनाचक्रोंका निर्माण करता चलता है किन्तु अजातशत्रुमें ऐसा कलात्मक सामजस्य-चरित्र और घटनाका सह-निर्माण नहीं हो सका है। विशेष परिस्थितियों में चरित्रगत परिवर्तन तो सभी नाटकोंमें संभव है, किन्तु एक ही क्षण पात्रके मनमें उठनेवाला विरोधी भावोंका उद्वेलन, जो नाटककी गतिशीलताका आधार भी हो, वास्तविक अतर्द्वंद है। अजातशत्रुका चरित्र भी उत्थान पतनकी रेखाओसे अकित है किन्तु यह चरित्र विकास अतर्द्वंदकी श्रेणीमें नहीं आ सकता। यह बाह्य घटना चक्रका परिणाम है आतरिक भाव-उर्मियोंके विद्रोहका नहीं।

पूछा जाता है कि अजातशत्रुका नायक कौन है? इस प्रश्नका उठना ही किसी श्रेष्ठ नाटककारकी कलाके लिए प्रशसनीय वस्तु नहीं है और कदाचित् यह प्रसादके चरित्र चित्रणकी एक कमीकी ओर सकेत करता है। अजातशत्रु धीरोदात्त पात्र नहीं है, अतः समीक्षक इस आधारपर सदेह करते हैं कि शास्त्रीय कसौटीपर नायक पूरा नहीं उतरता। किन्तु यह दृष्टिकोण न्याय-सगत नहीं क्योंकि जब प्रसाद जीने उस प्राचीन शास्त्रीय कलाको ही नहीं अपनाया, तब उनकी रचनाका मूल्याकन उसी पैमानेपर क्यों किया जाय? भारतीय नाटकका लक्ष्य रसकी सृष्टि रहा है और उसके लिए पात्रोंका द्वद्व अनिवार्य नहीं। किंतु पश्चिमी नाटकोंमें पात्र विरोधजीवी होते हैं और यही शैली अजातशत्रुके निर्माणमें प्रयोगान्वित हुई है। उसका चरित्र एक विरोधसे आरभ होता है और विरोध परिहारमें परिणत होता है। अतएव भारतीय लेन्सके सहारे यह विदेशी सृष्टि अस्वाभाविक उपज ही दिखाई देगी। दूसरा तर्क यह है कि अजातशत्रुके चरित्रमें वह प्रवेग नहीं जो एक नायकके लिए अपेक्षित है। उसमें आत्मशक्तिका अभाव है और वह प्रत्येक स्थितिमें एक अन्य पात्र द्वारा ही अनुशासित होता है। नायकमें ऐसी निरीहता उचित नहीं, उसमें कतिपय व्यक्तिगत विशेषताओंका होना आवश्यक है किन्तु अजातशत्रु मोमकी शलाकाकी भाँति भिन्न भिन्न साँचोंमें ढलकर रूप बदलता हुआ स्टेज पर एक नकारात्मक स्थिति ही ग्रहण करता है। इस दृष्टिसे उसके नायकत्वपर सदेह करना ठीक भी लगता है। किन्तु यह ध्यान

रखना चाहिए कि प्रसाद इस समय एक नई प्रणालीका अभ्यास कर रहे थे अतः कुछ दुर्बलताएँ और दोष आ गए हैं। अजातशत्रुमें प्रसादका उद्देश्य एक कुसंगतिमें पड़े राजकुमारका संस्कार और सुधार है। अनुचित प्रणालियोंसे पोषित एक राजकुमारका नवनिर्माण—यह लक्ष्य यथेष्ठ महत्वपूर्ण है और नाटकीय क्षमता भी रखता है। यह बात दूसरी है कि प्रसादने जो रूपरेखा उस पात्रको दी उसे वे पूर्णतः प्रभावशाली नहीं बना सके। यह भी संभव है कि प्रसाद उस पात्र विशेषको उपयुक्त व्यक्तित्व नहीं दे पाए किन्तु ये प्रासंगिक त्रुटियाँ हैं, मौलिक नहीं।

बिम्बसार और छलनाको भी नायक पद देनेका प्रस्ताव कतिपय समीक्षक करते हैं इसलिए कि बिम्बसार ही फलका भोक्ता है। छलना नाटकका घटना चक्र घुमानेवाली सबसे क्रियाशील चेतन और प्रभावशील नारी है। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नाटकमें संघर्षरत होकर फल प्राप्तिसे वंचित रह जानेवाला मुख्य पात्र नायकत्वसे नहीं हटाया जा सकता। बिम्बसार नाटकके मुख्य संघर्षका सैनिक नहीं और नाटकमें छलना भी परदेके पीछेसे ही अजातशत्रुको राजनीतिक उलझावोंमें नचाती रही है अतः निष्कर्ष स्पष्ट है कि अजात शत्रु ही नाटकका नायक है।

'स्कंदगुप्त' की कलाक्षमता प्रसादके अन्य नाटकोंकी अपेक्षा अधिक ऊँची है। कोरे राजनीतिक या ऐतिहासिक घटना चक्रके गुम्फनसे नाटकमें मानवीय मनोभावना नहीं आ सकती। प्रसादने यह तथ्य पूरी तौरपर स्कंदगुप्तमें ही समझा ऐतिहासिक एवं राजनीतिक पक्षके साथ ही साथ पारिवारिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्रोंका मिलाप करके समन्वय उपस्थित करनेकी चेष्टा प्रसादकी कलाको 'स्कंदगुप्त' नाटकमें विशेष महत्व प्रदान करती है।

चरित्र चित्रणमें पूर्ण नाटकीय विस्तार और व्यापकता है और काश्मीरसे लेकर लंका तकके पात्रोंकी उपस्थिति भारतभूमिकी विराट झाँकी देती है। ऐतिहासिक सत्यकी प्रमुखताने स्कंदगुप्तको नाट्य कलाकी दृष्टिसे थोड़ी हानि पहुँचाई है। चरित्र चित्रणका आधार सजीव विरोध है जिसके निर्माणमें कृतिके संतुलन और अंग विन्यासकी शिल्प क्रियाका श्रेय उनके राज्यश्री और अजातशत्रु नाटकोंके आरंभिक प्रयोगोंको है। स्कंदगुप्त जैसे पात्रका विजया और देवसेना दोनोंकी ओर झुका रहना और चुनावको शीघ्र ही निर्णीत न कर सकने की दुर्बलता दिखाना प्रसादके मार्मिक मनोवैज्ञानिक अनुभवका द्योतक है। देवसेना और विजयाका चारित्रिक संघर्ष स्वाभाविक एवं कलात्मक

चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन है। परम्पराकी लीकपर रखकर इन दोनों ही चरित्रोंको भले और बुरेकी दो बधी बँधाई कोटियोंमें नहीं रखा जा सकता।

'चद्रगुप्त' का कथानक महाकाव्यकी भाँति वर्षोंका समय लेता है। स्कदगुप्तकी भाँति उसमें चरित्रगत वैविध्य कम हैं। स्कंदगुप्तका दार्शनिकता मिश्रित वीरत्व जो उक्त नाटकके आकर्षणका आधार है इसमें नहीं है। चद्रगुप्तका चरित्र कोरे वीरत्वका उत्कर्ष लिए ऐसी भूमिपर खड़ा हो गया है जिसमें किसी प्रकारकी मनोवैज्ञानिक और नाटकीय अभिसधिके लिए अवकाश पाना कठिन हो गया है।

चद्रगुप्तका टेकनिकल साँचा बहुत कुछ महाकाव्योचित है। चाणक्यका महत् व्यक्तित्व महाकाव्यके नेताकी भाँति विरोधी पक्षको बहुत अधिक शिथिल बना देता है। चद्रगुप्तके महाकाव्योचित औदात्यने नाटकीय सघर्षके विकासमें बाधा पहुँचाई है। चाणक्य और चद्रगुप्तके अपराजेय चरित्रोंके कारण नाट्य सुलभ अतर्द्वंद या घात प्रतिघातों द्वारा कथा वस्तुको अपेक्षित उलझाव एव गति नहीं मिल पाई है।

अजातशत्रुके समान इसमें नायिकाका पद भी साहित्यिक वाद विवादका विषय बन गया है। कार्नेलिया नाटकके आरंभमें आकर अपना परिचय देकर फिर अतमें एक बार ही अपने दर्शन देती है। नाटकके प्रमुख महत्व-पूर्ण स्थान पर वह अधिकार नहीं कर सकी है। इस दृष्टिसे सफलता अलका को मिली है। कल्याणीका प्रयास भी नाटकमें पर्याप्त दूरी तक सभावित नायिका पद पानेका रहा है। उसकी आत्महत्याका अंश अस्वाभाविक है। जान पड़ता है कि उसे अपना नायिकात्व कार्नेलियाको देनेके लिए ही ऐसा करने पर विवश होना पड़ा है।

चाणक्यकी असाधारण बौद्धिकताका सामजस्य उसकी प्रेम वृत्तिसे किए जानेका प्रयास भी कलात्मक कसौटीपर खरा नहीं उतर सका है, क्यो कि दो विरोधी तत्वोंके एक ही स्थलपर समाहार उपस्थित करनेके कलापूर्ण उपक्रम के लिए कथावस्तुमें जिस विस्तारकी आवश्यकता थी उसका निर्वाह चद्रगुप्तकी कथावस्तुमें संभव नहीं था। प्रसादका राक्षस मुद्राराक्षसके राक्षसके साथ एक समानान्तर रेखा पर खडे होनेमें असमर्थ है।

'चंद्रगुप्त' चरित्र प्रधान नहीं काव्योपजीवी नाटक है जिसमें भाव प्रवणता का पक्ष विशेष सबल और पुष्ट हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' नवीन शैलीका प्रयोग है। यथार्थवादी आलोचक उसमें विशेष संतोष लाभ कर सकनेमें समर्थ होंगे। समस्या नाटकके रूपमें यह 'इब्सेनियन' और 'शेवियन' प्रभाव प्रसादकी नाट्य सृष्टिकी नई दिशाका संकेतक है। अपनी प्रयोग कालीन अवस्थामें यह समस्या नाटकपूर्ण बौद्धिक जामा पहनकर नहीं आ सका है और नाटककारके विशुद्ध दार्शनिक या विचारकके रूपमें उपस्थित न होनेसे शैलीके इस प्रयोगने एक स्वतंत्र अस्तित्व ही ले लिया है। यह प्रसादकी प्रौढ कृति नहीं कही जा सकती क्योंकि इसका निर्माण स्कंदगुप्त और चंद्रगुप्तके विकास क्रमकी शृंखलाकी आगामी कड़ी नहीं है। किन्तु शैली विषयक एक स्वतन्त्र प्रयोग इसमें अवश्य है।

'जनमेजयका नाग यज्ञ' की कथा वस्तुका भार सभालनेका सामर्थ्य एक उपन्यासमें ही हो सकता था। नाटकके चौखटेमें वह लम्बे प्रकरणवाली बिखरी बिखरी दार्शनिकता सभल नहीं सकी है।

'कामना' और 'एक घूँट' मनोवृत्तियोंकी स्वाभागत विशेषताओंके उद्-घाटक नाटकीय चित्र हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादकी नाट्यकलाका विकास नाट्य प्रयोगशालाके अनुसंधान कार्य पर आकर रुक जाता है। यदि प्रसादजीके चिरस्मरणीय व्यक्तित्वको हमारे बीच रहकर कुछ दिनों और लेखनीका अधिकार मिलता तो कदाचित वे आजके बुद्धि-विशिष्ट समस्या चित्रोंको अपनी प्रयोग-शालामें परखकर नये रूपमें उपस्थित कर जाते और हमें भी, आजके अत्या-धुनिक नाटकको स्वदेशी निवासमें देखनेका अवसर मिलता।

प्रसादके नाटकोंका शरीर जहाँ पूर्ण साहित्यिक है, वहाँ उसका मन अनिवार्यतः ऐतिहासिक है और उसकी आत्मा विशुद्ध सांस्कृतिक है। इतिहास ने जो प्रश्न उठाए उनका समाधान उन्होंने साहित्यके माध्यमसे किया। अतीतके विशाल चित्रपट पर किया गया उनका यह अद्वितीय तूलिका भ्रम हिन्दी नाट्य इतिहासके पचास वर्षोंके लम्बे मार्गपर एक आलोक स्तम्भकी भाँति रहेगा और नाट्यकलाके नए पथिकोंका सदैव उपयोगी दिशाज्ञान देता रहेगा।

'प्रसाद' के नाटकोंमें चरित्र-चित्रण



— रामअवध द्विवेदी —

रोचकता 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकोंका विषशे गुण है। उनमें विविध घटनाओं और पात्रोंका समावेश हुआ है जिनके सकलनसे रोचकता आद्योपांत अक्षुण्ण रूपसे विद्यमान रहती है। जो लोग 'प्रसाद' के नाटकोंकी अभिनेयता-के सम्बन्धमें सदेह रखते हैं उनके लिए यह बात विचारणीय है। रगशालामें प्रेक्षकोंका ध्यान और उनकी रुचि यदि कथा-वस्तु और चरित्रों द्वारा नाटक-कार एकाग्र रूपसे प्रभावित कर सकता है तो यह बात उसकी सफलताकी द्योतक है। नाटककार 'प्रसाद' ने विशाल चित्र-पटपर विस्तृत चित्र प्रस्तुत किए हैं जिनमें आर्य जातिके सामाजिक और राजनीतिक जीवनके बहुत बडे अशका निरूपण हुआ है। सतत परिवर्तन-शील ये चित्र निरतर हमारी आँखोंके सामने आकर हमारे मनको आकृष्ट करते हैं। प्रभावोत्पादक घटनाएँ वैशिष्ट्य पूर्ण स्त्री और पुरुष-पात्र, असाधारण परिस्थितियाँ सभी क्रमशः सामने आती हैं अतः विविध-प्रभाव सकुल इन नाट्य-कृतियोंकी लोक-प्रियता समझनेमें तनिक भी कठिनाई न होनी चाहिए ! किंतु नाट्य-निर्माण पद्धतिकी दृष्टिसे 'प्रसाद' के नाटकोंके स्वरूपके सम्बन्धमें मनमें कुछ प्रश्न उठते हैं और उनका अन्तर खोजना आवश्यक प्रतीत होता है।

कथा-वस्तुके स्वरूप और स्वभावका विवेचन करते हुए आचार्योंने लिखा है कि नाटकका कथानक न तो चींटीकी तरह छोटा न ह्वेल मछलीकी तरह बड़ा होना चाहिए। कथानक बहुत बड़ा होता है तो पाठक अथवा दर्शकके लिए एक साथ उसका ग्रहण करना दुष्कर हो जाता है। अतः इस विषयमें मध्यम मार्गका अनुसरण ही उपयुक्त माना गया है। कथानकमें यदि अत्य-धिक घटनाओंका सकलन होता है तो उनके सगठन और सम्यक् नियोजनामें बाधा पड़ती है और फलत. प्रभावान्वितिकी हानि होती है। महाकाव्य और नाटक, अथवा कथा साहित्य और नाटकमें यही तात्विक भेद है। नाटकमें विविध उपकरणोंका सघन आकलन प्राप्त होता है और अनावश्यक विस्तारसे

नाटकोंका बचाना सदैव वांछनीय होता है। 'प्रसाद' के नाटकोंका विस्तार इतना अधिक है कि कभी-कभी यह आभास होने लगता है कि सारा आर्यावर्त अथवा उत्तरापथ एक रंगमंच बन गया है और बहुसंख्यक पात्र अपना अभिनय कर रहे हैं। यह विराट कल्पना है जिसके द्वारा हमारे मनमें चमत्कारकी सृष्टि होती है, किंतु संदेह केवल यह होता है कि इससे नाटकका यथोचित प्रभाव उत्पन्न होता है अथवा नहीं। चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, अजातशत्रु आदि नाटकोंमें तीन-तीन और चार-चार राजवंशोंके पारस्परिक सम्बन्धकी अभिव्यक्ति हुई है और कथानक एक राजधानीसे दूसरी राजधानीकी ओर अग्रसर होता हुआ दिखाई देता है। योरोपीय नाट्य-शास्त्रमें नाटकोंके भीतर स्थान और कालको सीमाओंके भीतर बाँधनेपर कुछ लोगोंने विशेष आग्रह किया है। यह सत्य है कि इन नियमों द्वारा नाटकके रूढ़िग्रस्त होनेकी आशंका सदैव बनी रहती है तब भी यदि उनको हम नाटकीय-निर्माणके सिद्धांतके रूपमें स्वीकार करें और विवेकसे काममें लायें तो उनसे लाभकी संभावना अधिक है। 'प्रसाद' के नाटकोंमें स्थान और समयकी एकताकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। प्रभावऐक्य किसी अंशमें सफलतापूर्वक समाविष्ट हुआ है किंतु यदि इन नाटकोंके कथानकको अधिक सीमित कर दिया गया होता तथा विविध अवयवोंको और घनिष्टतापूर्वक संघटित किया गया होता तो निसंदेह उनका प्रभाव अधिक सघन तथा व्यवस्थित होता। प्राचीन यूनानी कवि जब किसी बड़े कथानकको नाटकके साँचेमें ढालते थे तब समस्त उपलब्ध-सामग्री-को एक ही नाटकमें न बाँधकर तीन-तीन नाटकोंका समुदाय बनाते थे। इस परम्पराका वर्तमान शताब्दीके अनेक उपन्यासकारोंने प्रयोग किया है और इससे उनको अपनी कृतियोंमें सफलता ही मिली है। चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे नाटकोंके विशद आकार और विशृंखलित स्वरूपसे लाभकी अपेक्षा हानि ही अधिक हुई। पात्रोंकी संख्या अत्यधिक हो गई है। प्रमुख पात्र भी प्रत्येक नाटकमें कुछ आवश्यकसे अधिक ही हैं। इसका फल यह हुआ कि नाट्य-प्रणेता अनेक पात्रोंकी ओर सम्यक ध्यान नहीं दे सका है और उनका विकास उतना स्पष्ट नहीं हुआ है जितना होना चाहिए उदाहरणके लिए देव-सेनाका चरित्र लिया जा सकता है। स्कंदगुप्त नाटकमें देवसेना प्रमुख स्त्री पात्र है। किंतु उसके चरित्रकी रूप-रेखा नाटकके अंतिम अंशोंमें ही स्पष्ट होती है। इसके पूर्व देवसेना अपना प्रणय हृदयमें छिपाए बहुत कुछ मौन बनी रहती है, बोलती कम और गाती अधिक है। नाटकके अंतमें हम उसके मौन और उसकी गंभीरताकी सराहना भी करते हैं तब भी इस बातका

अनुभव होता है कि लेखकने देवसेनाके चरित्रको नाटकमें बहुत देर तक उतने गहरे रंगोंमें, और उतनी स्पष्टताके साथ नहीं प्रस्तुत किया है, जितना उसे करना चाहिए। राज्य श्रीके चरित्रके सम्बन्धमें भी बहुत कुछ यही बात सही है। धर्म और करुणाकी उज्ज्वल मूर्ति राज्य श्री नाटकके प्रारभ और अतमें अपने वास्तविक रूपमें दिखाई पड़ती है, किंतु बीचके अशोंमें वह नियति और परिस्थितिका खिलौना बनकर हतप्रभ और निर्बल होकर अकर्मण्य बन जाती है।

ऐतिहासिक नाटकोंमें चरित्र-चित्रण सबधी कुछ विशेष सुविधाएँ तथा सीमाएँ होती हैं। प्रमुख-पात्र इतिहासके व्यक्ति होते हैं और उनके स्वरूप से प्रायः सभी लोग कुछ न कुछ पूर्वसे ही अवगत रहते हैं। अतः लेखक की मौलिकता केवल इस बातमें दिखाई पड़ती है कि वह इन पात्रोंको प्रस्तुत करते हुए कुछ नवीन प्रवृत्तियों, उद्देश्यों तथा मानसिक अवस्थाओंका समावेश इस प्रकार करता है कि साधारणीकरणके अभीष्टकी सिद्धि होती है। इन्हीं मानवीय गुणोंके कारण दर्शक और नाटकके पात्रोंमें तादात्म्य उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ चाणक्यके चरित्रमें 'प्रसाद'ने सुवासिनीके प्रति स्नेहाकर्पणका समावेश करके उसमें एक ऐसी मानवीय विशेषता सन्निविष्ट कर दी है जिससे वह सर्वसाधारणके लिए आकर्षक बन गया है। इस प्रकारके सूक्ष्म-परिवर्तनके अभावमें पात्र केवल इतिहासके पुतले मात्र रह जाते हैं। दूसरी ओर यदि नाटककार इतिहासमें अकित पात्रों और उनके चरित्रको आमूल बदल देता है तब उस पर अज्ञानका दोप सहज ही लगाया जा सकता है। इसी मानदडसे 'प्रसाद' के नाटकोंके पात्रोंकी परीक्षा होनी चाहिए। प्रमुख-पात्र प्रायः सभी ऐतिहासिक महापुरुष हैं और उनके रूप खड़ा करनेमें लेखकको यथोचित सफलता मिली है। चाणक्य, चंद्रगुप्त, स्कदगुप्त, अजातशत्रु आदिका चरित्र-चित्रण सफलता और सुरुचिके साथ हुआ है। सबसे अधिक सफलता चाणक्यका चरित्र अकित करनेमें मिली है। इस देश-प्रेमी ब्राह्मण कूटनीतिज्ञके चरित्रकी समग्र शक्ति और दृढता भली-भाँति व्यक्त हुई है और साथ ही साथ तितिक्षा, त्याग, तथा स्नेहकी अतुल क्षमता के कारण चरित्रमे आकर्षक चमत्कारकी सृष्टि हुई है। उत्तरापथके राजनीतिक जीवनमें उथल-पुथल पैदा करनेवाला यह अहकारी ब्राह्मण समानरूपसे वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्योंसे प्रेरित हैं और कुशलतापूर्वक साम्राज्यों और गणतत्रोंके पारस्परिक सम्बन्धको बनाता और बिगाड़ता है। मानवमनमें हलचल पैदा करनेवाले प्रबल आवेगोंका चाणक्यके चरित्रमें सुन्दर उदात्तीकरण

हुआ है। चंद्रगुप्त तथा स्कंदगुप्तके बारेमें हम यह नहीं कह सकते कि उनका चरित्र-सर्जन चाणक्यकी भाँति सर्वथा सफल है। चन्द्रगुप्तमें धीरोदात्त और धीर ललित नायकोंके गुणोंका सम्मिश्रण है। उसमें प्रचुर शौर्य है किंतु नाटकमें आदिसे अततक वह चाणक्यके हाथका कठपुतला बनकर उसीके इशारेपर अपने महान कार्य करता है और इस प्रकार किसी अशमें उसका चरित्र चाणक्य द्वारा आच्छादित रहता है। जहाँतक उसके प्रणय-संबधोंका सवाल है वह कथा अत्यन्त दुखद है। कल्याणी उसके प्रति अपना प्रेम हृदयमे छिपाये हुए अतमें आत्महत्या करती है, और मालविकाका बलिदान तो रोमाचकारी है। पाठकके मनमें यह बात अनायास उठती है कि मालविकाके वधका जितना प्रभाव चंद्रगुप्तके मनपर पड़ना चाहिए उतना नहीं पड़ता और उसकी भावना इस दुर्घटनाके कारण पर्याप्त रूपसे आलोड़ित नहीं होती। इस भाँति चन्द्रगुप्तमें सहृदयताके अभावका ही आभास मिलता है। कार्नेलियासे उसका सबध प्रेम और राजनीति दोनों ही द्वारा निर्धारित होता है। अतः यह प्रेम विशुद्ध प्रेम नहीं है। स्कदगुप्तमें अतुल पराक्रम होते हुए भी न जाने क्यों 'प्रसाद' जीने उसके चरित्रमें एक उचाट और ग्लानिकी भावना सन्निविष्ट कर दी है। सकटापन्न परिस्थितियोंमें वह कार्यरत होकर कठिनाइयोंके साथ सघर्ष अवश्य करता है, किन्तु अनेक स्थलोंपर उसमें उत्साहका अभाव मिलता है और एक स्थलपर वह स्वयं कहता है कि मैं जर्जर हो गया हूँ। उसके स्नेह सम्बन्ध भी उलझे हुएसे हैं और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनका समझना कठिन है। अजातशत्रु अपनी माँके सकेतपर पला हुआ युवक है जिसमें विचारशीलता और समवेदना दोनोंकी कमी प्रायः अन्ततक बनी रही है। वाजिराके स्नेहसे उसका उद्धार और परिष्कार अचानक हो जाता है और इस प्रकार नाटक में बहुत सी कठिनाइयोंका परिहार होता है।

'प्रसाद'ने अपने नाटकोंमें कुछ ऐसे पात्रोंकी सृष्टि की है जिसका वस्तु-विन्यास अथवा कथानकके विकासकी दृष्टिसे अत्यधिक महत्त्व है। इन पात्रोंके हाथमें मानो उन्होंने कथाकी बागडोर दे दी है। चंद्रगुप्तमें चाणक्य, स्कद-गुप्तमें प्रपच बुद्धि, अजातशत्रुमें देवदत्त, राज्यश्रीमें शान्ति भिक्षु आदि घटनाचक्रको प्रमुख रूपसे घुमाते हैं और अनेक अन्य पात्र उनके इशारेपर कठपुतलीकी तरह अपना कार्य करते हैं। नाटकीय व्यवस्थामें इस बातको किसी अंशमें दोष ही माना जायगा क्योंकि इसे हम पूर्ण रूपसे आन्तरिक

विकास नहीं कह सकते। कथानक चरित्रों और घटनाओंके घात प्रत्याघातसे अग्रसर होना चाहिए और क्रियाएँ यन्त्रवत् किसीके तार खींचनेसे न सम्पन्न होनी चाहिएँ। नाटकमें कोई भी पात्र प्रेरणाके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। किन्तु जब वह नियति अथवा दैवी विधानका रूप-ग्रहण करता है तब नाटक विकृत होने लगता है और अन्य पात्रोंका व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। चाणक्यकी महत्ताके कारण चन्द्रगुप्त, सिंहरण, राक्षस, सभी छोटे दिखाई पड़ते हैं। इसी भाँति आदर्शों और उद्देश्योंपर बहुत अधिक आग्रह होनेपर भी चरित्र-चित्रणमें कठिनाई उत्पन्न होती है। अलका नाटकमें देशसेविकाके रूपमें अपना कार्य करती है। देश-प्रेम ही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। सिंहरणसे उसका प्रणय और विवाह भी देश-प्रेमसे सम्बन्धित है। इस भाँति अलका पाठकों तथा दर्शकोंके मनमें सदैव सम्मानकी भावना उत्पन्न करती है किन्तु साथ ही साथ इस बातका भी अनुभव होता है कि उसका चरित्र कुछ अर्थोंमें आवश्यकतासे अधिक आदर्श-बोझिल हो गया है। उसका जीवन मानों सीधा ताड़के पेड़की तरह ऊपर उठा है और शीतल छाया देनेवाली शाखायें और टहनियाँ उसमें फूट पाई हैं। यद्यपि मालविकाका चरित्र उतने विस्तारसे अंकित नहीं हुआ है, तब भी अलका की अपेक्षा उसमें अधिक कोमलता और वैविध्य है। इसी सदर्भमें अतर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्दका सवाल भी सामने आता है। कुछ विद्वानोंने इस बातपर जोर दिया है कि 'प्रसाद'के नाटकोंमें दोनो प्रकारके द्वन्द्व विद्यमान रहते हैं। पहली बात तो यह है कि सुखान्त नाटकोंमें अन्तर्द्वन्दका विद्यमान रहना अनिवार्य नहीं है क्योंकि अतर्द्वन्दकी कल्पना दुखान्त नाटकोंके सम्बन्धमें ही प्रमुख रूपसे की गई है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि बिना अन्तर्द्वन्द्वके दुखान्त नाटकोंकी सृष्टि हो ही नहीं सकती क्योंकि ऐसे दुखान्त नाटकोका नितान्त अभाव नहीं है जिनमें केवल बाह्य सघर्ष मिलता है। शेक्सपियरके दुखान्त नाटकोमें अन्तर्द्वन्द्व रहता है किन्तु यह सिद्धान्त हेगेलके पूर्व आजकी भाँति सर्वमान्य न था। दूसरी बात यह है कि अतंद्वन्द्व प्रबल मानसिक आवेगोंके शक्तिशाली संघर्षको ही कह सकते हैं। मनमें उठनेवाले सभी सकल्प-विकल्प अन्तर्द्वन्दकी सज्ञा पानेके अधिकारी नहीं हैं। इन बातोको ध्यानमें रखते हुए जब हम 'प्रसाद' के नाटकोमे अन्तर्द्वन्द्वकी खोज करते हैं तब हमें बहुत कुछ खाली हाथ लौटना पड़ता है। ऐसे अनेक स्थल हैं जब पात्रोंके मनमें दो विरोधी विचार और आदर्श साथ ही साथ उठ खड़े होते हैं। किन्तु भावोंका ऐसा प्रबल सघर्ष जिससे कुछ समयके लिये मनुष्यका

अस्तित्व आमूल हिल उठे, इन नाटकोंमें बहुत कम प्राप्त होता है। चाणक्य का मन दो-तीन अवसरोंपर सुवासिनीकी पूर्व-स्मृतिसे उद्वेलित हो जाता है। किन्तु कहीं भी प्रबल अन्तर्द्वन्द्वका निरूपण नहीं हुआ है। लेखकका अभीष्ट केवल यह था कि बड़े पैमानेपर वह सामाजिक और राजनीतिक शक्तियोंका द्वन्द्व अपने नाटकोंमें प्रदर्शित करे और इस कार्यमें उसको सफलता मिली है। इससे अधिक मनोवैज्ञानिक तथ्योंका आरोप इन नाटकों पर करना 'प्रसाद'के प्रति अन्याय है। मनोविज्ञानके जटिल प्रश्नोंकी ओर लेखकका ध्यान अनावश्यक ढगसे कभी भी नहीं गया है। इसीसे उसकी कृतियाँ जटिलता और दुरूहतासे बची रही हैं। मानसिक अवस्थाओंका अंकन केवल आवश्यकतानुसार सम्पूर्ण जीवनके सम्यक निरूपणके अभिप्रायसे हुआ है।

'प्रसाद'के नाटकोंमें स्त्री-पात्रोंका विशेष महत्व है। ये पात्र केवल बहु-संख्यक ही नहीं हैं वरन्, सामान्यतया हम कह सकते हैं कि कथावस्तुके अन्तर्गत उनका उतना ही अधिक महत्त्व है जितना पुरुष पात्रों का। मनोहारिता तो इन चरित्रोंमें है ही क्योंकि प्रायः सभीमें रूप और लावण्यका प्राचुर्य है। इसी भाँति सभी भावनासे ओतप्रोत हैं और सभीमें जीवन-शक्ति पग-पगपर लक्षित हुई है। संकटके समय साहस तथा प्रणय और मोहक संगीतकी क्षमता प्रायः सभीमें निहित है। किन्तु इससे भी अधिक विचारणीय बात यह है कि कार्य-परायणता, कुशलता, तथा कभी-कभी कूटनीतिमें भी ये पुरुष पात्रों से बराबर होड़ लेती हैं। अनेक अवसरोंपर पुरुषोंको प्रेरित करते हुए ये राजनीतिक द्वन्द्व तथा युद्धमें भी सक्रिय भाग लेती हैं। अलका तक्षशिलाके गुरुकुलसे मालव, मगध, पंचनद सभी राज्योंमे आश्चर्यजनक गतिसे पहुँचकर अपना कार्य करती है। स्त्रियाँ वेश बदलनेमें भी पटु हैं। उनका साहस और उनकी कार्यशीलता दोनों ही सराहनीय हैं। स्त्री और पुरुषकी अवस्था और सामर्थ्यमें समानताका यह आदर्श 'प्रसाद' ने अपने सभी नाटकोंमें प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक तथ्योंको ध्यानमें रखते हुए हम इस आदर्शको कहाँतक स्वीकार कर सकते हैं यह तो पण्डितोंके विचारनेकी बात है। हम तो केवल यह कहेंगे कि ये स्त्री पात्र मी मुग्ध करनेवाले हैं, रूप और चारित्रिक विविधतासे भी। प्रत्येक स्त्री-पात्रकी अपनी निजी वैयक्तिक विशेषता है। एक ओर तो अनन्तदेवी, सुरमा, नागभी, विजया ऐसी नारियाँ हैं जो अतृप्त वासना और भोग लिप्साके

दाहमें जलती रहती हैं। उनकी महत्वाकांक्षा और ऐन्द्रिक उपभोगकी आकांक्षा उन्हें सतत व्यथित करती रहती है। दूसरी ओर मल्लिका ऐसी देवी है जिसके व्यक्तित्वमें शान्ति और शीतलता मानों घनीभूत होकर विद्यमान है और जिसके सम्पर्कसे अनेक दुर्जनोंके पापका शमन होता है। मालविका ऐसी स्नेह, प्यार और कोमलताकी जीवित मूर्ति भी है और सुवासिनीके समान नारी भी जो अनेक कठिनाइयोंको झेलती हुई अपने आचरणकी पवित्रता बनाए रखती है। यदि एक ओर अनन्तदेवी है तो दूसरी ओर देवकी। चरित्रोंके सापेक्ष-निरूपणके साथ-साथ उनमें विशिष्ट गुणोंके सनिवेशसे उनके व्यक्तित्वका निर्माण हुआ है। केवल दो-एक स्थलोंपर ही कुछ अस्पष्टता रह गई है। उदाहरणार्थ विजयाका चरित्र निखर नहीं पाया है। उसको लेखकने किस अभिप्रायसे इतना अव्यवस्थित मन और दुर्बल हृदयका बनाया है, समझमें नहीं आता। रूप-यौवन-सम्पन्ना इस श्रेष्ठि कन्याकी अन्तिम अवहेलना के बाद उसके प्रति मनमें दयाका भाव उत्पन्न होता है। कार्नेलियामें प्रथम दर्शनमें ही चन्द्रगुप्तके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है जो अन्ततक बना रहता है और इसी एक तथ्यके आधारपर नाटकमें इस सरल युवतीका चरित्र निरूपित हुआ है। अतः उसमें सूक्ष्म उपकरणोंका अभाव है। 'प्रसाद' जीके अधिकांश नाटक उस समय लिखे गए थे, जब भारतीय जनता स्वतन्त्रताके लिए आन्दोलन कर रही थी और देश-प्रेमकी भावना प्रबल हो उठी थी। पुरुष और स्त्री-पात्रोंके निर्माणमें इस राष्ट्रीय चेतनाकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। अतः यद्यपि नाटकोंका वस्तु-विषय प्राचीन कालसे लिया गया है तथापि कुछ ऐसे तथ्यों और विचारों को नाटककारने अपने कथानकमें अन्तर्भुक्त किया है जो यथार्थमें वर्त्तमान शताब्दी और आधुनिक भारतके हैं, बीती हुई शताब्दियोंके नहीं। इन नाटकोंमें ऐतिहासिक यथार्थ और आदर्शमूलक प्रवृत्तियोंका मिश्रण हुआ है और इसका प्रभाव चरित्र-चित्रणकी पद्धतिपर भी पड़ा है। सभी प्रमुख स्त्री और पुरुष पात्र यथार्थ जीवनकी विशेषताओंसे पर्याप्त मात्रामें समन्वित होनेपर भी सदैव उच्चतर ध्येय और आकांक्षाओंसे प्रेरित होते रहते हैं। यथार्थ और आदर्शके इस मेलसे चरित्रोंमें गम्भीरता और सुन्दरता आ गई है।

अन्तमें खल चरित्रोंके सम्बन्धमें भी दो एक शब्द कह देना आवश्यक है। चाणक्य केवल सिद्धिका ध्यान करता है, साधनकी चिन्ता नहीं करता। अतः उसे कभी-कभी क्रूर और गर्हित कार्य भी करने और करवाने पड़ते

है। तब भी उसके आदर्श ऊँचे हैं और स्वयं उसमें त्याग और बलिदानकी असीम संभावना छिपी हुई है जो अन्तमें स्पष्ट हो जाती है, अतएव हम उसे महापुरुषकी संज्ञा देना ही अधिक उचित समझते हैं। किन्तु 'प्रसाद'के नाटकोंमें कुछ अन्य चरित्रोंकी अवतारणा हुई है जिनसे मुख्यतः दूसरोंका विरोध और अनिष्ट होता है और जिसकी क्रियाओंसे कथानकमें वक्रता उत्पन्न होती है, अतः इनको दुर्जन अथवा खल चरित्र कहना ही समीचीन है। 'अजातशत्रु'में विरुद्धक, 'राज्यश्री'में शान्ति भिक्षु 'स्कंदगुप्त'में भटार्क आदि ऐसे ही पात्र हैं। लेखकने इनमेंसे प्रत्येककी दुर्जनताको आधार देकर सोद्देश्य बनानेका प्रयत्न किया है। विरुद्धक दासी-पुत्रीकी कोखसे उत्पन्न होनेके कारण अवहेलना और तिरस्कारका अनुभव करता है अतः प्रतिकारके लिए वह समाजके प्रति विद्रोह करता है। शेक्सपीयरने अपने किंग लियर नाटकमें जारजपुत्र एडमंडके चरित्रका निर्माण भी इसी आधारपर किया है। शांतिभिक्षु स्वभावतः लम्पट होनेके नाते राज्यश्रीके रूप-वैभवसे आकृष्ट होकर अनर्थ करता है तथा भटार्क अनंत देवीके षडयन्त्रका समर्थक है। इस प्रकार इन खल-चरित्रों तथा उनके कार्योंके समझनेमें कठिनाई नहीं होती।

'प्रसाद' के चरित्र-चित्रण कौशलपर सामान्य विचार करते हुए अनेक विशेषताओंकी ओर ध्यान जाता है और यद्यपि हम कभी-कभी कुछ पात्रोंके संबंधमें संदेह करते हैं तथापि नाटककारकी सफलताओंसे मन चमत्कृत हो उठता है। पर्याप्त संख्यामें ऐसे स्त्री और पुरुष-पात्रोंकी सृष्टि हुई है जो मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं और जिन्हें हम भूल नहीं सकते। अनेक पात्र लेखककी विराट कल्पना और इतिहासके गंभीर पाण्डित्यके साक्षी हैं। हिन्दीमें आजतक किसी अन्य नाट्य रचयिताने इतने बहुसंख्यक और सुन्दर चरित्रोंकी इतनी सफल सृष्टि नहीं की है। अतः चरित्र चित्रणकी दृष्टिसे हिन्दी नाट्य-साहित्यमें 'प्रसाद' का प्रमुख स्थान है यह बात निःसन्देह कही जा सकती है।

'प्रसाद' के एकांकी नाटक



— रामचन्द्र महेन्द्र —

हिन्दी एकांकी का सन् १९२५ से नवीन सूत्रपात होता है। इस नवीन उत्थान में 'प्रसाद' प्रतिनिधि रूप से अग्रसर हुए। 'प्रसाद जी' ने कई प्रकार के नाटकोंके प्रयोग किए थे उनमें एकांकी नाटक भी थे। प्रारम्भमें आप भारतेन्दु शैली से प्रभावित थे, और संस्कृत नाटक शैली के उपकरणों का प्रयोग करते थे, जैसे—'सज्जन' 'विशाख' तथा 'राजश्री'के प्रथम संस्करणमें, किन्तु बीसवीं शताब्दीकी पाश्चात्य नाट्य चेतनाने उनके नाटकोंके स्वरूपमें परिवर्तन करने प्रारम्भ किए। यद्यपि उन्होंने अपने कथानक पौराणिक और ऐतिहासिक हिन्दू-कालसे ग्रहण किए, जिनसे उनकी सांस्कृतिक अभिरुचिका ज्ञान होता है तो भी चरित्रोंपर नवीन मनोवैज्ञानिक प्रकाश डाल कर उन्होंने नाट्यकलाको यथार्थवादी भावनाओंसे सुगठित किया। उन्होंने भारत के प्राचीन आदर्श एवं वर्तमान जीवनकी सहानुभूतिशील वास्तविकता का सम्मिश्रण किया। वे स्वभावतः कवि थे। अतः रसानुभूति एवं सौन्दर्यशील गीतिकाव्यने उनके नाटकोंमें विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। 'करुणालय' एकांकी गीति नाट्यकी पद्धति पर उनकी भावात्मक रुचिका द्योतक है, मानों प्रत्यक्ष जीवनके चित्रपटपर ये परोक्ष मानव कल्पनाओंको प्रधानता देते थे। प्रसादका नाटकीय मनोविज्ञान सहृदयके काव्य पक्षको जाग्रत करता है।

१–'सज्जन', २–'करुणालय' (गीति एकांकी) तथा ३–'प्रायश्चित' प्रसादकी एकांकी जगत्में प्रयोगात्मक रचनाएं हैं। उनके ४–'एक घूंट' से एकांकियोंके विकासमें एक नया युग प्रारम्भ होता है। 'एक घूंट' नवीन दिशाका पथ प्रदर्शक एकांकी नाटक बना। नई शैलीके वास्तविक हिन्दी एकांकीका प्रारंभ प्रसादके एक घूंट' (१९२९) से होता है। वर्तमान एकांकी टेक्नीकका इसमें पूर्ण रूपसे निर्वाह हुआ है तथा उसी कारण यह एक सफल एकांकी है। 'प्रसाद' जीके अन्य नाटकोंकी भाँति यह भी संस्कृत

परिपाटीके अनुसार प्रणीत है।'[1] हम इस मतसे कुछ अंशोंमें सहमत नहीं हैं। यद्यपि संस्कृत परिपाटीके अनुसार उसका प्रणयन हुआ है, तथापि इस नाटकपर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। 'आधुनिक एकांकीकी टेकनीकका 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है।'[2] यह मत ठीक है क्योंकि इस नाटकमें कुछ अंशोंमें वे सभी तत्व उपलब्ध हैं जो आगे चलकर हिन्दी एकांकीमें विकासपर आए। उसमें प्रसादत्वका रंग भी गहरा है और संकलनत्रयका भी निर्वाह है।

'प्रसादकी' सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा नाटकीय पर्यवेक्षणके सम्मुख पुरानी बाधाएँ न ठहर सकीं तथा पाश्चात्य टेकनीकके प्रभावसे हिन्दी एकांकी साहित्य पुनः वेगसे प्रवाहित हो पड़ा। भारतेन्दु-युगसे विकसित होकर प्रसाद युगतक हिन्दी एकांकीमें पर्याप्त परिपक्वता आ गई थी। भारतेन्दुके एकांकियोंका नया विकसित और समृद्धिशाली रूप प्रसादके एकांकी साहित्यमें उपलब्ध है। अनेक अभावोंका निराकरण प्रसादके एकांकियोंमें हुआ। यदि हम यह मान लें कि हिन्दी साहित्यमें आधुनिक एकांकीकी नींव भारतेन्दुने डाली, तो हमें यह मानना होगा कि प्रसादजीने उसे पुष्पित और फलित किया। हिन्दी एकांकीको आगे बढ़ाया।

उनके एकांकियोंमें प्राचीन भारतीय इतिहासका जो पुनरुत्थान हुआ है, प्राचीन हिन्दू संस्कृतिके जिन उज्ज्वल चित्रोंकी अवतारणा हुई है, भारतीय इतिहासके साथ कवित्व तथा दार्शनिकताका जो मधुर साहित्यिक और कलात्मक योग हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसादजीने भारतेन्दु युगकी पौराणिक, ऐतिहासिक, सुधारवादी एकांकियोंकी प्राचीन गद्य-पद्यमय परिपाटीको छोड़ दिया, किन्तु अधिकांशतः गद्यके ही माध्यमको सांकेतिक बनानेकी परिपाटी प्रारम्भकी। उनके 'एक घूंट' से आधुनिक हिन्दी एकांकीके विकासका नया पृष्ठ आरम्भ होता है।

'प्रसाद' जी पर डॉ० एल० रायका प्रभाव भी स्पष्ट है। अंग्रेजी टेकनीकका प्रभाव सीधा न पड़कर शरत् और कुन्तल गलियोंसे उनके एकांकी साहित्यपर पड़ रहा था। बंगला द्वारा, साथ-साथ संस्कृतके भी लेखकोंका अच्छा अध्ययन होनेके कारण उनके एकांकी साहित्यपर संस्कृत-नाट्य

---

१ श्री सत्येन्द्र शरत एम० ए०, 'हिन्दी-एकांकी' सम्मेलन पत्रिका।
२ डा० नगेन्द्र 'आधुनिक हिन्दी नाटक'।

प्रणालीका भी कुछ प्रभाव पड़ता दीखता है, परन्तु पिछले खेवेके नाट्यकारोंमें संस्कृतसे सम्बन्ध विच्छेद तथा पाश्चात्य प्रणालीके सम्मिलनसे एक नई, नाट्य प्रणालीको ढूढ निकालनेकी प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है।

प्रसादजीकी एकांकी रचना-पद्धतिका विकास क्रमशः हुआ था। हिन्दी नाट्य साहित्यकी समृद्धिके निमित्त वे निरन्तर विभिन्न नाटकीय शैलियोंके प्रयोग कर रहे थे। प्रारम्भमें उन्होंने चार प्रयोगात्मक एकांकी लिखे—सज्जन, कल्याणी—परिणय, करुणालय, तथा प्रायश्चित। 'कला की दृष्टिसे इन प्रारम्भिक प्रयोगात्मक एकांकियोंका अधिक महत्त्व नहीं है, किन्तु प्रसादकी नाट्यकलाके विकासकी ये आवश्यक कड़ियाँ हैं।'[1] 'एक घूट' जो सज्जनके १९ वर्ष के दीर्घकालीन अध्ययन तथा अनुभवके पश्चात् लिखा गया था, एक सफल सांकेतिक एकांकी नाटक है। यह नाटक एकांकीके इतिहासमें महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

उनके तीन एकांकी नाटक "सज्जन", 'कल्याणी-परिणय', तथा 'करुणालय' गीतिनाट्य प्रारम्भिक युगकी देन है। "चित्राधार" में संग्रहीत दोनों एकांकी उनकी प्रथम रचनाओंमेंसे हैं। १ इनमें एकांकी कला के साधारण प्रयोग मात्र हैं। प्रकाशन की तिथिके चक्रमें पड़े तो हम यह कह सकते हैं कि इन एकांकियोंमें प्रसादके प्राचीनसे अर्वाचीनकी ओर उत्तरोत्तर प्रगतिकी प्रथम अवस्थाका परिचय प्राप्त हो जाता है। इनकी रचना संस्कृत तथा हिन्दीकी पुरानी पारसी शैलीकी है। प्रसादकी प्रतिभा विकासपर है। प्रथम अवस्थामें ही आपके एकांकियोंमे कलात्मक प्रयास दृष्टिगोचर होता है, साथ ही अध्ययन और सत्र्पके चित्रणके भी चिह्न मिलते हैं।

प्रयोगात्मक एकांकियोंमें निम्न विशेषताएँ स्पष्ट हैं:—

१ इनकी रचना संस्कृत तथा हिन्दीकी पुरानी नाट्य शैलियोंके अनुसार है। प्रारभमें नान्दीका विधान है। तत्पश्चात् सूत्रधार आता है और नटीसे नाटकके अभिनयका आग्रह करता है। अभिनय होना निश्चित होता है। इनके अन्तमें भरत-वाक्यका प्रयोग किया गया है।

२. पद्योंमें संस्कृत छन्दोंका प्रयोग है। यह सिद्ध करता है कि प्राचीन गद्य-पद्यमें एकांकीके प्रति प्रसादकी सहानुभूति थी। प्राचीन नाटकोंकी शैलीपर खड़ी बोलीके गद्यके भीतर पद्यकी कविताओंका प्रयोग ब्रजभाषामें है।

---

१ डा० सोमनाथ गुप्त 'हिन्दी नाटकका इतिहास' पृ० २४१।

सम्भाषणोंमें छन्द बद्ध कविताका प्रयोग है। भिन्न-भिन्न प्रकारके चरित्रों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकारकी भाषा काममें लाई गई है।

३. इन एकांकियोंके प्राकृतिक दृश्योंके वर्णनोंमें संस्कृतमें कविकुल शिरोमणि कालिदास एवं हिन्दीमें तुलसीदास आदि जैसे श्रेष्ठ प्रयोग उपलब्ध हैं।

४ एकांकियोंमें छन्दोंका प्रयोग संस्कृत नाट्य परम्परासे लिया गया है। प० बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल प्रभृति द्वितीय उत्थानके नाटककारोंने भी इस पद्धतिका अनुकरण किया है। द्विजेन्द्रलाल रायके नाटकोंमें भी इस पद्धतिका पूर्ण निर्वाह है।

५. इनमें मानसिक संघर्षका बड़ा दुर्बल प्रयोग है। छायामें तीव्रता कम है। भाषा शुद्ध परिमार्जित है। छन्दकी गतिमें सर्वत्र ही मन्थरता है।

६. संस्कृत नाट्यशालाके विरुद्ध इन एकांकियोंमें कहीं-कहीं वर्जित दृश्यका भी समावेश है जैसे "प्रायश्चित" में जयचन्दसे आत्महत्या कराई गई है।

७. इन एकांकियोंमें न्यूनाधिक रूपमें भरतमुनिकी शास्त्रीय पद्धतिका अनुकरण किया गया है। उनके नाटकोंमें पहले फलागमका ज्ञान नहीं होता, पर संघर्ष अनिवृद्धिपर रहता है तथा अन्तमें नायकको शान्ति प्राप्त होती है।

प्रसादके एकांकियोंपर एक आलोचनात्मक दृष्टि

सज्जनः

प्रसादका सज्जन : १९१०, एक प्रथम मौलिक एकांकी। इसमें प्राचीन तथा नवीन नाट्य प्रणालियोंका सम्मिश्रण किया गया है। इस एकांकीके द्वारा हमें उनके प्राचीनसे अर्वाचीनकी ओर उत्तरोत्तर विकासकी प्रथम अवस्थाका परिचय प्राप्त होता है।

"सज्जन" लगभग २० पृष्ठोंका एकांकी है। इसकी रचना संस्कृत तथा प्राचीन हिन्दी नाट्य शैलीपर है। प्रारंभ नान्दीसे होता है। तत्पश्चात् सूत्रधार आता है तथा अपनी पत्नीसे नाटकाभिनयका प्रस्ताव करता है। कथोपकथनमें चातुरीसे सज्जनताका संकेत हो जानेपर पत्नीको "सज्जन" का स्मरण हो आता है, तथा इसके अनन्तर दुर्योधनकी सभा दृष्टिगोचर होती है। सज्जनके कथोपकथनोंमें पद्यका पर्याप्त प्रयोग है। पात्र अपनी गद्योक्तिको पुष्ट करनेके लिए पद्यका प्रयोग करते हैं जो दृष्टान्त रूपमें होता है। इन पद्यमय श्रेणीकी शैली भी संस्कृत जैसी है। प्राकृतिक वर्णनोंमें प्रायः नीतिका कोई तत्त्व निरूपण करनेकी चेष्टा की गई है जैसे—

"जे आईं पश्चिम दिशा मद मोद माते,
है वारुणी विवश मोह तरग राते।
देखे तिन्हे पतित लोग सब हसाही,
प्राची दिशा शशि मिले हसती सदा ही।"

प्राचीन परिपाटीके हिन्दी एकाकियोंमें जैसे खड़ी-बोली-गद्यके भीतर पद्य व्रजभाषामें प्रयुक्त हैं, उसी प्रकारके कतिपय प्रयोग 'सज्जन' में हैं। कथोपकथन सादा और सक्षिप्त है, पात्रगण सारयुक्त वक्तव्योंका प्रयोग करते हैं। सक्षिप्त होते हुए भी इस एकाकीमें कार्य व्यापारकी न्यूनता नहीं है। अभिनय की उद्भावना एव सक्षिप्त कथोपकथनोंके उपकरण आधुनिकताके सूचक हैं। इसका अन्त भरत वाक्यसे होता है। सज्जनकी कथावस्तु सक्षिप्त है। अपने आगेके नाटकोंमें प्रसाद जीने नान्दीका कार्य प्रथम अकके प्रथम दृश्यसे निकाला है।

"करुणालय"

"करुणालय" एक गीति एकाकी है। यह वैदिक कालकी विशृखल कार्य भावना पर एक करुण व्यग्य है। यह एक छोटा सा दृश्य नाट्य है, जो तुकान्तविहीन मात्रिक छदोंमें विरचित है। इसमें इच्छानुकूल विराम चिन्हों-का प्रयोग किया गया है। न कवित्व, और न नाट्यकलाकी दृष्टिसे ही इसे सफल कहा जा सकता है। कथानक कुछ वेतुका सा है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र तथा रोहितके जीवनकी एक कथाका, जहाँ पुत्रको निज अधिकारोंका ज्ञान होता है, मार्मिक चित्रण है। "इस नाटकमे गीति नाट्यका प्राण तत्व मानसिक सघर्ष बड़ा शिथिल है। लगभग नहींके बराबर है। हाँ, रोहितकी लालसा और पिताके प्रति कर्तव्यके मध्य जो सघर्ष हुआ है, उसमें कुछ दम है, विद्रोहकी शक्ति है, शास्त्रीय दृष्टिसे प्रभावएक्य ढूँढ भी निकाला जाय, परन्तु वह बड़ा क्षीण है। फिर भी वह एकाकी कवित्वसे शून्य नहीं है। प्रथम दृश्यमें मनोरम प्राकृतिक सौन्दर्यकी कोमल अभिव्यजना मिलती है। भाषा मजी हुई शुद्ध है, छन्दकी गतिमें सर्वत्र ही मन्थरता है। इस गीति नाट्यमें प्रसादके प्रसादत्वकी एक झलक भर है।"

इस नाटकपर अँग्रेजीके प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ और बगलाके माइकेल मधुसूदनदत्तका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वार्णिक वृत्तोंका विशेष विधान है। प्रसादने अँग्रेज़ीसे प्रभावित होकर 'करुणालय' की सृष्टि की है, किन्तु इसके अनन्तर उन्होंने अपना यह मार्ग परिवर्तित कर दिया था। करुणालयमें जिस

गीति नाटकोंवाले शैलीका अनुसरण किया गया है, वह प्रसादको नवीन सी प्रतीत हुई, क्योंकि उस कालमें नाट्यकार नौटंकीकी शैलीपर गीति नाटकोंकी सृष्टि किया करते थे। सत्य हरिश्चन्द्रके कथानकको लेकर आधुनिक नाट्य-कारोंने गीति नाट्यकी परिपाटीको अक्षुण्ण रक्खा।

'चित्राधार'के एकाकी 'प्रसाद'जीने २०, २२ वर्षकी आयुमें रचे थे। इस सग्रहसे उनकी उदीयमान प्रतिभाका सहज ही अनुमान हो सकता है तथा उनपर क्रमशः अंग्रेजी टेकनीकका भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

'एकघूंट' प्रसादके एकाकियोंमे 'एकघूंट'का विशेष स्थान है। इसका एक ऐतिहासिक महत्व है। कुछ आलोचकोंने, जिनमें श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, सत्येन्द्र शरत्, प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी, डा० नगेन्द्र आदि हैं, इससे नई शैलीके आधुनिक हिन्दी एकाकी का प्रारम्भ माना है। कुछ आलोचकों की सम्मति इस प्रकार है:—

"यों तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्ण दासने पिछली शताब्दी मे ही ऐसे रूपक लिखे थे जो आजकलके एकाकियोंसे मिलते जुलते हैं, परन्तु उन्हें आदर्श एकाकी नहीं कह सकते। हिन्दी एकाकीका प्रादुर्भाव जयशकर प्रसादके 'एकघूट'से होता है।[1]

'सचमुच हिन्दी एकाकीका प्रारम्भ प्रसादके 'एकघूंट'से हुआ है। प्रसादपर संस्कृतका प्रभाव है। इसलिए वे हिन्दी एकाकीके जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकाकीकी टेकनीकका 'एकघूंट'में पूरा निर्वाह है।[2]

'एक घूंट एक सुंदर साहित्यिक पुष्प है, जिसका रसास्वादन विद्वान्, तर्कशील और गम्भीर पाठक ही कर सकते हैं। चूंकि प्रसादजीके नाटक विद्वानोंके लिए रचे गये ज्ञात होते हैं, उनपर दुरूहताका आरोप लगाना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। अभिनयके अनुपयुक्त होनेपर भी स्थान-स्थानपर अभिनयका पूर्ण आयोजन एक घूंटमे है।'[3]

---

१ डा० हरदेव बाहरी एम० ए० डि० लिट० 'चुने हुए एकाकी नाटक भूमिका पृ० ६.

२ डा० नगेन्द्र 'आधुनिक हिन्दी नाटक' पृष्ठ १२१।

३ प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी 'एक घूंटकी आलोचना'से।

'प्रसादजीका एक घूंट हिन्दी एकाकियोंके विकासकी द्वितीय अवस्थाका अग्रणी है। यह अवस्था सवत् १९८६ से प्रारभ होकर सन् १९३२ तक मानी जानी चाहिये। प्रसादका एक घूंट १९८६ सवत्में प्रकाशित हुआ। प्रथम अवस्थाके एक घूट लिखे जानेके पूर्वतक मानी जानी चाहिए।'[1]

'प्रसादजीने साहित्यिक नाटकको हिन्दीके ऊँचे आसनपर बैठाया। आपका एक घूट सफल एकाकी नाटक है। यहाँ जीवनकी विनोद और काव्यपूर्ण झाँकी हमें मिलती है, और उत्कृष्ट कोटिके हलके रेखा चित्र।'[2]

'नई शैलीके वास्तविक हिन्दी एकाकीका प्रारभ श्री जयशकरप्रसादके एक घूटसे होता है।' वर्तमान एकाकी टेकनीकका इसमे पूर्ण निर्वाह हुआ है और इसी कारण यह एक सफल एकाकी नाटक है। उसपर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्टतः दीख पड़ता है। अतः इस स्कूलके आलोचकोंके विचार सत्य कहे जा सकते हैं। एक घूटने हिन्दी एकाकीकी एक नई परम्पराको जन्म दिया और एक नवीन दिशाकी ओर पथप्रदर्शन किया।

दूसरे स्कूलके आलोचकोका कहना है कि प्रसादजी पर संस्कृतकी परिपाटीका प्रभाव अधिक है। ये पथ प्रदर्शकके रूपमें हिन्दी-भाषा-भाषियोंके सम्मुख उपस्थित न हो सके। हिन्दी साहित्यके पश्चिमसे एकाकीके जन्मदाता प्रसाद जी नहीं हैं। इसका कथानक भी ऐतिहासिक है। जीवनकी विनोदपूर्ण और काव्यमय झाकी हमें मिलती है।

इस मतमें कई भ्रमपूर्ण कथन हैं। इसके कथानकको ऐतिहासिक बताया गया है जबकि उसमें कुछ भी ऐतिहासिक नहीं है। इसमे पाश्चात्य टेकनीक स्पष्ट दीखती है। इसमे दृश्य परिवर्तन नहीं है, पात्रोमें गति है, घटनाकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और जो सघर्ष प्रारम्भ हुआ है, वह धीरे धीरे शक्तिवान होता है। अन्तमें एक पक्ष अनुभूतिके आधारपर निर्बल होकर क्षुब्ध हो गया, और दूसरा पक्ष प्रबल होकर परमोत्कर्ष पा गया है। नाटकमें संकलन भी निर्दोष है। "प्रसाद" जीका यह नाटक बिल्कुल पाश्चात्य ढगका तो नहीं है पर उसकी ओर विकासकी एक बड़ी मजिल पूरी करता है। पात्रोके मनोवैज्ञानिक चित्रण, घटनाका सघर्षोंमेसे होकर चरम सीमा प्राप्त करना, कथोपकथनोंमे वाक् वैदग्ध्य, अस्वाभाविक प्रसाधनोका न्यूनतम उपयोग, रंग-

---

१ डा० सत्येन्द्र 'हिन्दी एकांकी' पृष्ठ २८।

२ प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए० 'हंस' एकाकी नाटक अक।

संचनाओंकी व्यापकता, तथा गानोंका कलात्मक प्रयोग इत्यादि सभी दृष्टिकोणोंसे "प्रसाद" के "एक घूंट" में हिन्दी एकाकी एक विकसित अवस्थामें दृष्टिगोचर होता है। ये सभी प्रवृत्तियाँ उभरती हुई दिखती हैं। अभिनयकी दृष्टिसे यह लम्बा और गंभीर, तर्क तथा दार्शनिकतासे बोझिल अवश्य है किन्तु इसमें चरित्र चित्रणकी एकता एवं लक्ष्यकी ओर वेगसम्पन्न प्रवाह है, वस्तु निर्माणमें कलात्मकता है। एक कोणीय प्रदर्शनमें इस एकाकी की ऐतिहासिक महत्ता है, और इसीमें "प्रसाद" की एकाकी कलाकी सफलता है।

"प्रसाद" के एकांकियोंकी कथावस्तु-सामग्री तीन प्रकारकी है। १. ऐतिहासिक जैसे प्रायश्चित २. पौराणिक जैसे 'सज्जन' तथा 'करुणालय' ३. भावात्मक आदर्शवाद जैसे 'एक घूंट'। आपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक एकांकियोंमें प्राचीन संस्कृति और वैभवका नवीन स्वप्न देखा है और उसे अपनी कोमल भावनाओंसे अनुरंजित किया है। अपनी प्रतिभा द्वारा शुष्क इतिहास तथा भूले हुए पौराणिक उपाख्यानोंको साहित्यका सुन्दर रूप प्रदान किया।

"प्रसाद" ने अपने एकांकियोंमें चरित्र चित्रणके लिए चार उपकरण अपनाए हैं:—वार्तालाप, स्वगत कथन, दूसरोंके कथन, और कार्य व्यापार। दो प्रकारके पात्र विशेष रूपसे मिलते हैं। स्वाभाविक एवं परिस्थिति-जन्य। उनके कुछ आदर्श पात्र बाह्य संग्रामके साथ स्वयं अपने मनकी अशुभ वृत्तियोंके साथ भी लड़ते हैं और आत्मचिन्तन करते हुए कर्तव्य पथकी ओर अग्रसर होते हैं। उदाहरण स्वरूप "एक घूंट" के आनन्द तथा कुंज रसाल इत्यादि। प्रसादके एकांकियोंकी नारी पात्र वनलता, प्रेमलता, इत्यादि पुरुषोंको उनके कर्तव्य मार्गपर परिचालित करती है। 'एक घूंट' के सब पात्र मध्य वर्गके हैं जिनके आदर्श हैं सरलता, स्वास्थ्य, और सौंदर्य। अरुणाचल आश्रमके रूपमें प्रसादने एक ऐसी जीवन-यात्राकी कल्पना की है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवनकी संधि है। इस आश्रममें किसी साधारण कार्य करनेवालेको लज्जित होनेकी आवश्यकता नहीं है, सभी कुछ न कुछ करते हैं। प्रसादके कथोपकथनमें सब कुछ है, पर उनकी भाषा कुछ क्लिष्ट है। एक घूंट' में अर्थ सम्बन्धी कठिनाईका अनुभव नहीं करना पड़ता है। शिष्टता और सुरुचिका सर्वत्र ध्यान रखा गया है। उचित सीमाके अन्दर प्रसादने भावव्यंजक, और संघर्षमय कथोपकथनों की सृष्टिकी है। गीतोंका बाहुल्य इन नाटकोंको मृदुल सरसता और रसात्मकतासे परिपूरित कर देता है।

लेनेके कारण वह सकल्प अपूर्ण ही रह गया। 'प्रसाद-अक' की योजनाने उसकी स्मृतिको पुनः जागरित कर दिया।

प्रसादका मस्तिष्क कामनासे कामायनीतकके विकासमें किस प्रकार क्रियाशील रहा इसे समझनेके लिए सभी उपलब्ध तथ्यों पर दृष्टि रखना आवश्यक है। भले ही उसका प्रकाशन १६२७ में हुआ हो किन्तु कामनाकी रचना १९२४ तक समाप्त हो चुकी थी। कामायनीके सूत्रपातका प्रमाण सन् २८ तक मिलता है। बीचके चार वर्षोंमें प्रसादने 'जनमेजयका नागयज्ञ' तथा स्कदगुप्त विक्रमादित्य जैसे दो बडे नाटक, प्रतिध्वनि आदि कुछ प्रमुख कहानियाँ तथा 'आँसू' और 'झरना' में सकलित गीतितत्वसे समन्वित, मुक्तकों और कविताओंका प्रणयन किया। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कविने कामनासे कामायनीकी ओर सीधे संतरण किया। फिर कामायनी स्वय इन्द्र सम्बन्धी नाटक लिखनेके सकल्पसे अध्ययन की गयी वैदिक सामग्रीके बीचसे फूट निकलनेवाली एक शाखा है जिसने कविको इतना आकृष्ट एव विलीन कर लिया कि वह 'इन्द्र' की रचनासे पूर्व उसीके निर्माणमें सलग्न हो गया। लगता है कि कामायनीकी सृष्टि करते समय प्रसादने 'कामना' की रचनाके अपने विगत अनुभवसे पूर्ण लाभ उठाया। पहली बात जो उन्होंने अनुभव की वह यह है कि रूपक कथा (allegorical story) को सफलतापूर्वक आबद्ध करनेके लिए काव्यके दृश्य रूपकी अपेक्षा श्रव्यरूप अधिक उपयुक्त माध्यम है क्योंकि उसमे अधिक मुक्त होकर कल्पना-की जा सकती है साथ ही समस्त परिकल्पनाको स्थूल रूपमें कृत्रिम बनाकर अवतरित करनेका आग्रह भी उसमें उतना नहीं रहता। दूसरी बात उन्हें यह लगी कि मानवीय-चेतनाकी समस्याओंको वास्तविक एव अपेक्षित गभीरता एव दायित्वके साथ प्रस्तुत करनेके लिए इतिहासका आश्रय लेना अत्यावश्यक है। बिना ऐतिहासिक परिप्रेक्षणके ऐतिहासिक विश्लेषणके इस युगमें मानव-सस्कृतिकी मूल समस्याको उठाना सभव भी नहीं है। विशाखकी भूमिकामें उन्होंने इतिहासके महत्वको व्यक्त किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक रूपक कथाको नाटकके माध्यमसे कहनेका जो पथ 'कामना' मे अपनाया था उसे त्यागकर कामायनीमे महाकाव्यका पथ अपनाया और वह भी एक विशिष्ट ऐतिहासिकता-समन्वित वातावरण के साथ। छाया-वादी कवियोंमें प्रसाद और पत इन दोने ही दायित्वके साथ नैतिक-सामाजिक समस्याओंको उठानेका साहस किया है। निरालाके काव्यमें चिंतनकी अपेक्षा

विद्रोहका स्वर प्रधान रहा है। महादेवी वर्माने अपनी गद्य-रचनाओंमें ही इन प्रश्नोंको उठाया है, उनका काव्य प्रायः वैयक्तिक स्नेह-वेदनाकी ही संसृष्टि है। सम्पूर्ण छायावादी साहित्यमें इस दृष्टिसे कामायनीका स्थान अद्वितीय है और चिंतकके रूपमें प्रसादका महत्व सर्वोपरि है। कविकी नैतिक सामाजिक चेतनाका आभास उसकी प्रारम्भिक कृतियों, करुणालय (१९१२) तथा प्रायश्चित (१९१४) से ही मिलने लगता है। कामना में यह तत्व इससे पूर्वकी रचनाओंकी अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट रूपमें सामने आता है किन्तु कामायनीकी तुलनामें वह अपरिपक्व, सतही और अनगढ प्रतीत होता है। दोनोंके चिन्तनके धरातलमें तथा दृष्टिकोणमें निश्चित अंतर है। यद्यपि दिशा प्रायः एक ही है। कामनामें तत्कालीन सामयिक परिस्थितियोंको स्पष्टतया तो नहीं चित्रित किया गया है परन्तु मानसिक रूपसे लेखक उनसे ऊपर नहीं उठ पाया है। विदेशियोंसे शासित एवं शोषित कृषि प्रधान भारतवर्ष और उसके स्वातन्त्र्य के गाँधी जीके अहिंसामूलक आदर्शवादका उपयोग, निवृत्ति प्रधान ऋजु भारतीय संस्कृतिके समक्ष प्रवृत्तिप्रधान योगवादी कुटिल पाश्चात्य सभ्यताकी निंदा इस सबकी झलक बाहरसे ही मिलने लगती है। समाजकी अनैतिकता तथा सस्कारहीनताका जिस रूपमें चित्रण किया गया है और जो निदान प्रस्तुत किया है वह बहुत ऊपरी है, सारे चिंतनमें आदि भौतिक वस्तुओंको आवश्यकतासे अधिक महत्व दिया गया है। कामना-का प्रधान पात्र विलास जिसे द्वीपके निष्पाप सरल वातावरणको विषाक्त बना देनेका सम्पूर्ण श्रेय प्राप्त है, छायाके रूपमें अपना मानसिक प्रत्यक्ष करते हुए सोचता है—

मूर्ख ! अपने देशकी दरिद्रतासे विताड़ित और अपने कुकर्मोंसे निर्वासित आदर्श ! तू राजा बना चाहता है ? तो स्मरण रख, तुम्हें इस जातिको अपराधी बनाना होगा। जो जाति अपराध और पापोंसे पतित नहीं होती, वह विदेशी तो क्या किसी अपने सजातीय शासककी भी आज्ञाओंका बोझ अपने स्कंधपर वहन नहीं करती। और समझ ले कि बिना स्वर्ण और मदिराका प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली-भाली जातिको पतित नहीं बना सकता।'

—कामना, पृ० १८

स्वर्ण और मदिराको ही समस्त सामाजिक विशृंखलता तथा नैतिक पतनका कारण मानना, नगर-सभ्यताको पूर्णतया अभिशप्त घोषित करते हुए

उसकी निंदा करना, वैभव-विलासके विरोधके साथ-साथ राजतन्त्र यानी शासन-विधानका भी विरोध करने लगना इस बातका परिचायक है कि कविने अपने आदर्शवादको विचारकी अपेक्षा भावुकताकी भूमिपर अधिक स्थापित किया है। कामायनीमें प्रसाद देशी और विदेशी सभ्यताके पक्ष-विपक्षसे ऊपर उठकर उस धरातलपर पहुँच गये जहाँसे न केवल वरन् सम्पूर्ण विश्वके लिए वे एक कल्याण-सदेह दे सके। उच्चतर भूमिपर प्रतिष्ठित होकर उन्होंने मानव मात्र की सांस्कृतिक समस्याओंका निदान प्रस्तुत किया जिसमें बौद्ध-शैव और औपनिषदिक जीवन दर्शनका श्रेष्ठ समन्वय घटित हुआ है। दृष्टिकोण यहाँ भी मूलतः आदर्शवादी ही रहा क्योंकि यह प्रसादकी अपनी सीमा या विशेषता है, परन्तु गम्भीरता और व्यापकता आ जानेसे उसका महत्व सार्वभौमिक हो गया। कामायनीमें जो निदान प्रस्तुत किया है वह जीवनके मानसिक आध्यात्मिक मूल्योंपर आश्रित है और कामनामें प्रस्तावित आधिभौतिक निदानसे सर्वथा भिन्न और श्रेष्ठतर है। कुछ विद्वानों ने कामायनीकी इस अध्यात्मोन्मुखताको जो भारतीय चिंतनका मूलाधार है तीव्र भर्त्सना की है। उदाहरणके लिए गजानन माधव मुक्ति बोधका नाम लिया जा सकता है। एक ओर तो विश्लेषण के उपरान्त स्वयं वे इस परिणाम पहुँचते हैं कि 'श्रद्धासे इड़ा विरोधका अर्थ अ-बुद्धिवाद नहीं, न बुद्धि-विरोधीवाद है।' दूसरी ओर वे ही प्रसादको इन प्रतीकोंके निर्माणके लिए दोषी ठहराते हैं। यथा—

किन्तु, इड़ाको बुद्धि-तत्वका प्रतीक मानकर तथा श्रद्धाको श्रद्धा तत्वका प्रतीक मानकर प्रसादने जिस प्रकार भ्रम-प्रसार किया है वह वस्तुतः अत्यन्त शोचनीय है, विशेषकर इसलिए कि हिन्दीजगतमें बुद्धि-विरोधी श्रद्धावादको भारतीय परम्पराका नाम देकर जो एक प्रतिक्रिया-वायुमण्डल तैयार किया गया, उसके फलस्वरूप हिन्दीके प्रतिक्रियावादी क्षेत्रोंमें ही कामायनी, अधिक लोकप्रिय हो सकी, और उसके अन्तर्गत प्रखर प्रगतिशील तत्वोंके प्रति पूर्ण उपेक्षा बरती गई।' जब एक विवेचक स्वयं स्वीकार करता है कि इड़ा और श्रद्धाके प्रतीकोंमें कोई तात्विक विरोध नहीं है और न असगति ही तब तत्सम्बन्धी भ्रम प्रसारके लिए कविको दोषी ठहराना अन्याय है। यदि दोष किसीका कहा जा सकता है तो वह तथाकथित प्रतिक्रियावादी प्रसाद प्रेमियोंका, पर क्या यह भी असत्य नहीं है। ऐसा वही लिख सकते हैं जो अश्रद्धा-पूर्ण-बुद्धिवादको प्रगतिशीलताका सर्वोत्कृष्ट रूप मानते हैं और बुद्धिसे ऊपर

किसी तत्वकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। प्रसाद बुद्धिवादके महत्वको पूर्णतया समझते थे किन्तु उसके साथ वे उस शक्तिके अस्तित्वको भी समझ चुके थे जो बुद्धिके द्वारा ग्रहीत होते हुए भी उससे उच्चतर है। इसकी घोषणा उन्होंने निर्भ्रान्त रूपमें स्वयं ही एक स्थलपर की है —

'कहना न होगा कि दुःखोंकी अनुभूतिसे, बुद्धिवादने एक त्राणकारी महान शक्तिका अवतरण किया। सबके हृदयोंमें उसका अस्तित्व स्वीकार किया गया,...।'*

कामायनीके 'आमुख' में भी उन्होंने बुद्धिवादकी सीमा और श्रद्धाके कल्याणकारी रूपकी ओर इंगित कर दिया है 'फिर बुद्धिवादके विकासमें अधिक सुखकी खोजमें, दुःख मिलना स्वाभाविक है।'

प्रसादकी चिंता-धाराकी गतिको वास्तविकरूपमें परखनेके लिए यह आवश्यक है कि उसमें निहित केन्द्रीय विचार रेखाकी खोज की जाय। कामना और कामायनी यह दो ऐसे बिंदु हैं जिन्हें मिलाकर देखनेसे यह रेखा स्पष्ट हो उठती है। दोनों कृतियोंमें जो कुछ साम्य है वह भी इसी कारण कि वे कविकी अन्तर्वर्तिनी विचार-रेखाके बीच स्थित हैं। यह साम्य अनेकसूत्री है। इसका प्रथम सूत्र है मानव-सृष्टिसे पूर्व दैवी सृष्टिकी कल्पना। कामनामें सभी द्वीप वासी अपनेको देव-परिवारका बताते हुए तारा-सतान कहते हैं। कामायनीके मनु 'उच्छृंखल स्वभाव' एवं 'निर्बाध आत्मतुष्टि' में रत रहनेवाले देवोंके अन्तिम प्रतिनिधि हैं जो मानवी सृष्टिके आदि-पुरुष भी हुए। पर कामनाका देव-परिवार विलास-मुक्त था और कामायनीमें देवसृष्टि विलास-वासनाकी ही प्रतीक मानी गयी है। मानव-विकासके सम्बन्धमें प्रसादके विचार पाश्चात्य विकासवादसे भिन्न रहे हैं। वे पशुतासे मनुष्यताका विकास न मानकर देवत्वसे मनुष्यतत्वका परिभव मानते हैं जो भारतीय विचार-धारके अनुकूल है। द्वितीय सूत्र है विराट पृष्ठभूमिका आभास देनेके लिए समुद्रकी भूमिका। दोनों कृतियोंमें समुद्रका आलोड़न विलोड़न मानसिक परिवर्तनोंके समानान्तर चला है। कामायनीकी कथा प्रलयसे सम्बद्ध होनेके कारण स्वभावतः समुद्रतट पर घटित होती है किन्तु कामनामें भी प्रसादने घटना स्थल एक समुद्रवर्ती द्वीपको ही परिकल्पित किया है। तृतीयसूत्र अन्यापदेशिक रूपक-

---

* काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ११६

कथाका है जो संकेतार्थ गर्भित रक्खी गयी है। दोनों ही कृतियोंमें प्रसाद इस अतिरिक्त अर्थके निर्वाहके प्रति जागरूक रहे हैं। कामनामें संतोष नामक पात्रके द्वारा कहलाया गया है। मैं संतुष्ट हूँ—मुझे ब्याहकी आवश्यकता नहीं। कामायनी में इड़ाका कथन 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय' सुपरिचित ही है। ऐसे कथन समासोक्ति पद्धति से उपजते हैं, और इस पद्धतिका निर्वाह दोनों रचनाओंमें मिलता है। चतुर्थ सूत्र है उद्देश्यकी समानता। कामनाकी रचना इस धारणाको केन्द्र मे रखकर हुई है कि 'जीवन के समस्त प्रश्नोंके मूलमें अर्थका प्राधान्य है।' और कामायनीकी सर्जना का केन्द्रविन्दु है इड़ा और श्रद्धाका समन्वय। दोनों ही अवस्थाओंमें कवि मानवताके कल्याणको प्रधान लक्ष्य मान कर चला है। पंचमसूत्र है विषमताके बीच समता स्थापित करनेकी भावना। कामनामें विषमताका विशद चित्रण करते हुए समताके महत्वकी ओर संकेत किया गया है। नाटकके अन्तमें इस ओर संकेत भी कर दिया गया है। कामायनीमें भी विषम परिस्थितियोंका चित्रण है किन्तु समताको सामरस्यके शैव सिद्धान्तके रूपमें अधिक वैचारिक तथा अधिक प्रौढ बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

सूत्रोंके इस प्रपंचको और भी दूरतक खींचा जा सकता है परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं क्योंकि दोनोंकी समानताका उद्घोष करनेके लिए यही पर्याप्त हैं। कामनामें प्रसादने एक लालसा नामक स्त्री पात्रकी भी सृष्टि की है। कामना और लालसामें ठीक ठीक क्या भेद होता है यह कहना तो कठिन है परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि उन्होने काम-संभूत मनोविकारोंको उदात्त और अनुदात्त दोनो रूपोंमें स्वीकार किया है। कामनाका उदात्त रूप पवित्र एव कल्याणकारी होता है। कामायनीकी श्रद्धा भी काम गोत्रजा है और उसका कामायनी नाम इसी अर्थका बोधक है। इस दृष्टिसे कामना और कामायनीका एक और मिलन-विंदु दिखाई देता है और यह भी पूर्वोक्त विचार रेखापर ही पड़ता है। कामनाका द्वीप सारस्वत-प्रदेशमें समाहित हो गया हो और विलासकी छाया मनुके विलासी रूपपर पड़ी हो यह भी असंभव नहीं है। कामायनीका अन्तिम सर्ग 'आनंद' है। कामनाके संतोष नामक पात्रके कुछ शब्दोंमें भी आनंदवादका स्वर मुखरित हुआ है—

'आनंदके लिए सब कुछ किया, पर वह कहाँ! जब मनमें आनन्द नहीं, तब कहीं नहीं।'

ऊपर पच-सूत्रोंके अतिरिक्त जिन अन्य समानताओंकी ओर सकेत किया गया है वे अनुमानात्मक अधिक है पर यह भी सभव है कि उनके पीछे कुछ सत्य निहित हो। मैंने इस दिशामे जितना कुछ सोचा संक्षेपमें यहाँ व्यक्त कर दिया। यदि इससे किसी अन्य को कुछ भी सोचनेकी प्रेरणा मिल सकी तो अपनेको कृतार्थ मानूँगा।





स्कंदगुप्त : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और नाट्यकला

★

— *शिवप्रसाद सिंह* —

पिछले खेवेके साहित्यकारोमें 'प्रसाद' का व्यक्तित्व कुहासेके ध्रुवताराकी तरह अत्यन्त आवृत किन्तु निश्चित और अडिग दिखाई पड़ता है। संभव है कि इस कथनमें कुछ अत्युक्ति या 'प्रसाद' के प्रति पक्षपातकी गंध मिले, किन्तु बीसी और बाद (twenties) के साहित्य के अनुसंधित्सु पाठकके लिए यह तथ्य-कथन मात्र होगा कि अपने समसामयिकोंसे प्रसाद शैली और भाषामें वाह्य साम्य भले रखते हों, किन्तु जीवनकी समष्टिको परखनेकी शक्ति की दृष्टिसे प्रसादकी कोई तुलना नहीं। कवि, साहित्यकार, भाषा शिल्पी आदि विशेषण प्रसादके वाह्य व्यक्तित्वको व्यक्त कर सकते हैं किन्तु इन सबसे अलग एक और विशेषण है जो वर्तमान हिन्दी साहित्यके कवि-लेखकोंमें केवल प्रसादके लिये प्रयोज्य है और वह है ऋषि, जीवन-द्रष्टा। अरविन्दने शेक्सपियरके विषयमे लिखा है कि वह प्रधान रूपसे एक कलाकार, साहित्यिक विचारक या इस तरहका कुछ और हो या न हो किन्तु वह एक शक्तिशाली स्रष्टा और किंचित् सीमित रूपमे जीवनका द्रष्टा या ऋषि था।[१] वैसे ही प्रसादने न केवल शास्त्रोंके अध्ययनसे अपनी दृष्टिका उन्मीलन किया बल्कि उन्होंने जीवनको अपने ढंगसे देखा और अपने मनके आदर्शकी स्थापना की। प्रसाद-का जीवन-दर्शन अपने तमाम परस्पर विरोधी गुण दोषोंके साथ सम्भवतः वर्तमानकी सर्वथा अनपरचित स्थितिमें उपयुक्त नहीं हो सका इसलिये विवश होकर उन्होंने अपने मनचाहे आदर्शोंकी स्थापनाके लिए अतीतके अपरचित

---

१ He is not primarily an artist, a poetical thinker or anything else of the kind but a great vital creator and intensely, though within marked limits, a seer of life.

—The future poetry p 99

और कुहाच्छन्न कालको ज्यादा उपयुक्त समझा। इतिहास यदि उनकी स्थापनाओंसे सामञ्जस्य रखता है तो वे उसकी अभ्यर्थना करते हैं यदि ऐतिहासिक मान्यताएँ उनके पक्षके विरोधमें जाती हैं तो वे उनका खंडन करनेके लिए इतिहासकी ही शरण लेते हैं और यदि खण्डन नहीं कर पाते तो उन्हें निराधार कहनेमें वे कभी संकोचका अनुभव नहीं करते। एक बातका प्रसाद अवश्य हमेशा ध्यान रखते हैं कि उनकी सुनिश्चित मान्यताएँ किसी न किसी प्रकार प्रश्रय पा सकें। अपनी मान्यताओंके प्रचारके लिए नाटकोंसे ज्यादा सुविधापूर्ण और दूसरी काव्य-विधा नहीं, तटस्थ और स्थित प्रज्ञ रहकर वे अपने पात्रों के माध्यमसे अपनी विचारधाराओंका बल-पूर्वक् प्रचार कर सके, जो उन्हें अभीष्ट था। इस प्रकार अपने सांस्कृतिक या ऐतिहासिक नाटकोंमें प्रसादने स्वोपलब्ध सत्यको अभिव्यक्ति दी।

नव सांस्कृतिक सर्जनकी भूमिका

'प्रसाद' के नाटक प्रायः संस्कृतिके किसी एक खंडका उद्घाटन करते हैं; किन्तु 'प्रसाद' को यह स्वीकार्य नहीं कि वे पिछले कालका यथातथ्य चित्रण करें, खण्डहरोंकी शोभा कम आकर्षक नहीं होती, उनके भीतरका वातावरण कम रहस्यपूर्ण नहीं होता, किन्तु 'प्रसाद' अतीतकी भग्नताके पुजारी नहीं, वे भग्नावशेषोंके बीचसे नये प्रतिष्ठानोंको उभरते हुए देखते हैं। यदि सांस्कृतिक पुनर्निर्माणके इस आग्रहमें इतिहास बाधक है तो प्रसाद उसके विपरीत भी जा सकते हैं। स्कन्दगुप्तको ही देखें। इतिहास-वेत्ताओंके पास स्कन्दगुप्त सम्बन्धी जो भी सामग्री उपलब्ध है, उनसे यही पता चलता है कि गुप्तवंशी राजकुमार स्कन्दगुप्तने ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दिमें अपने वंशकी विचलित लक्ष्मीको बड़ी कठिनाईसे स्थिर किया, युवराजके रूपमें उसने पुष्यमित्रों को पराजित किया[1] और हूणोंके आक्रमणसे देशकी रक्षा की।[2] उसके इस वीरतापूर्ण कार्यकी पवित्र गाथा सन्तुष्ट मनुष्योंके द्वारा सर्वत्र गाई जाने

१—विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा समुदित बलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः

—भीतरीका स्तम्भलेख।

२—हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता

वही।

लगीं ।[1] इन शिलालेखोसे इतना ही पता चलता है कि स्कन्दगुप्तने 'विचलित' और 'विप्लुत' श्री को स्थापित किया, किन्तु इस स्कन्दगुप्तका अन्त कैसे हुआ, इसपर इतिहासकार मौन हैं। हमारे सामने हूणोंके आक्रमणका प्रभाव तो उपस्थित है, किन्तु उस आक्रमणके प्रभावका कहीं उल्लेख नहीं। हूणोका आक्रमण भारत राष्ट्रकी छातीमें विपतस फलककी तरह प्रविष्ट कर गया, सम्पूर्ण पश्चिमी भारत ध्वस्त हो गया, इसका कहीं उल्लेख नहीं। राखालदास बैनर्जीने अपने गुप्तकालीन इतिहासमें इस प्रश्नको उठाया है। चीनी इतिहासकारोंने वैक्ट्रिया (Bactria) और अफगानिस्तानके नगरोंकी ध्वसकी कहानी लिखी है। हूणोंके बर्बरताकी गाथा वहाँके खण्डहरोंमें आज भी अकित है। Messieurs Charvannas और Berthoud के शोधोंसे ,पता चलता है कि हूणोंकी वर्वर सेना ५ वीं शतीमें किस प्रकार दक्षिण एशिया और योरोपमें टिड्डीदलकी तरह छा गई।[2] बैनर्जीने पूछा है कि क्या मगध-वासियोंने, जिनके कन्धेपर भारतके पश्चिमोत्तर द्वारकी रक्षाका भार था, अपने उत्तरदायित्वको समझा ? कुमारगुप्तके कालमें पश्चिमोत्तरका यह द्वार सदा अरक्षित रहा। परिणाम स्पष्ट था। हूणोंके आक्रमणके प्रभावके विषयमें वैनर्जी लिखते हैं पाँचवी शताब्दिके इस विराट ध्वस को हम पन्द्रह सौ वर्षों के पश्चात् केवल अनुमान कर सकते हैं। किस प्रकार नगरोंके बाद नगर आगके हवाले किए गए, पुरुष अपने घरोंके द्वारपर निहत हुए, बच्चे और औरतोंको दास बननेके लिए विवश होना पड़ा। स्कन्दगुप्तने पहले आक्रमणका सफल प्रतिरोध किया, दूसरे आक्रमणकी उसने कठिनाईसे बाढ रोकी, आक्रमणपर आक्रमण होते रहे। राजकोष खाली हो गया, स्कदगुप्तके सिक्कोंमें सुवर्णका अश कम हो गया, जो इस धनाभावका द्योतक है, और अन्तमें इस भयकर प्रभावको रोकनेमें स्कन्दगुप्त मारा गया। कपिशाकी उपजाऊ घाटी, नगरहार और गान्धार हूणोंके हाथमें चले गए क्योंकि पाँचवीं शताब्दिके भारतीय मानचित्रोंमें इनका स्थान नहीं।[3]

१—चरितममलकीर्तेर्गीयते यस्य शुभ्र दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारमनुष्यैः
—भीतरीका शिलालेख

२—The Age of imperial Guptas. R. D. Banerjee P. P. 47

३ R. D. Banerjee, The Age of Imperial Suptas P 49

ध्वंस, क्षार, नाशकी यही स्थिति तो इतिहास बताता है और यदि 'प्रसाद' बैनर्जीकी तरह इतिहासके प्रबल समर्थक होते तो उनका स्कन्दगुप्त 'करुणा' बन गया होता। वैसे मैं यह मानता हूँ कि प्रसादने स्कन्दगुप्तके 'प्लाट'का बहुत हिस्सा राखालदास बैनर्जीके उपन्यास 'करुणा'से लिया है। हूणोंके आक्रमणसे उत्पन्न विभीषिका का जो चित्रण बैनर्जीने करुणा उपन्यासमें किया है वह किसी सहृदयके लिए हृदय-विदारक हो सकता है। भारतीय राष्ट्रके गौरव और सम्मानके प्रति बैनर्जीमें कम श्रद्धा नहीं। उन्होंने भी हजारों मागध नागरिकोंके साथ स्कन्दगुप्तका विजय-गान किया !

'फिर मागध-सेनाके पैरोंके भारसे उद्यान और कपिशाकी भूमि काँप उठेगी। आर्य रक्तसे रँगी हुई वाह्लीका नदीके तटपर मागधोंकी हड्डियों और मृत शरीरोंसे बने हुए प्राकारपर मागध सैनिक फिर खड़े होकर उत्तरापथके द्वारकी रक्षा करेंगे × × × विचलित कुल-लक्ष्मीको रोक लेनेके लिए कौन भूमिपर सोया था। शतद्रु तटपर केवल दस हजार सैनिक लेकर किसने हूणोंके एक लाख सैनिकोंको रोका था, आर्यावर्तके निवासियो कृतज्ञ होकर चन्द्रगुप्तके पौत्रका अभिवादन करो।'

(करुणा, हिन्दी संस्करण पृष्ठ ३५३)

किन्तु इतिहासकार बैनर्जीका यह सारा उत्साह ऐतिहासिक तथ्योंके सामने दब गया और उन्होंने हृदयपर पत्थर रखकर गुप्त साम्राज्यके पतनकी कहानी पूरी की नगरहर और प्रतिष्ठानकी लड़ाइयोंमें मागध सेनाका सर्वनाश हो गया। हूणोंने अन्तर्वेदतकके प्रदेशोंको जलाकर क्षार कर दिया और वह दिन भी आ गया जब विशाल मागध साम्राज्यके परमभट्टारक महामात्य दामोदर शर्मा पागल की तरह हाथ फैला कर भिक्षा माँगने लगे। "तुमने कभी द्वितीय चन्द्रगुप्तका अन्न खाया है, लाओ भिक्षा दो, एक कौड़ी भिक्षा दो, इस समय साम्राज्य में न तो धन है न बल, स्कन्दगुप्तकी रक्षा करना आवश्यक है नहीं तो आर्यावर्तकी रक्षा कौन करेगा।" (करुणा, अंतिम पंक्तियाँ) प्रसादके सामने भी इतिहासका यही रूप था। उनका भी पर्णदत्त मागध विनाशके बाद इसी तरह भिक्षा माँगता है। "भीख दो बाबा देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं कुछ दो बाबा।" प्रसादने भी स्कन्दगुप्तकी पराजय, क्षति और अवसादताका वर्णन किया है; किन्तु 'करुणा' की तरह यह तिमिराच्छन्न स्थिति ही 'प्रसाद' के स्कन्दका अन्त नहीं कर सकती और तब प्रसादके इतिहासकारपर उनका कहानीकार प्रमुख बना लेता है। विजयाका

पुस्कल रत्न-भाण्डार स्कन्दगुप्तके हाथ लगता है, सेना एकत्र होती है, भारतके गौरवका मान होता है, हूण नरेश पराजित होकर शरणापन्न होता है, यह और बात है कि अन्त में देवसेना और स्कन्दगुप्त के विछोह से नाटक पुनः दुःखान्त हो गया, किन्तु जहाँ तक इतिहासका प्रश्न है प्रसादने उसके खहहरोंके बीचसे नए उत्साह और निर्माणका स्वरूप दिखाया है, वे स्कन्दगुप्त का पतन रोक नहीं सकते थे क्योंकि यह इतिहासका विरोध होता, किन्तु उनकी सांस्कृतिक पुनर्निर्माणकी भूमिका, बिना आर्य जातिकी विजय दिखाये पूरी नहीं होती इसलिए प्रसादने इतिहासके विपरीत होते हुए भी इसे दिखाया। वाजपेयी जीने लिखा है 'स्कन्दगुप्तका सारा उपक्रम विफलताकी ओर दौड़ता हुआ दिखाई देता है। स्कन्दगुप्तके मार्गमें कठिनाइयाँ इतनी विराट हैं कि स्कन्दगुप्तका चरित्र इन विरोधी परिस्थितियोंके सम्मुख खड़ा होकर हमारा दया-पात्र बन जाता है।" इसमें 'प्रसाद' का कोई दोष नहीं, स्कन्दगुप्तका जीवन ही इस प्रकारकी विडम्बनासे भरा है, उसे सफलताकी ओर अग्रसर करनेका कोई उपाय नहीं। वाजपेयी जीने आगे कहा है : 'स्कन्दगुप्त नाटकको परिणाममें सुखान्त बनाया गया है, परन्तु इसका वस्तु विन्यास दुःखान्त नाटककी पद्धतिपर रचा गया है, यह वस्तुविन्यास सम्बन्धी त्रुटि स्कन्दगुप्त नाटकमें स्वीकार करनी पड़ती है।' इस त्रुटिके विषयमें कुछ न कहकर मैं कहना चाहूँगा कि दुःखान्तवाली बात स्कन्दगुप्तके यथार्थ जीवनकी झलक है जबकि अन्तमें सुखान्त हो जाना प्रसादका नियोजन, जान-बूझकर लाया हुआ प्रसंग जो उनके सांस्कृतिक निर्माणका आग्रह कहा जा सकता है।

यह तो राजनीतिक घटनाओंके बीच पुनर्निर्माणकी झलक दिखाई पड़ी। बौद्धों और हिन्दुओंके पारस्परिक कलहको प्रख्यातकीर्ति अपने जीवन-दानसे मिटा देना चाहता है, यह ऐतिहासिक सत्य नहीं हो सकता है, प्राचीन संस्कृतिमें बौद्ध हिन्दू कलह वीभत्स रूप ले चुका था, किन्तु 'प्रसाद' से इसका कोई मतलब नहीं, वे इन दोनों ही धर्मोंके प्रति समान रूपसे श्रद्धाभाव रखते हैं, उनकी दृष्टिसे समन्वय ही उनका वास्तविक कल्याणकारी रूप हो सकता है। ब्राह्मण और बौद्धोंके कलह का वास्तविक स्वरूप उन दोनोंके मताव-लम्बियोंके विवादोंमें प्रसादने दिखाया है, किन्तु धार्मिक प्रेम-भाव कैसा होना चाहिए, इसे प्रख्यातकीर्तिके मुँहसे प्रसादने कहलाया है।

इस प्रकार इस नाटकमें यथावसर प्रसादने तत्कालीन संस्कृतिको नई चेतना और ओज प्रदान किया है, यही उनके सांस्कृतिक पुनर्निर्माणकी भूमिका है।

इतिहास और कल्पना

इतिहास और कल्पनाकी बात आ गई है, इसलिये इस विषयपर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। वैसे सांस्कृतिक सर्जनकी नई भूमिकापर विचार करते समय इधर संकेत किया गया है। प्रसादने इतिहासका अच्छा अध्ययन किया था, किन्तु वे मूलतः साहित्यकार थे इतिहासकार नहीं, इसलिए अपनी साहित्यिक सीमाओंमें उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वे इतिहासको तोड़-मरोड़ सकते थे ऐसा मैं पहले ही कह चुका हूँ। 'स्कन्दगुप्त' नाटकमें दिखलाया गया है कि गृह-कलह बचानेके लिये स्कन्दगुप्तने मगधका राज्य पुरगुप्तको दे दिया, उसने अपनी मातासे कहा—"अनन्तदेवी, कुसुमपुरमें पुरगुप्तको लेकर चुप-चाप बैठी रहो, मैं स्त्रीपर हाथ नहीं उठाता, सावधान, पर विद्रोहकी इच्छा न करना। स्कन्दगुप्तका मगधके सिंहासनपर अभिषेक नहीं होता है और मालव नरेश बंधुवर्मा अपना राज्य राष्ट्रके नामपर दान कर देता है और मालवामें स्कन्दगुप्तका अभिषेक होता है। राष्ट्रीयताके नामपर इस दानकी जितनी भी अभ्यर्थना की जाय थोड़ी है; किन्तु इस घटनाके भीतर इतिहास-का प्रमाण क्या है विचारणीय है। इतिहासकारोंने गृहयुद्धकी बात उठाई है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि राज्यारोहण क्रमसे जो वंश परिचय दिया जाता है उसमें पुरगुप्तके लेखोंमें स्कन्दगुप्तका नाम कहीं नहीं आता, दूसरी ओर स्कन्दगुप्तके बारेमें—

पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंश लक्ष्मीं
भुजबल विजितार्य. प्रतिष्ठाप्य भूयः
जितमिव परितोषान् मातरं साश्रुनेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्यु पेतः

(भीतरी शिलालेख)

से पता चलता है कि पिताकी मृत्युके बाद वंश लक्ष्मी चंचल हो गई, जिसे अपनी भुजाओंके बलसे फिरसे प्रतिष्ठापित किया। शत्रुओंका नाश कर वह अपनी साश्रुनेत्रा माताके पास गया जिस प्रकार शत्रुओंके नाश करनेवाले कृष्ण अपनी माता देवकीके पास गये। इन वर्णनोंसे गृह-कलहकी ओर संकेत तो मिलता है किन्तु ऐसा कहीं संकेत नहीं मिलता कि स्कन्दगुप्तने मगधका राज्य पुरगुप्तके लिए छोड़ दिया। उलटे नीचेके श्लोकोंमें उसके दिग्विजय आदिका वर्णन है। जूनागढ़के शिलालेखमें लिखा है कि लक्ष्मीने उसे राजाके पुत्रोंमें सबसे अधिक योग्य समझकर स्वयं वरण किया—

व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार

बहुतसे विद्वान् गृहकलहका होना मानते ही नहीं,[1] यदि हुआ भी हो तो उसमें स्कन्दगुप्त विजयी हुआ, फिर उसका राज्याभिषेक मगधमें न कराकर मालवामें करानेका कोई तुक नहीं। प्रसादने ऐसा क्यों किया? मात्र राष्ट्रके नामपर इतने बड़े त्यागके प्रदर्शनके लिए। इसका प्रयोजन ही क्या था, प्राणोंसे ज्यादा मूल्य राज्यका नहीं होता, बन्धुवर्मा प्राणतक दे देता है, फिर उसने राज्य भी दे दिया, इससे कोई महत्त्व नहीं बढ़ता। ऐतिहासिक प्रमाण इस सत्यके बिल्कुल विपरीत हैं। मालवाके भीमवर्मा स्कन्दगुप्तके सामन्त थे ऐसा कौसाम्बी (कोसम) के प्रस्तर मूर्ति-लेखसे पता चलता है। फिर राज्य त्याग और राज्याभिषेकका कोई प्रसंग ही नहीं उठता। दूसरा बहुत ही विवादास्पद विषय है मातृगुप्त, जिसके बारेमें डा० जगन्नाथप्रसाद शर्माने काफी विस्तारसे विचार किया है। अन्तर्वेदके विषय पति शर्वनागको प्रसादजीने षड्यन्त्रमें शामिल बताया है जो कल्पनामात्र ही है। शर्वनागका नाम एक शिलालेखमें मिलता है, जिसमें उसे अन्दर्वेदीका विषयपति कहा गया है।

शर्वनाग, भटार्क विजया आदि चरित्रोंके अन्दर कल्पनाका समावेश है कुछ तो नितान्त कल्पित हैं, किन्तु इनके भीतर 'प्रसाद'का जो उद्देश्य कार्य कर रहा है वह एकदम स्पष्ट है, ये दुष्टचरित्र भी अन्तमें अपने पापोंका प्रायश्चित करते हैं और राष्ट्र-प्रेममें बलिदान करनेके लिए उद्यत दिखाई पड़ते हैं।

इस नाटकका सर्वांशतः कल्पित चरित्र देवसेना है, जो प्रसादकी कलाका सौंदर्य-विग्रह है। स्कन्दगुप्तके बाद मगधका सम्राट उनका भाई पुरगुप्त हुआ। स्कन्दके सिक्कोंपर भी कहीं महादेवीका उल्लेख नहीं, इन आधारोंपर आजन्म युद्धमें संलग्न युवराजके चिर कौमार्यका पता चलता है। इसी आधारपर देवसेना ऐसे मृदु और कवित्वपूर्ण चरित्रकी सृष्टि हुई। यहाँ

---

१ राधा कुमुद मुखर्जी, The Gupta Empire, पृ० ९४

1 A feudetory was also sometimes appointed as the Governor of a province, e. g Maharaja Bhimaverman of kosam as is mentioned in the stone image inscription of that place of AD 458

R K Mukherjee, The Gupta Empire P 94

'करुणा' की अरुणाका जिक्र कर देना अप्रासंगिक न होगा। कुमारगुप्तकी पालिता कन्या अरुणा स्कन्दकी वाग्दत्ता पत्नी है, किन्तु राष्ट्रोद्धारक युवराजको इतना अवकाश कहाँ जो उसे स्वप्नमें भी याद कर सके। अन्तमें युवराजकी मृत्युका गलत समाचार सुनकर वह प्राण दे देती है।

स्कन्दगुप्तके इतिहासमें भटकानेका प्रयोजन था 'प्रसाद'की उस अन्तर्दृष्टि का परिचय जिसने इन छिन्न-भिन्न सूत्रोंमें नई प्राणवत्ताका सचार किया है। एक बात और कह दूँ स्कन्दगुप्तमें प्रसादने जो ऐतिहासिक मान्यताएँ रखी हैं; उनमें कोई खास नई खोज नहीं है, यह सारी सामग्री राखालदासके 'करुणा' उपन्याससे मिलती-जुलती है, इसे संयोग भी कह सकते हैं और सम्पर्क भी।

चरित्र और भाव-सम्पदा

प्रसादके नाटकोंकी यही विशेषता नहीं है कि उनमें भारतकी सांस्कृतिक विरासत अपने भव्यरूपमें सुरक्षित है या कि प्रसादने इस विरासतको और अधिक सजाया सँवारा और प्राणवान् किया है बल्कि उन्होंने हमारे सामने जीवत चरित्रोंकी एक प्रभादीप्त पंक्ति रची है जो अपने व्यक्ति-वैचित्र्यके लिए शाश्वत-स्मरणीय रहेंगे। प्रसादके चरित्रोंके विषयमें अबतक बहुत कुछ कहा गया है, उनका कवित्वपूर्ण जीवन, उनकी चेतना गरिमा और त्यागकी भावना बहुत बार प्रशंसित हुई है। उनके चरित्रोंको न केवल अतीतके प्रतिनिधि बल्कि भविष्यके संदेशवाहक माना गया है, इन चरित्रोंकी राष्ट्र-भावनाको हमने समादृत किया है। प्रसादके नारी चरित्रोंकी बारीक विशेषताओंकी एकाधिक बार अभ्यर्थना हुई है, किन्तु प्रसादके इन चरित्रों-विशेषकर उन चरित्रों जिन्हें 'प्रसाद' अपना प्रतिनिधि मानते हैं—के व्यक्तित्वकी सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तुका उद्घाटन करना आवश्यक है जिसके अभावमें ये चरित्र बुझा हुई शलकी तरह निष्प्राण मालूम होंगे, वह कौन सी वस्तु है जो प्रसादके किसी भी श्रेष्ठ चरित्रको हमारे मनमें सदाके लिए अमर कर देती है? वह है तपस्याकी अग्नि। यह तपस्या संन्यासियोंकी विरक्तिमें नहीं, गृहस्थोंकी प्रवृत्तिमें दिखाई पड़ती है। संसारके सभी संभर मुओंके बीच इस तपस्याकी अग्निका प्रस्फुरण होता है। इस अग्निके प्रज्ज्वलित होनेपर साधारण चरित्र एक नई दीप्तिसे भर उठता है, उनका जीवन तीव्र पीड़ा, त्याग और अक्षुण्ण एकाकीपनसे परिव्याप्त हो जाता है।

"कष्ट हृदयकी कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या !"

देवसेनाके इन शब्दोंमें जो अग्नि प्रज्ज्वलित है, उसे काल भी नहीं बुझा सकता। देवसेनाके ये शब्द क्या अतृप्ति-जन्य हैं, क्या मालवेश कुमारी स्कन्दकी विरक्तिसे हृदय-हीन होकर ऐसा कहती है, क्या उसकी यह विरक्ति ममताशून्य है ? नहीं। देवसेनाको अपने सांसारिक रूप-जन्य आकांक्षाओंको बलात् दबानेमें कम पीड़ा नहीं हुई, किन्तु वेदनाके इस वरदानको उसने गलत भावुकताके साथ स्वीकार नहीं किया।

"आपको अकर्मण्य बनानेके लिए देवसेना जीवित न रहेगी, सम्राट् क्षमा हो, इस हृदयमें.. आह कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्तको छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायेगा, अभिमानी भक्तकी तरह निष्काम होकर उसीकी उपासना करने दीजिए उसे कल्पनाके भँवरमें फँसाकर कलुषित न कीजिए।"

यह अग्नि सर्वभुक् है, सारी आकांक्षाओंको भस्मसात कर देनेवाली। और इस प्रकार अपनी ही ममताको जलाकर राख कर देनेवाले ये चरित्र हमारे मनमें तीव्र पीड़ाका भाव भर देते हैं। उनकी यह 'भावनामयि विरक्ति' इनकी शक्ति है। इस कसौटीपर आप प्रसादके चरित्रोंकी परीक्षा करें, जो चरित्र इस 'अग्नि' को जितना ही अधिक सँजो पाता है वह उतना ही श्रेष्ठ है। देवसेना, स्कन्द, चाणक्य, मालविका, सबमें किसी न किसी परिमाणमें यह अग्नि जलती हुई दिखाई पड़ती है। स्कन्दगुप्तकी विजया सौन्दर्य, आकर्षणकी शक्ति और व्यक्तित्वमें देवसेनासे कहीं बढ़कर है किन्तु उसके अन्दर वासनाका हविष्य है तपस्याकी अग्नि नहीं। इसी हविष्यको क्षार करनेके लिए वह कृत्याका रूप ले सकती है, सर्वत्र अपनी इस उद्दाम वासनाके कारण वह लांछित होती है। उसकी आकांक्षा स्वार्थसे परिसीमित है।

अगरु धूमकी श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकोंमें
मादकता लालीके डोरे इधर फँसे हों पलकोंमें
व्याकुल बिजली सी तुम मचलो आर्द्र हृदय घनमालामें
आँसू बरुनीसे उलझे हो अधर प्रेमके प्यालामें

इस प्रकारके चरित्रोंके जीवनमें किसी मानसिक गुत्थीके कारण एक खटका सा उत्पन्न हो जाता है यह कोई आवश्यक नहीं कि देवसेनाकी तरह

सभी चरित्र किसी बहुत बड़े लक्ष्यसे इस तरहका त्याग करें, चाणक्य, स्कन्द सबमें इस लक्ष्यकी उच्चता है किन्तु इस प्रकारका त्याग 'मानसिक अव्यवस्था' से भी हो सकता है, यद्यपि उसमें भी कोई मधुर स्मृति या पीड़ा होती ही है जैसे कोमा, कल्याणी, मालविका या आकाशदीपकी चम्पाके अन्दर। यही नहीं किसी सर्वथा भ्रष्ट, संसारकी दृष्टिसे गिरे हुए 'चरित्रहीन' पात्रमें भी यह 'अग्नि' प्रज्ज्वलित होती है और उसके सारे पापोंको क्षार कर देती है इस तरहके चरित्र प्रायः 'प्रसाद' की कहानियोंमें दिखाई पड़ते हैं 'श्रीकान्त' उपन्यास की अभया बर्मामें अपने क्रूर पतिकी यातनाओंसे ऊबकर जब एक अन्य पुरुषके साथ रहने लगती है, उसके इस कार्यसे असन्तुष्ट श्रीकान्त अपनी आदर्श नारी राजलक्ष्मीसे इस पर राय माँगता है, राजलक्ष्मी इसका उत्तर देती है : अभयाके हृदयमें एक अग्नि जल रही है श्रीकान्त और जिस व्यक्तिके हृदयमें ऐसी अग्नि प्रज्ज्वलित होती है उसके पाप-पुण्यका निर्णय करना बड़ा कठिन होता है। तुम मेरे जैसी क्षुद्र नारीके बटखरेसे अभयाको तौलनेका अन्याय न करना।

ऐसे ही चरित्रोंके कारण प्रसादके उपन्यासोंका नाटकोंके लिए 'प्रसादान्त' विशेषणकी खोज हुई। इस तरहके चरित्रोंके जीवनकी दूसरी विशेषता है इनका एकाकीपन। वे इस संसारमें अनजाने आदमीकी तरह सर्वथा 'अकेले' दिखाई पड़ते हैं, अपने ही बनाए कल्पना-जालमें ये इस तरह उलझ जाते हैं कि उनका जीवन उन्हींके आदर्शोंका अवशेष रह जाता है। स्कन्दगुप्तके ये शब्द : इस नन्दनकी वसन्त-श्री इस अमरावतीकी शची इस स्वर्गकी लक्ष्मी तुम चली जाओ ऐसा मैं किस मुँहसे कहूँ...और किस वज्र कठोर हृदयसे तुम्हें रोकूँ, तुम जाओ, हतभाग्य स्कन्दगुप्त अकेला...ओह !' यह भाग्य विडम्बना केवल स्कन्द या देवसेनाके साथ नहीं है, यही चाणक्यके साथ है, कोमाके साथ है, चम्पाके साथ है। इस प्रकारके विचित्र चरित्रोंकी यह सबसे बड़ी विडम्बना है, किन्तु हमेशा विचारशील व्यक्तित्व अकेला रहा है उसके इस 'अकेलेपन' ने दुनियाँको शक्ति और विश्वासकी प्रेरणा दी है :

Lonly is the man who understands
Lonly is vision that leads a man away
From the pasture lands
From the furrows of corn and brown loads of hay
To the mountain side

Drinkwater : Abraham Lincoln

यह है प्रसादके चरित्रोंकी 'अग्नि'। वैसे तो प्रसादके चरित्रोंमें और भी बहुत सी विशेषतायें, मनोवैज्ञानिक बारीकियाँ आदि दिखाई पड़ती हैं, किन्तु यह 'असग तितिक्षा' और यौवनपूर्ण सयम उनके चरित्रोंका मेरुदण्ड है तथा अति कवित्वपूर्ण भावुकता उनकी सबसे बड़ी कमजोरी।

शिल्प-शैली और अभिनेयता

प्रसादकी भाषा, शिल्प-शैली आदि पर काफी विवाद हो चुका है कुछ लोगोंने उन्हें हिन्दीका सर्वश्रेष्ठ नाटककार माना है कुछ ने उनके नाटकोंमें अभिनेयताका नितान्त अभाव देखा है। बहुत अंशोंमें प्रसादके ऊपर लगाया हुआ यह दोष उचित माना जा सकता है। कवित्वकी शक्ति स्वतः बहुत बड़ा गुण है, शक्ति है, किन्तु यही शक्ति अतिशयताको प्राप्त होकर प्रसादके नाटकोंकी सबसे बड़ी त्रुटि हो गई है। शेक्सपियरके बारेमें अरविन्दकी कुछ पंक्तिया उद्धृत कर देना चाहता हूँ जिसमें प्रसादके तीव्र आलोचकोंको कुछ विचारकी वस्तु मिल सकती है।

नाट्य-विद्या

'भविष्य में नाट्य-विद्याका इससे ज्यादा श्रेष्ठ और गंभीर, इससे भी ज्यादा सूक्ष्म और शक्तिशाली प्रयोजन सिद्ध हो सकता है जिसे कोई शेक्सपियर अनुमान भी नहीं कर सकता था, किन्तु जब तक यह उसी स्तरकी शक्ति पकड़ और अन्तर्दृष्टिको अभिव्यक्ति देनेवाली भाषाके साथ संभव नहीं होता तब तक उसकी सत्ता अक्षुण्ण है।"

इसी तरह प्रसादके पक्षधर आलोचकोंका यह कर्तव्य है कि वह प्रसादकी इस त्रुटिको स्वीकार करें। इस त्रुटिमें प्रसादका गौरव कम नहीं होता और न तो हिन्दी रगमचकी असमर्थताका इजहार करके इन नाटकोंमें श्रेष्ठ अभि-

---

The future may find for us a higher and profounder, even a more deeply and finely vital aim for the dramatic form than any Shakespeare ever conceived, but until that has been done with an equal power, grasp and fullness of vision and an equal intensity of revealing speech, he keeps his sovereign nation

Future poetry p 102

नेयताका मिथ्या गुण आरोपित करके उनके यशको बढ़ाया ही जा सकता है। हिन्दी रंगमंच 'प्रसाद' के नाटकोंके उपयुक्त नहीं पड़ता तो यह उसकी कमी है; किन्तु इतने बड़े रंगमंचकी भविष्यत् कल्पना पर अभिनेयताहीन नाटकोंकी रचना मामूली हिमाकत नहीं।

स्कन्दगुप्त नाटककी रचना बहुत कुछ पाश्चात्य शैलीपर हुई है। भारतीय शास्त्रके अनुसार उसमें कार्यावस्थायें और सन्धियोंका समावेश किया जा सकता है किन्तु स्कन्दगुप्तकी विफलताओंका इतना विकट रूप खड़ा है कि इसमें अन्त तक नियताप्तिका पता ही नहीं चलता, चले भी कैसे! पहले ही कहा गया कि स्कन्दगुप्तकी अन्तिम विजय कल्पित और असम्भव-साधन मात्र है, जिससे आर्य जातिकी विजयका सन्देश तो कह सकते हैं किन्तु नाटक-शैलीकी दृष्टिसे यह नियताप्ति रहित फलागम प्रभावोत्पादक अथच स्वाभाविक नहीं मालूम होता। और अन्तमें स्कन्दगुप्त और देवसेनाका विछोह-दृश्य तो क्षेपककी तरह चिपका हुआ मालूम होता है जिसे सम्भवतः लेखकने 'अन्त' की त्रुटिको पहचानकर अधिक करुणापूर्ण बनानेके लिए बलात् नियोजित किया है। इसे 'प्रसादान्त' बनानेका मोह भी कह सकते हैं जो 'प्रसाद' की रचनाओंका बहुप्रचलित विधान है।

इस नाटकके गठनकी दूसरी त्रुटि है स्थान परिवर्तनकी अधिकता। पाटलिपुत्रसे पश्चिमोत्तर कपिशा तकके प्रदेशके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें घटनाएँ अत्यन्त बिखरी हुई दिखाई गई हैं और कभी कभी तो दोनोंका मेल इतने अस्वाभाविक रूपसे होता है कि पाठक भ्रममें पड़ जाता है। उदाहरणके लिए देवकी कारागृहमें पड़ी है और शर्वनाग उसकी हत्या करने चलता है तभी स्कन्दगुप्तका प्रवेश होता है जो पिछले दृश्यमें अवन्तीमें दिखाया गया है, दूसरे ही क्षण पुनः अवन्तीका दृश्य आता है जहाँ स्कन्दगुप्तको राज्य देनेकी चर्चा होती है और फिर अगले दृश्यमें स्कन्दगुप्त पुनः अवन्तीमें आ जाता है। इस प्रकारके दृश्य परिवर्तनोंके कारण वस्तु-गठनमें शिथिलताका आना अनिवार्य है।

नाटककी विशेषता है उसका कार्य (action) की तीव्रता। नाटकका कोई भी अंश मन्थर, नीरस या गतिहीन नहीं दिखाई पड़ता। घटनाओंका नियोजन चरित्रोंके विकासमें योग देता है तथा कार्य-व्यापारको आगे बढ़ाता है।

भाषाके बारेमें सफाई देते हुए एक स्थानपर प्रसाद जीने लिखा है, "भाषाकी सरलताकी पुकार भी ऐसी ही है × × सरलता और क्लिष्टता पात्रोंके भावों और विचारोंके अनुसार भाषामें होगी ही और पात्रोंके भावों और विचारोंके आधारपर भाषाका प्रयोग नाटकोंमें होना चाहिए।" उन्होंने इसीके साथ उनलोगोंकी भी हँसी उड़ाई है जो पात्रोंकी निजी भाषाकी माँग करते हैं। भाषाके विषयमें खिचड़ी भाषा या पात्रोंकी निजी भाषाकी माँग जायज भले न हो किन्तु भाषाकी सरलता तो अनिवार्य है, प्रसाद इसे चाहकर भी नहीं ला सके, यह उनकी दुर्बलता है, परवर्ती कहानियोंमें यह भाषा अपने आप सरल होने लगी थी, इसमें कुछ प्रसादकी शैली और कुछ हिन्दी गद्यकी स्थितिको कारण मानना चाहिए।



प्रसादके नाटकोंमें नियतिवाद



— *शिवनाथ* —

जयशंकर 'प्रसाद'के समस्त नाटकोंमें नियतिवादका समावेश होनेके कारण यह उनके नाटकोंकी विभिन्न प्रवृत्तियोंमें से एक विशेष प्रवृत्ति हो गई है। हमारा यह निश्चित विचार है कि प्रसादके साहित्यका मूल स्वर भारतीय है। और, जब प्रसाद अपने साहित्यके एक अति विशेष अंग अपने नाटकोंमें नियतिवादका समावेश करते हैं तब उक्त मूल स्वर विवादी नहीं जान पड़ता, क्योंकि भारतीय दर्शन तथा साहित्यका मूल नियामक रुचि दृष्टि और प्रतिपादन भेदसे किसी न किसी रूपमें नियतिवादको ही लेकर चलती है। तात्पर्य यह कि अपने नाटकोंमें नियतिवादका सन्निवेश कर वे भारतीय साहित्यकारों और चिंतकोंकी परंपरामें प्रतिष्ठित होते हैं।

नियतिवादपर ऊपर ऊपरसे ही दृष्टि-निक्षेप करनेवाले प्रसादके नाटकोंमें इसका सन्निवेश एक विगर्हणाका विषय मानेंगे और वे प्रसाद तो उनके सामने एक बड़े भारी मुजरिमके रूपमें खड़े होंगे जिन्होंने अपनी नाटक-रचनाके आरंभिक कालमें ही व्रत लिया था कि "मेरी इच्छा भारतीय इतिहासके अप्रकाशित अंशमें से उन प्रकांड घटनाओंका दिग्दर्शन करानेकी है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थितिको बनानेका बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"[1] इसमें संदेह नहीं कि प्रसादने अपने व्रतको पूरा किया, क्योंकि उनके समस्त नाटक इतिहासके माध्यमसे हमें उच्च स्वरसे राष्ट्रीयताका संदेश देते हैं। और, इस प्रकार इन्होंने (उनके नाटकोंने) "हमारी वर्तमान स्थितिको बनानेका" पूरा और सफल "प्रयत्न" किया है। अस्तु। परंतु नियतिवादका तात्त्विक दर्शन सामने आनेपर प्रसाद मुजरिमके रूपमें सामने खड़े नहीं जान पड़ेंगे।

नियतिवाद प्रसादके नाटकोंमें ही अभिव्यक्त एक दर्शन नहीं है, वरन् वह उनके जीवनका भी एक दर्शन है। महान् साहित्यकारों तथा

---

1. विशाख, भूमिका, सन् १९२१.

विचारकोंका साहित्य-दर्शन और जीवन-दर्शन समान होता है। साहित्य और जीवनको लेकर उनके दोहरे चेहरे नहीं होते। वे अपने साहित्यके तत्त्वको अपने जीवनमें उतारते हैं और अपने जीवनके तत्त्वको अपने साहित्यमें। प्रसाद ऐसे ही साहित्यकार और विचारक थे। घटना उनके जीवनके अंतिम दिनोंकी है। वे राजयक्ष्मासे पीड़ित हो गए थे। डाक्टरोंने लाख दवा की, एक दवा वायु-परिवर्तनके लिए सलाह दी। काशीसे कुछ दूर ही सारनाथके निकट एक बागीचा ठीक किया गया। सारा आवश्यक सामान वहाँ पहुँचा दिया गया। परंतु ऐन मौके पर उन्होंने कहा . "जो होना होगा वह यहीं होगा, , ऐसी अवस्थामें अब घरसे बाहर जानेमें और भी कष्ट होगा।"[२] यह नियतिवादपर ही आस्था है जो प्रसाद इस प्रकार कह रहे हैं।

प्रसादने नियतिवाची विभिन्न शब्दोंका प्रयोग विभिन्न पात्रों द्वारा विभिन्न नाटकोंमें करवाया है, जिनकी एक तालिका नीचे दी जा रही है :

शब्द		पात्र		नाटक
नियति	१	ध्रुवस्वामिनी	१	ध्रुवस्वामिनी
	२	जरत्कारु	२	जनमेजयका नाग यज्ञ
	३	जनमेजय	३	,,
	४	व्यास	४	,,
	५	उत्तंक	५	,,
	६	जीवक	६	अजातशत्रु
	७	मागधी	७	,,
	८	शांतिदेव	८	राज्यश्री
	९	चाणक्य	९	चंद्रगुप्त मौर्य
	१०	शकटार	१०	,,
	११	सिंहरण	११	,,
	१२	कामना	१२	कामना
	१३	अनंतदेवी	१३	स्कंदगुप्त विक्रमादित्य
अदृष्ट	१	खड्ग धारिणी	१	ध्रुवस्वामिनी

२. विनोदशंकर व्यास कृत प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० ३८, सन् १९४०

	२	जीवक	२	अजातशत्रु
	३	चंद्रगुप्त	३	चंद्रगुप्त मौर्य
	४	अलका	४	,,
	५	राक्षस	५	,,
	६	विजया	६	स्कंदगुप्त विक्रमादित्य
अदृष्ट शक्ति	१	व्यास	१	जनमेजयका नागयज्ञ
	२	सरमा	२	,,
	३	विलास	३	कामना
अदृष्ट-लिपि	१	चक्रपालित	१	स्कंदगुप्त विक्रमादित्य
अदृष्टकी लिपि	१	जरत्कारु	१	जनमेजयका नागयज्ञ
अदृष्टका लेख	१	बिंबसार	१	अजातशत्रु
भाग्य	१	ध्रुवस्वामिनी	१	ध्रुवस्वामिनी
	२	खड्गधारिणी	२	,,
	३	माणवक	३	जनमेजयका नागयज्ञ
	४	वेद	४	,,
	५	विशाख	५	विशाख
	६	रोहित	६	करुणालय
	७	शुनः शेफ	७	,,
	८	शांतिदेव	८	राज्य श्री
	९	देवगुप्त	९	,,
	१०	खिंगिल	१०	स्कंदगुप्त विक्रमादित्य
भाग्य लिपि	१	जरत्कारु	१	जनमेजयका नागयज्ञ
ललाट-लिपि	१	प्रपंचबुद्धि	१	स्कंदगुप्त विक्रमादित्य
भाग्य-विधाता	१	ध्रुवस्वामिनी	१	ध्रुवस्वामिनी
दैव	१	चंद्रलेखा	१	विशाख
	२	युधिष्ठिर	२	सज्जन
	३	मधुकर	३	राज्य श्री
	४	चंद्रगुप्त	४	चंद्रगुप्त मौर्य
	५	अलका	५	,,
दुर्दैव	१	ध्रुवस्वामिनी	१	ध्रुवस्वामिनी
	२	सुश्रवा	२	विशाख

	३	दासी	३	करुणालय
	४	कमला	४	राज्य श्री
	५	कमला	५	स्कंदगुप्त विक्रमादित्य
	६	मातृगुप्त	६	,,
	७	स्कंदगुप्त	७	,,
विधाता	१	ध्रुवस्वामिनी	१	ध्रुवस्वामिनी
	२	मंदाकिनी	२	,,
	३	झाड़्वाला	३	एकघूँट
ईश्वर	१	अलका	१	चंद्रगुप्त मौर्य
ब्रह्मचक्र	१	व्यास	१	जनमेजयका नागयज्ञ
प्रकृति	१	जरत्कारु	१	,,
	२	जनमेजय	२	,,
	३	बिंबसार	३	अजातशत्रु
	४	अलका	४	चंद्रगुप्त मौर्य

ऊपरकी तालिकासे ज्ञात होगा कि मैंने कुछ ऐसे शब्दों को भी नियतिके अर्थमें प्रयुक्त माना है जो प्रायः इस अर्थ में चलते नहीं हैं, परंतु प्रसादके नाटकोंमें वे जिन प्रसंगोंमें आये हैं उन प्रसंगोंमें उनका तात्पर्य नियति ही ठीक जान पड़ता है। वे शब्द हैं.—भाग्य-विधाता, विधाता, ईश्वर, ब्रह्मचक्र और प्रकृति। भाग्य-विधाता, विधाता और ईश्वर का प्रयोग जिन प्रसंगों में हुआ है उनको देखने से ज्ञात होगा कि इनका प्रयोग नियतिका नियंता अथवा स्रष्टा है, अतः ये कार्यके अर्थमें कारणके प्रयोगके रूपमें आए हैं। इनके प्रसंग ये हैं.

(क) अरे यह क्या, मेरे भाग्य विधाता ? यह कैसा इंद्रजाल ?[3]

(ख) संसारके कुछ दिन विधाताके विधानमें अपने लिए सुरक्षित करा लूँगी।[4]

(ग) विधाताने मेरे जीवनको एक नए चक्रमें जुतनेका संकेत किया है।[5]

३—ध्रुवस्वामिनी पृ० २, सं० १९९० वि०

४—वही, पृ० ३५

५ - एक घूँट पृ० ४४, सं० १९८६ वि०

(घ) वे वीर हैं, मालव, उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य है, उसकी साधनाके लिए प्रकृति, अदृष्ट, दैव या ईश्वर कुछ न कुछ अवलंब जुटा ही देगा ?[६]

उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि ये शब्द नियति का अर्थ ही ध्वनित करते हैं। अन्तिम उद्धरणमें 'ईश्वर'का प्रयोग प्रकृति, अदृष्ट, दैवके साथ हुआ भी है, और इसकी नियतिके साथ पर्यायवाचिता 'या' शब्द के प्रयोगसे प्रसाद द्वारा और भी स्पष्ट कर दी गई है।

अंतिम उद्धरणमें ही अदृष्ट, दैव, ईश्वरके साथ प्रकृतिका भी प्रयोग प्रसादने किया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रकृतिको भी नियतिके पर्यायके रूपमें मानते हैं। यहाँ भी 'या' शब्दका प्रयोग भुलाया नहीं जा सकता। अन्यत्र भी समान अर्थमें नियतिके साथ प्रकृति का प्रयोग मिलता है। 'जनमेजयका नाग यज्ञ' में ऐसा प्रयोग जनमेजय द्वारा तीन[७] बार और जरत्कारु द्वारा एक बार करवाया गया है। जरत्कारु कहते हैं:

स्मरण रखना, मनुष्य प्रकृतिका अनुचर और नियतिका दास है।[८]

जनमेजय कहता है:

मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियतिका दास, या उसकी क्रीड़ाका उपकरण। फिर क्यों वह अपनेको कुछ समझता है ?[९]

किंतु मनुष्य प्रकृतिका अनुचर और नियतिका दास है। क्या वह कर्म करने में स्वतंत्र है ?[१०]

'अजातशत्रु'[११] में बिम्बसारने 'अदृष्टके लेख' और 'प्रकृतिकी एकताको, रूपकके माध्यमसे और भी स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त किया है:

आह, जीवनकी क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाशके नीले पथपर उज्ज्वल अक्षरोंसे लिखे हुए अदृष्टके लेख जब धीरे-धीरे लोप होने लगते हैं तभी तो मनुष्य प्रभात

६—चंद्रगुप्त मौर्य, पृ० १८०, तृतीय संस्करण

७—पृ० ४३, ४७, ५७, सं० १९९२ वि०

८—पृ० ४३

९—पृ० ४७

१०—पृ० ५७

११—पृ० २०–२१, सं० १९८३ वि०

समझने लगता है, और जीवन संग्राममें प्रवृत्त होकर अनेक अकांड ताडव करता है। और उधर प्रकृति उसे अधकारकी गुफामें ले जाकर उसका शातिमय, रहस्यपूर्ण भाग्यका चिट्ठा समझानेका प्रयत्न करती है। किंतु वह कब मानता है ?

यहाँ 'प्रकृति' द्वारा मनुष्यके 'भाग्यका चिट्ठा' समझानेका तात्पर्य और कुछ नहीं—'नियति' द्वारा उसकी गतिविधिका नियत्रण ही है।

'जनमेजयका नाग यज्ञ' में व्यासने एक स्थानपर नियतिके अर्थमें 'ब्रह्म-चक्र' शब्दका प्रयोग किया है।[१२] कथा यों है। जनमेजयकी रानी वपुष्टमा की नागोंसे रक्षाकर माणवक, आस्तीक, सरमा, वपुष्टमा सभी वेदव्यासके आश्रममें पहुँचे हैं। वेदव्यास कहते हैं:

ब्रह्मचक्र के प्रवर्तनमें कैसी कठोर कमनीयता है! वत्स आस्तीक, मैंने तुमसे जो कहा था, उसे मत भूलना।

व्यास ने आस्तीकसे यही कहा था—

वत्स आस्तीक तुम्हारा प्रादुर्भाव किसी विशेष कार्यके लिए हुआ है। आशा है तुम वह कार्य सम्पन्न करोगे।[१३]

किसीका किसी विशेष कार्यके लिए प्रादुर्भूत होनेके पीछे भी अदृष्ट शक्ति छिपी है, जो व्यासकी भविष्यत् वाणी द्वारा अभिव्यक्त हो रही है।

प्रसादके नाटकोंमें नियतिपर विश्वास रख जीवनमें चलनेवाले समाजके सभी क्षेत्रोंके व्यक्ति हैं, यह ऊपर दी गई तालिकासे स्पष्ट है। 'एक घूँट' के झाड़ूवालासे लेकर 'जनमेजयका नागयज्ञ' के वेदव्यास और जरत्कारु तक नियतिको जीवन और समाजकी भी नियताशक्ति मानते हैं। प्रसादके नाटकोंमें किसी भी वर्गका ऐसा पात्र नहीं है जो जीवन तथा समाजके किसी भी कार्यके पीछे सचालिका शक्तिके रूपमें नियतिको बैठी हुई न माने व्यास महाभारत जैसे उत्कट तथा महान् घटना घटित हो जानेमें भी नियति का हाथ मानते हैं। वे जनमेजयसे कहते हैं:—

आयुष्मन्, तुम्हारे पितामहोंने मुझसे पूछकर कोई काम नहीं किया था, और न बिना पूछे मैं उनसे कुछ कहने ही गया था, क्योंकि वह नियति थी। दंभ और अहंकारसे पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्तिके क्रीड़ा

१२—पृ० १०५, सं० १९९१ वि०

१३ वही, पृ० ८८

कंदुक है। अंध नियति कर्तृत्व मदसे मत्त मनुष्योंकी कर्मशक्तिको अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है, और ऐसी ही क्रांतिके समय विराट्का वर्गीकरण होता है। यह एक देशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्वकी मर्यादाका ध्यान नहीं रहता, 'सर्वभूत-हित'की कामनापर ही लक्ष्य रहता है।[१४]

प्रसादके नाटकोंमें जिन-जिन अवस्थाओं और प्रसंगोंमें पात्रोंने नियतिके प्रति विश्वासका अवलंबन किया है उनकी विवेचनासे ज्ञात होता है कि जीवन, समाज, राष्ट्र और विश्वमें भी छोटी-बड़ी जो घटनाएँ घटीं, घटती और घटेंगी उन सभीका नियंत्रण नियति करती है। इस प्रकार नियतिका प्रवाह त्रिकाल व्यापी रूपसे बह रहा है, उसमें कहीं और कभी विच्छिन्नता नहीं आती। विश्वमें भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् कार्योंकी नियताशक्ति नियति ही है।

प्रसादके नाटकोंमें पात्र जिन अवस्थाओं और प्रसंगोंमें नियतिकी ओर अपनी दृष्टि ले जाते हैं उनको देखनेमे यह भी विदित होता है कि वे (अवस्थाएँ और प्रसंग) प्रायः कष्टद, विषम और अनिश्चित हैं। वे सुखद, अनुकूल और भविष्यत्में निश्चित सुफलव ली नहीं हैं। विपन्नावस्थामें किसी अदृष्ट शक्तिकी ओर दृष्टिको ले जाना मानवका स्वभाव है। सुखमे कौन ऐसी शक्तिका स्मरण करता है। विषम परिस्थितियोंमें तो बड़े बड़े नास्तिकोंका भी मन डिगता हुआ देखा जाता है। ऐसी परिस्थितियोंमें नास्तिक लोग यदि किसी अदृष्ट शक्तिका स्मरण न भी करें तो घटना-विडंबना (चास) पर तो उनका विश्वास जम ही जाता है। यह घटना-विडंबना भी आस्तिकोंके लिए और कुछ नहीं, नियति ही है।

प्रसादने अपने नाटकोंमें पात्रों और घटनाओंको नियति और उसके परिणामकी ओर ले जानेके लिए अलौकिक तत्त्व (सुपरनेचुरलिज्म) और अंधविश्वास (सुपरस्टिशन)को सहायकके रूपमें ग्रहण किया है, जैसा कि प्राचीन भारतीय नाटककार और विदेशी नाटककार भी इन तत्त्वोंको इस कार्यके हेतु ग्रहण करते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अलौकिक तत्त्व और अंधविश्वास एक दूसरेसे प्रगाढ भावेन जड़ित हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि अलौकिक तत्त्वोंके अस्तित्वका परिणाम ही अंधविश्वास

---

१४ जनमेजयका नागयज्ञ, पृ० ७६, सं० १९८१ वि०

है, अलौकिक तत्व ही प्रायः निर्बल हृदय मानवको अंधविश्वास करनेके लिए बाध्य करते हैं। साहित्यके क्षेत्रमें अलौकिक तत्व और अंधविश्वास का प्रस्तुतीकरण अनेक साधनों द्वारा देखा जाता है। जैसे:—

(१) अतिमानव, प्राणियोंके क्रिया-कलाप तथा वाणी—विशेषतः भविष्यत् वाणी—द्वारा। और, अतिमानवके अतर्गत हम देवता, अप्सरा, भूत-प्रेत, वन-देवी-देवता, ऋषि-मुनि आदिको ग्रहण करते हैं।

(२) स्वप्न, इन्द्रजाल आदि भी साहित्य-क्षेत्रमें अलौकिक तव तथा अधविश्वासके निर्माणमें सहायक होते हैं।

(३) शकुन-अपशकुन बतलानेवाले जीव-जतु, मानवके कार्य कलाप, तथा प्रकृतिके अस्वाभाविक तत्व भी अलौकिक तत्व और अधविश्वासके माध्यम के रूपमें साहित्यके क्षेत्र में प्रयुक्त मिलते हैं।

इसी प्रकार देश-कालके भेदके अनुसार अन्य साधन भी अलौकिक तत्त्व और अधविश्वासके निर्माणम सहायक हो सकते हैं। प्रसाद अलौकिक तत्त्व और अधविश्वासके निर्माता इन्हीं साधनामेंसे किन्हींके सहारे अपने नाटकोंमें घटनाओं तथा पात्रोंको नियति तथा इसके परिणामकी ओर ले जाते दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने इस कार्यके हेतु 'करुणालय'[१५]में आकाशवाणी और 'चन्द्रगुप्त मौर्य'[१६]में दाड्यायन तथा 'जनमेजयका नागयज्ञ'[१७]में व्यासकी भविष्यत्-वाणीका सविधान किया है। इसी प्रकार 'कामना'[१८]में छाया तथा वन लक्ष्मीकी भविष्यत्वाणीका सविधान है। 'राज्यश्री'[१९] तथा 'स्कदगुप्त विक्रमादित्य'[२०] में तंत्राभिचारका उपयोग किया गया है। प्रकृतिके अस्वाभाविक स्वरूपका विधान 'ध्रुवस्वामिनी' तथा 'स्कदगुप्त विक्रमादित्य' में किया गया है। प्रथम[२१]में धूमकेतु-दर्शन तथा द्वितीय[२२]में उल्कापात और रात्रिकी अस्वाभाविक भयंकरता दिखलाई गई है।

---

१५ पृ० ६, स० १९८५ वि०

१६ पृ०, ५२, ५६ द्वितीय सस्करण

१७ पृ० ८१, ८५, १०५-६, सं० १९९१ वि०

१८ पृ० १५, १९–२०, स० १९९२ वि०

१९ पृ० २०, सं० १९८८ वि०

२० पृ० २५–२६, ५९–६०, ९१, ९५–९६ सं० १९९० वि०

२१ पृ० ५४–५६, ६०, सं० १९९० वि०

२२ पृ० २९–३०, स० १९९० वि०

ऊपर हमने देखा है कि अलौकिक तत्त्व तथा अंधविश्वासपर आस्थाका कारण मनकी दुर्बलता होती है, और इनसे भीत और आतंकित होकर व्यक्ति अदृष्टके हाथका कठपुतला बन बैठता है। ऐसे प्रसंगोंमें खलवृत्ति पात्र अदृष्टका कठपुतला अपनी अनावश्यक और समाज अहितकारिणी महत्त्वाकांक्षा (अभिशान) के कारण बनता है। जैसे, 'ध्रुवस्वामिनी' में शकराज! शेक्सपीयरके समस्त दुःखान्त नाटकों में नायक ईर्षा महत्त्वकांक्षाका शिकार बनता है और उसका पतन होता है। प्रसादके अलौकिक तत्त्वके स्वरूपको देखनेसे ज्ञात होता है कि वह निघृंण नहीं है, जैसा कि शेक्सपीयरके दुःखान्त नाटकोंमे होता है। हम देखते हैं कि शेक्सपीयरने अति तामसी अलौकिक तत्त्वोंका ही प्रायः व्यवहार किया है। प्रसाद ने तंत्राभिचारका जो व्यवहार किया है वह विवश होकर ही, उन्हें तत्कालीन बौद्धोंके हीनयान संप्रदायमें तंत्राभिचारके प्रचारका स्वरूप दिखाकर एक सांस्कृतिक तथ्यको अपने तत्-तत् नाटकोंमे अभिव्यक्त करना था, इसीलिये ऐसा करना पड़ा।

आरम्भमें ही हमने निवेदन किया है कि भारतीय साहित्यका मूल आधार किसी न किसी रूपमें नियतिवाद ही है। हमने यथाप्रसंग यह भी देखा है कि नियति विभिन्न शब्दों द्वारा अभिहित की गई है। यथाः दैव, अदृष्ट आदि। भारतीय दर्शनमें नियतिवाद कर्मवाद अथवा जन्मान्तरवाद अन्योन्याश्रित हैं। नियतिवादको मान लेनेपर कर्मवाद अथवा जन्मान्तरवादको मानकर चलना ही पड़ता है।

संसारमें मानव जब कर्म—क्षेत्रमें उतरता है तब जिन कार्योंको वह सफलतापूर्वक संपन्न करना चाहता है उनकी सफलतापूर्वक संपन्नताके लिए अनेक सांसारिक वस्तु-व्यापारोंका उक्त संपन्नताकी सिद्धिके लिए उस (मनुष्य) के पक्षमें अथवा अनुकूल होना जरूरी होता है। अनेक स्थितियोंमें उन अनुकूल सांसारिक वस्तुव्यापारोंका मनुष्यको उचित ज्ञान नहीं रहता; कुछ ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिनमें उन (अनुकूल सांसारिक वस्तुव्यापारों) का उसे उचित अथवा यथार्थ ज्ञान होना संभव भी नहीं होता। परन्तु मनुष्य उन अनुकूल सांसारिक वस्तु-व्यापारोंके माध्यमसे, जिनके प्रति वह अबोध होता है, अपने कार्यमें सफलता प्राप्त करता है। सांसारिक अज्ञात वस्तु-व्यापारोंका उसके कार्यकी सफलताके लिए आनुकूल्य ही 'दैव' है। इस मीमांसाका निष्कर्ष यह कि कार्यकी सफलताके लिए मनुष्यको ऐसे सांसारिक वस्तु-व्यापारोंके आनुकूल्यकी अपेक्षा होती है, जो उसे अज्ञात होते हैं, जो

उनके अधिकारसे परे हैं, जिनपर उसका कोई वश नहीं। ऐसी हालतमें किसी कार्यकी सिद्धिके लिये केवल अपने ही कर्मपर अभिमान मनुष्यकी मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[२३] इसी तत्त्वको एक दूसरे ढगसे प्रसाद 'जन-मेजयका नागयज्ञ' में व्यासके मुखसे कहलाते हैं, "दंभ और अहकारसे पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्तिका क्रीड़ा कदुक हैं। अंध नियति कर्तृत्व मदसे मत्त मनुष्योंकी कर्मशक्तिको अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है।"[२४]

इसीलिये कहा गया है:—

दैव प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति।[२५]

भारतीय दर्शनकी कर्मवाद शाखामें कर्मके तीन भेद माने गये हैं:— सचित प्रारब्ध और क्रियमाण। सचितका ही दूसरा नाम 'अदृष्ट' है; मीमासकोंने इसीको 'अपूर्व' कहा है। 'सचित'को 'अदृष्ट' इसलिए कहा गया कि जिस समय (सचित) कर्म किया जाता है उसी समयतक वह दृश्य रहता है। परतु यह कर्मकाल व्यतीत हो जानेपर भी वह सचित कर्म शेष न होकर अपने किसी न किसी स्वरूपमें बच रहता है, क्योंकि समस्त सचित कर्मोंको एक साथ ही भोगना सम्भव नहीं। कारण कि वे भले बुरे दोनों फल देनेवाले हो सकते हैं—और भला बुरा परिणाम एक साथ ही भोगना असम्भव है। इसलिए वह (सचित कर्म) सूक्ष्म अथवा 'अदृश्य' परिणामके रूपमें बचा रहता है। इसे यों भी कहा जा सकता कि अबतक अथवा इस क्षणतक जो-जो कर्म किए जा चुके हैं उन सबके परिणामोंके सग्रहको 'सचित' अथवा 'अदृष्ट' कहते हैं। इतना और भी समझ रखना चाहिए कि जिन कर्मोंके परिणामका भोग नहीं हो पाता उनके भोगके लिए जन्मान्तर होता है। इस प्रकार सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मके माध्यमसे अनादिकालसे जन्म जन्मान्तरसे—कर्म प्रवाह चल रहा है। इस अनादि कर्म प्रवाहको 'प्रकृति' भी कहते हैं। प्रसादने 'अदृष्ट'के अर्थमें 'प्रकृति' का प्रयोग भी किया है, इसे हम पहले ही देख चुके हैं।

---

२३ देखिए—बालगगाधर तिलक कृत गीता रहस्य, पृ० ३२६ सन् १६४८ ई०

२४ पृ० ७३, स० १६६१ वि०

२५ महाभारत, आदि पर्व १।२४६। सुखमय भट्टाचार्य कृत महाभारतेर समाजसे उद्धृत, पृ० ४८९ बँगला-सवत् १३५३।

उसके अधिकारसे परे हैं, जिनपर उसका कोई वश नहीं। ऐसी हालतमें किसी कार्यकी सिद्धिके लिये केवल अपने ही कर्मपर अभिमान मनुष्यकी मूर्खताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[२३] इसी तत्त्वको एक दूसरे ढगसे प्रसाद 'जनमेजयका नागयज्ञ' में व्यासके मुखसे कहलाते हैं, "दभ और अहकारसे पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्तिका क्रीड़ा कदुक हैं। अध नियति कर्तृत्व मदसे मत्त मनुष्योंकी कर्मशक्तिको अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है।"[२४]

इसीलिये कहा गया है:—

दैव प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति।[२५]

भारतीय दर्शनकी कर्मवाद शाखामें कर्मके तीन भेद माने गये हैं:— सचित प्रारब्ध और क्रियमाण। सचितका ही दूसरा नाम 'अदृष्ट' है; मीमासकोंने इसीको 'अपूर्व' कहा है। 'सचित'को 'अदृष्ट' इसलिए कहा गया कि जिस समय (सचित) कर्म किया जाता है उसी समयतक वह दृश्य रहता है। परतु यह कर्मकाल व्यतीत हो जानेपर भी वह सचित कर्म शेष न होकर अपने किसी न किसी स्वरूपमें बच रहता है, क्योंकि समस्त सचित कर्मोंको एक साथ ही भोगना सम्भव नहीं। कारण कि वे भले बुरे दोनों फल देनेवाले हो सकते हैं—और भला बुरा परिणाम एक साथ ही भोगना असम्भव है। इसलिए वह (सचित कर्म) सूक्ष्म अथवा 'अदृश्य' परिणामके रूपमें बचा रहता है। इसे यों भी कहा जा सकता कि अबतक अथवा इस क्षणतक जो जो कर्म किए जा चुके हैं उन सबके परिणामोंके सग्रहको 'सचित' अथवा 'अदृष्ट' कहते हैं। इतना और भी समझ रखना चाहिए कि जिन कर्मोंके परिणामका भोग नहीं हो पाता उनके भोगके लिए जन्मान्तर होता है। इस प्रकार सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मके माध्यमसे अनादिकालसे जन्म जन्मान्तरसे—कर्म प्रवाह चल रहा है। इस अनादि कर्म प्रवाहको 'प्रकृति' भी कहते हैं। प्रसादने 'अदृष्ट'के अर्थमें 'प्रकृति' का प्रयोग भी किया है, इसे हम पहले ही देख चुके हैं।

---

२३ देखिए—बालगगाधर तिलक कृत गीता रहस्य, पृ० ३२६ सन् १९४८ ई०

२४ पृ० ७९, स० १९९१ वि०

२५ महाभारत, आदि पर्व १।२४६। सुखमय भट्टाचार्य कृत महाभारतेर समाजसे उद्धृत, पृ० ४८९ बँगला-सवत् १३५३।

अधिक अंशोंमें निर्धारित होता है। इस सम्बन्धमें पहले भी हमने विवेचना देखी है।

भारतीय दर्शनमें जहाँ दैव, अदृष्ट नियति आदि जैसे तत्वोंको सतर्क प्रमाणित कर उसे प्राधान्य दिया गया है वहीं पौरुषकी ओर भी उस (भारतीय दर्शन)का चक्षु निमीलन नहीं है। अर्थात् मनुष्यको एकदम नियतिके हाथमें ही नहीं छोड़ दिया गया है। वह अपनी समर्थ इच्छाके अनुसार पौरुष कर भी सचित कर्म अथवा अदृष्ट निर्माण कर सकता है। दैवपर विश्वास रहते हुए भी वह पौरुष करनेमें स्वच्छन्द है। दैव और पौरुषको अन्योन्याश्रित मानते हुए कहा गया है कि विवेकी सत्कर्मकी उपासना करते हैं और जो केवल दैवपर आस्था रखते हैं वे कापुरुष हैं:—

दैव पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसश्रयात्।
उदाराणा तु सत्कर्म दैव क्लीवा उपासते॥[२८]

प्रसादने भी नियतिके साथ पौरुषका सयोग सर्वत्र रखा है। उनके नाटकोंके पात्र नियति-विश्वासी होते हुए भी पौरुषको तिलाजलि नहीं देते। यथाः—

'वसिष्ठ—फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?

शुनः शेफ—जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म में।'[२९]

चन्द्रगुप्तके सम्बन्धमें खड्गधारिणी कहती है:

"रही अभ्युदयकी बात, सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्यपर ही विश्वास है।[३०]

चन्द्रगुप्त—अदृष्ट। खेल न करना। चंद्रगुप्त मरणसे भी भयानकको आलिंगन करनेके लिये प्रस्तुत है। विजय—मेरे चिर सहचर।[३१]

जीवक—नहीं महाराज। अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियतिकी डोरी पकड़कर मैं निर्मम कर्म कूपमे कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कायर क्यों बनूँ—

२८—वही, शान्तिपर्व, १३६।८२।

२९—करुणालय, पृ० १७, स० १९८५ वि०

३०—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६ स० १९९० वि०

३१—चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० १९०, द्वितीय सस्करण

अधिक अंशोंमें निर्धारित होता है। इस सम्बन्धमें पहले भी हमने विवेचना देखी है।

भारतीय दर्शनमें जहाँ दैव, अदृष्ट नियति आदि जैसे तत्वोंको सतर्क प्रमाणित कर उसे प्राधान्य दिया गया है वहीं पौरुषकी ओर भी उस (भारतीय दर्शन)का चक्षु निमीलन नहीं है। अर्थात् मनुष्यको एकदम नियतिके हाथमें ही नहीं छोड़ दिया गया है। वह अपनी समर्थ इच्छाके अनुसार पौरुष कर भी सचित कर्म अथवा अदृष्ट निर्माण कर सकता है। दैवपर विश्वास रहते हुए भी वह पौरुष करनेमें स्वच्छन्द है। दैव और पौरुषको अन्योन्याश्रित मानते हुए कहा गया है कि विवेकी सत्कर्मकी उपासना करते हैं और जो केवल दैवपर आस्था रखते हैं वे कापुरुष हैं.—

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसश्रयात्।
उदाराणा तु सत्कर्म दैव क्लीवा उपासते॥[२८]

प्रसादने भी नियतिके साथ पौरुषका सयोग सर्वत्र रखा है। उनके नाटकोंके पात्र नियति-विश्वासी होते हुए भी पौरुषको तिलाञ्जलि नहीं देते। यथाः—

'वसिष्ठ—फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?
शुनः शेफ—जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म में।"[२९]

चन्द्रगुप्तके सम्बन्धमें खड्गधारिणी कहती है:

"रही अभ्युदयकी बात, सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्यपर ही विश्वास है।[३०]

चन्द्रगुप्त—अदृष्ट। खेल न करना। चंद्रगुप्त मरणसे भी भयानकको आलिंगन करनेके लिये प्रस्तुत है। विजय—मेरे चिर सहचर।[३१]

जीवक—नहीं महाराज। अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियतिकी डोरी पकड़कर मैं निर्मम कर्म कूपमें कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कायर क्यों बनूँ—

२८—वही, शान्तिपर्व, १३९।८२।
२९—करुणालय, पृ० १७, स० १९८५ वि०
३०—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६ स० १९९० वि०
३१—चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० १९०, द्वितीय सस्करण

अधिक अंशोंमें निर्धारित होता है। इस सम्बन्धमें पहले भी हमने विवेचना देखी है।

भारतीय दर्शनमें जहाँ दैव, अदृष्ट नियति आदि जैसे तत्वोंको सतर्क प्रमाणित कर उसे प्राधान्य दिया गया है वहीं पौरुषकी ओर भी उस (भारतीय दर्शन)का चक्षु निमीलन नहीं है। अर्थात् मनुष्यको एकदम नियतिके हाथमें ही नहीं छोड़ दिया गया है। वह अपनी समर्थ इच्छाके अनुसार पौरुष कर भी सचित कर्म अथवा अदृष्ट निर्माण कर सकता है। दैवपर विश्वास रहते हुए भी वह पौरुष करनेमें स्वच्छन्द है। दैव और पौरुषको अन्योन्याश्रित मानते हुए कहा गया है कि विवेकी सत्कर्मकी उपासना करते हैं और जो केवल दैवपर आस्था रखते हैं वे कापुरुष हैं.—

दैव पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसश्रयात्।
उदाराणा तु सत्कर्म दैव क्लीवा उपासते ॥[२८]

प्रसादने भी नियतिके साथ पौरुषका संयोग सर्वत्र रखा है। उनके नाटकोंके पात्र नियति-विश्वासी होते हुए भी पौरुषको तिलाजलि नहीं देते। यथाः—

'वसिष्ठ—फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?
शुनः शेफ—जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म में।''[२९]

चन्द्रगुप्तके सम्बन्धमें खड्गधारिणी कहती है:

"रही अभ्युदयकी बात, सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्यपर ही विश्वास है।[३०]

चन्द्रगुप्त—अदृष्ट। खेल न करना। चंद्रगुप्त मरणसे भी भयानकको आलिंगन करनेके लिये प्रस्तुत है। विजय—मेरे चिर सहचर।[३१]

जीवक—नहीं महाराज। अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियतिकी डोरी पकड़कर मैं निर्मम कर्म कूपमें कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कायर क्यों बनूँ—

२८—वही, शान्तिपर्व, १३६।८२।

२९— करुणालय, पृ० १७, स० १९८५ वि०

३०—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६ स० १९९० वि०

३१—चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० १९०, द्वितीय सस्करण

अधिक अंशोंमें निर्धारित होता है। इस सम्बन्धमें पहले भी हमने विवेचना देखी है।

भारतीय दर्शनमें जहाँ दैव, अदृष्ट नियति आदि जैसे तत्वोंको सतर्क प्रमाणित कर उसे प्राधान्य दिया गया है वहीं पौरुषकी ओर भी उस (भारतीय दर्शन)का चक्षु निमीलन नहीं है। अर्थात् मनुष्यको एकदम नियतिके हाथमें ही नहीं छोड़ दिया गया है। वह अपनी समर्थ इच्छाके अनुसार पौरुष कर भी सञ्चित कर्म अथवा अदृष्ट निर्माण कर सकता है। दैवपर विश्वास रहते हुए भी वह पौरुष करनेमें स्वच्छन्द है। दैव और पौरुषको अन्योन्याश्रित मानते हुए कहा गया है कि विवेकी सत्कर्मकी उपासना करते हैं और जो केवल दैवपर आस्था रखते हैं वे कापुरुष हैं:—

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात्।
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीबा उपासते ॥[२८]

प्रसादने भी नियतिके साथ पौरुषका संयोग सर्वत्र रखा है। उनके नाटकोंके पात्र नियति-विश्वासी होते हुए भी पौरुषको तिलाञ्जलि नहीं देते। यथा:—

'वसिष्ठ—फिर क्या तुमको यह सब स्वीकार है?
शुनः शेफ—जो कुछ होगा भाग्य और निज कर्म में।'[२९]

चन्द्रगुप्तके सम्बन्धमें खड्गधारिणी कहती है:

"रही अभ्युदयकी बात, सो तो उनको अपने बाहुबल और भाग्यपर ही विश्वास है।[३०]

चन्द्रगुप्त—अदृष्ट। खेल न करना। चंद्रगुप्त मरणसे भी भयानकको आलिंगन करनेके लिये प्रस्तुत है। विजय—मेरे चिर सहचर।[३१]

जीवक—नहीं महाराज। अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियतिकी डोरी पकड़कर मैं निर्मम कर्म कूपमें कूद सकता हूँ। क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कायर क्यों बनूँ—

२८—वही, शान्तिपर्व, १३६।८२।
२९—करुणालय, पृ० १७, सं० १९८५ वि०
३०—ध्रुवस्वामिनी, पृ० ६ सं० १९९० वि०
३१—चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० १९०, द्वितीय संस्करण

कर्मसे क्यों विरक्त रहूँ—मैं इस उच्छृंखल नवीन राजशक्तिका विरोधी होकर आपकी सेवा करने आया हूँ।[32]

हमने प्रसादके नाटकोंमें प्रयुक्त नियतिवादके दार्शनिक आधारकी चर्चा की है और देखा है कि यह नियतिवाद भारतीय दर्शनानुमोदित है। इसके दार्शनिक आधार और प्रसादके नाटकोंमें इसके व्यवहारकी विवेचनासे स्पष्ट है कि प्रसादने केवल नियतिवादका ही पक्ष संमुख रखकर आलस्य और अकर्मण्यताका संदेश नहीं दिया है। नियतिवादके साथ पौरुषका पक्ष साथ लगाकर उन्होंने कर्मठताकी ओर हमारी वृत्ति मोड़ी है। नियतिवादका सबसे अधिक प्राधान्य 'जनमेजयका नागयज्ञ' में है। उसमें सभी पात्र नियतिपर आस्था रखे दिखाई पड़ते हैं। जरत्कारु तथा व्यास बार-बार इसकी चर्चा करते हैं। मगर साथ ही वे पौरुष करने को भी सर्वत्र कहते हुए देखे जाते हैं। अतः प्रसादपर कोई आलस्य-प्रचार करनेका इल्जाम लगाकर उन्हें इस क्षेत्रमें मुजरिमके रूपमें न अपने सामने और न अन्य किसीके सामने ही खड़ा कर सकता है।

*

'प्रसाद'की कहानियाँ

●

—जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—

(१)

हिंदीमें ऐतिहासिक अनुक्रम अथवा विकास-वृद्धिके विचारसे भले ही कहानी रचनाका आरम्भ इशाल्ला खाकी 'रानी केतकीकी कहानी'से अथवा राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्दके 'राजा भोजका सपना' से स्वीकार कर लिया जाय पर विषय-निर्वाह और रचना-क्रियाके आधारका तात्त्विक विश्लेषण करनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि कहानीका जो वर्तमान स्वरूप आज विकसित मिलता है उससे उक्त कृतियोंका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। उनमें विषय-सग्रह और निर्वाहकी जो प्रवृत्ति अपनाई गई है उससे आजकी कहानियोंका विकास सिद्ध करना बौद्धिक व्यायाम ही मालूम पड़ता है। हिन्दी साहित्यके इतिहास में प० रामचन्द्र शुक्लने कुछ कहानियोंका—आरम्भकी मौलिक कृतियोंके रूपमें उल्लेख किया है। उनको भी केवल ऐतिहासिक महत्व प्राप्त हो सकता है। उनमेंसे किसी लेखकका स्वरूप आगे चलकर अपना कोई मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर सका और न उनका कोई प्रभाव-विस्तार ही कहीं दिखाई पड़ता। अतएव विषयका आरम्भ वहाँसे भी नहीं स्वीकार किया जा सकता।

वस्तुतः काशीकी 'इन्दु' पत्रिकासे ही कहानीकी कथाका आरम्भ होता है, क्योंकि उसके उपरात तो फिर कहानी हिन्दी-क्षेत्रमें अपना घर कर लेती है और उसकी अटूट शृखला आगे बढ चलती है। किसी विषयके आरभिक युगमें इस शृखलाक्रमको ही विशेष महत्त्व देना चाहिए, क्योंकि बिना आतरिक पोषक तत्त्वोंके किसी चीजको स्थायित्व नहीं प्राप्त होता और यदि ऐसे तत्त्वोंका योग निरन्तर बना रहा तो उस चीजका उत्तरोत्तर विकास होता जायगा, उसकी सजीवता लोगोंका ध्यान आकर्षित किये रहेगी। इस विचार से हिन्दीमें कहानी सर्जनाका उदय 'इन्दु' मासिक पत्रिकासे मानना समीचीन ज्ञात होता है। बीसवीं शताब्दिके द्वितीय दशकके आरम्भसे ही जिन साहित्यकारोंकी कहानियाँ सामने आई उनमे स्वर्गीय जयशकर 'प्रसाद' सर्वश्रेष्ठ थे। उनके लिखनेका क्रम कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। निरतर लिखते रहनेसे शीघ्र

ही उनमें परिष्कारका स्वरूप दिखाई पड़ने लगा। प्रसाद कविता नाटक इत्यादि भी क्रमसे लिखते रहते थे; इसलिए आरंभिक कालमें संख्याके विचार से अधिक कहानियाँ नहीं लिख सके, पर जो कुछ भी इस माध्यमसे उन्होंने उपस्थित किया उसमें भव्य भविष्यका आभास स्पष्ट मिल जाता था।

'प्रसाद' की कहानी-रचनाका प्रथम अध्याय 'छाया' संग्रह है। इसमें आरम्भकी लिखी ग्यारह कहानियाँ संग्रहीत हैं; जिसका रचना-काल ई० सन् १९१० से १९१४ तक है। उनमें भी दो वर्षोंतक, ई० सन् १९१२ से १४। अन्य कार्योंमें व्यस्त रहनेके कारण कहानी-रचना नहीं हो सकी थी। 'गुलाम' और 'चित्तौर-उद्धार' शीर्षक कहानियाँ सन् १९१४ में लिखी गई थीं। इन दोनोंके अतिरिक्त इस संग्रह की अन्य कहानियाँ सितंबर १९१० से जुलाई १९१२ तक प्रकाशित हो चुकी थीं। ये सभी रचनाएँ क्रमसे 'इन्दु' मासिक पत्रिका में छपी थीं।

'छाया' शीर्षक कहानी-संग्रह पहली बार सन् १९१२ में प्रकाशित हुआ। उसमें केवल पाँच आरंभिक रचनाएँ छपीं—ग्राम, चन्दा, मदनमृणालिनी, रसिया बालम और तानसेन। आगे चलकर जिस समय सन् १९१८ में इसी संग्रहका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ तो उसमें छः कहानियाँ और बढ़ा दी गई—जहाँनारा, शरणागत, अशोक, सिकन्दरकी शपथ, गुलाम और चित्तौर-उद्धार। ये सभी रचनाएँ जहाँ एक ओर कृतिकारके काल विशेषकी योग्यता और आकांक्षाको प्रकट करती हैं वहीं उसकी मौलिक कृतियों और व्यक्तिगत अभिरुचिका भी संकेत देती हैं।

'छाया' प्रयास-कालकी देन है, अतः न तो उसके वस्तु-विन्यासकी ही मार्मिक मीमांसा होनी चाहिए और न चरित्र-विषयक सूक्ष्म उतार-चढ़ाव की ही परीक्षा करनी चाहिए। उस समयके उभड़ते हुए कलाकारकी सामूहिक चेतनाका ही सामान्य परिचय यथेष्ट होगा। इस दृष्टिसे इन रचनाओंमें दो बातें बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। काव्यतत्वकी ओर आकर्षण और विषयानुरूप पूर्वपीठिकाकी शृंगार-सज्जा। इन्हीं दोनों कृतियोंकी ओर निरन्तर 'प्रसाद' जी बढ़ते गए और अपने प्रौढ़कालमें पहुँचकर भी इन दो विशेषताओंको अपनाए रहे। यदि कलाकुशलताके विकासक्रमकी पूरी विवेचना की जाय तो उनकी प्रौढ़कालीन सर्वोच्चम रचनाओंकी प्रमुखतम विशिष्टताओंके मूल रूपोंकी झलक आरंभिक कहानियोंमें भी मिलेगी। यही 'छाया' में सबसे बड़े महत्वकी बात है और इसी आधारपर उसकी छानबीन होनी चाहिए।

विषय-निर्वाचनके विचारसे भी मानना पडेगा कि इन कहानियोंका अपना विशेष स्थान है। प्रथम संस्करणमें सभी रचनाएँ सामान्य जीवनसे सबद्ध दिखाई पड़ती हैं। 'चदा' 'ग्राम' 'रसिया बालम' आदि सभीमें जीवनकी समतल भूमिपर बहनेवाले भाव स्रोतोंके दर्शन होते हैं। ये सभी स्रोत अपनी सुन्दरताओंसे आवृत्त अपने पूरेपनका परिचय देते हैं। भाव-चित्रणकी ओर लेखकका यही अनुराग उत्तरोत्तर बढता गया और कालान्तरमें इसी भावप्रेमने 'प्रसाद' को भावात्मक कहानियोंका सर्वोत्तम निर्माता बना दिया। अतः प्रौढ 'प्रसाद' में प्राप्त होनेवाले भाव-विधानको यदि पूर्वापर अच्छी तरह समझना हो तो आवश्यक होगा इस 'छाया' का अध्ययन। साथ ही ऐतिहासिक इतिवृत्तोंके आधारपर जो श्रेष्ठ कृतियाँ आगे प्रसाद जीने उपस्थित कीं उनका भी श्रीगणेश इसी कालमें हो चुका था। इतिहासके अतरालमें प्रवेशकर विषय चयनकी जो दिव्य शक्ति 'प्रसाद' में सजीव थी उसका आरम्भ भी 'छाया' के द्वितीय सस्करणसे मानना चाहिए। 'जहाँनारा' 'अशोक' शिकन्दरकी शपथ' इत्यादिमें उसके बीज स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

इस सग्रहमें लेखकने जो एक छोटा सा 'निवेदन'[1] लिखा है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वकी उसमें तीन बातें हैं। प्रथम तो सग्रहके शीर्षकका अर्थ स्पष्ट किया गया है और उसके औचित्यकी ओर सकेत किया गया है।

---

१ निवेदन

पाठकवृन्द इस पुस्तकका नाम 'छाया' देखकर अवश्य चकित होगे। किन्तु मेरा अनुमान है कि छोटी छोटी आख्यायिकाओंमें किसी घटनाका पूर्ण चित्र नहीं खींचा जा सकता, इसकारण इन आख्यायिकाओंको उन घटनाओंकी छाया कहना ही ठीक है।

साहित्यमें ऐसी छोटी २ आख्यायिकाए केवल विनोदके लिये ही नहीं, उनसे हृदयपटपर एक ऐसी छाया पड़ती है जो गम्भीर अथच प्रभावशालिनी होती है। मानव हृदयको उनकी अपूर्णता, कल्पनाके विस्तृत काननमें छोड़कर उसे घूमनेका अवकाश देती है, जिसमें पाठकोंको अद्भुत आनन्द मिलता है।

काशी। विनीत

१९६९ जयशकर 'प्रसाद'

दूसरी बात कहानीके परिमित विस्तारका उल्लेख करती है और उसकी इस परिमितिमें भी प्रभावका होना आवश्यक बताती है। तीसरी बात लेखकके रचना-कर्मकी एक प्रमुख विशिष्टताकी ओर ध्यान आकर्षित करती है। आगे चलकर 'प्रसाद' में 'अंत' को जो अनुमानाश्रित रूप देनेकी कुशल सुन्दरता दिखाई पड़ती है उसका रहस्य लेखकने इस 'निवेदन' के अंतिम वाक्यमें स्पष्ट किया है। इस प्रकार इन तीनों बातोंका सीधा संबंध 'प्रसाद' की भावी कहानी रचनासे है अतएव उन्हें अतीव महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए।

'छाया'के उपरान्त 'प्रतिध्वनि'का संकलन प्रसादका द्वितीय प्रयोग था। प्रायः साहित्य-सर्जनाके अन्य क्षेत्रोंमें भी 'प्रसाद'ने पहले भिन्न भिन्न प्रयोग किए थे—इस अभिप्रायसे देखें कि रचना-विधानका कौन-सा रूप उनकी काव्य-आकांक्षाको पूर्णतया अभीष्ट हो सकता है। नाटक, काव्य, उपन्यास इत्यादि सभीमें उन्होंने आरम्भमें विविध गठनवाली रचनाएँ तैयार कीं केवल इस विचारसे कि प्रायोगिक सिद्धि कहाँ-कैसी प्राप्त होती है यह समझ लें तो फिर भविष्यका एक निश्चित ढंग स्थिर करें। इसी दृष्टिसे कहानीके आरम्भमें भी दो भिन्न प्रकारके स्वतन्त्र प्रयोग किए जो 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में मिलते हैं। 'छाया' की प्रायः सभी कहानिया इतिवृत्त प्रधान है। इसमें उन्होंने सुकुमार भाव विवृतिके लिए कथात्मक प्रसारका योग लिया है। आगे चलकर 'प्रतिध्वनि' में एक नए रचना-विधानकी परीक्षा की गई है। उसमें इतिवृत्ति न्यून अथवा कहीं-कहीं नहींके बराबर ग्रहण किया है। कथांश केवल उतना ही स्वीकार किया गया है जितना भाव-स्थापनके लिए आसनका काम दे सके। इस संग्रहकी प्रायः सभी कहानिया भावमूलक हैं। उनमें कथानककी ओर ध्यान नहीं जाता, उसके काव्य पक्ष अथवा सांकेतिकतामें ही विशेष चमत्कार दिखाई पड़ता है।

'प्रतिध्वनि'की कहानियोंमें किसी एक भाव अथवा संकेतकी ऐकान्तिकता को ही प्रतिपाद्य और लक्ष्य बना लेनेसे एक सर्वथा नूतन रचना-परिपाटी सामने आई। इस प्रकार का प्रयोग उस समयके अन्य किसी लेखकने नहीं किया था। प्रसादकी भविष्यदर्शी प्रतिभाने उसके मौलिक सौन्दर्यको ठीकसे संगठित कर लिया और इन पन्द्रह रचनाओंमें उसकी प्रयोगविधिको स्थिरता प्रदानकी। वस्तुतः भावात्मक कहानियोंका श्री गणेश यहींसे हुआ और उत्तरोत्तर इस रूपका क्रमशः परिष्कार होता गया—प्रसादमें भी और इस

वर्गके अन्य अनेक कृतिकारोंमें भी। इस सग्रहकी रचनाओंमे भावात्मक कहानीके सभी अवयव सगठित मिलते हैं। आगे चलकर 'छाया'का ही विकसित एव प्रौढ परिष्कृत रूप 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में स्फुट हुआ है और 'प्रतिध्वनि'का 'आकाशदीप' में। यों तो इतिवृत्तात्मक कहानियाँ भी प्रसादकी वेजोड़ हैं पर भावात्मक सर्वथा अजेय हैं। उनमें कवि प्रसादकी कल्लोलिनी कल्पना और प्रतीक अलकरणको खुल खेलनेका जो अवसर मिला वह भारतीय काव्य सृष्टिकी अपनी शैली है।

'प्रतिध्वनि की पहली कहानी 'प्रसाद' है। इसमें कथा भाग नहींके बराबर है। एक मन.स्थिति और उसके परिमाणका भव्य चित्रण मात्र है। 'सरला' मनमें सोच रही थी, मैं दो-चार फूलपत्ते ही लेकर आई। परन्तु चढानेका, अर्पण करनेका हृदयमें गौरव था। दान की सो भी किसे! भगवान को! मनमे उत्साह था। परन्तु हाय! 'प्रसाद' की आशाने-शुभ कामनाके बदलेकी लिप्साने मुझे छोटा बनाकर अभीतक रोक रखा। सब दर्शक चले गए, मै खड़ी हूँ, किस लिए। अपने उन्हीं अर्पण किए हुए दो-चार फूल लौटा लेनेके लिए, तो चलूँ। जानमें या अनजानमें पुजारीने भगवानकी एकावली सरलाके नत गलेमें डाल दी! प्रतिमा प्रसन्न होकर हँस पड़ी।" मूलत. कहानीमें प्रतिपाद्य भी यही है और कथाभाग भी इतना ही है। इतनेके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब विषयस्थापनकी शृगारसज्जा मात्र है। इस कहानी द्वारा कलाकारने केवल इतना ही कहा है कि नियति मानव हृदयकी भावनामें परिणत होकर प्रेरित करती है कुछ समपित करनेके लिए और कुछ पानेके लिए। इस लेनदेनमें ही मानव मनकी मिठास पूर्णता ग्रहण करती है।

इसी तरह आगेकी अन्य सभी कहानियोंमें एक न एक भाव चित्र अकित मिलते हैं। 'गूदड़ साई' मे अपनी गूदड़ीका मर्म साई इस प्रकार समझाता है-'इस चीथडेको लेकर भागते हैं भगवान और मै उनसे लड़कर छीन लेता हूँ, रखता हूँ फिर उन्हींसे छिनवानेके लिए, उनके मनोविनोदके लिए। सोनेका खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ा पर भगवान ही दया करते है। मायामोहसे परे रहनेवाले साईके हृदयमें कैसी माधुर्यकी ऐकान्तिकता निवास करती है —इसीका चित्र कहानीमें है। बालकके रूपमें भगवानकी छवि ही तो खेलती रहती है और साईके हृदयमे उसीका प्रसार है। 'गूदड़ीमें लाल'

शीर्षक कहानीमे है 'एक बुढियाका जीर्ण कंकाल, जिसमें अभिमानके लयमें करुणाकी रागिनी बजा करती है। स्वाभिमान ही चरित्रमे लालके समान मूल्यवान वस्तु है। जिसके पास यह रत्न है वही वस्तुतः अमीर है। बुढियाकी गरीबीमे यही स्वाभिमान गुदड़ीका लाल बन गया।

'अघोरीका मोह' शीर्षक इतिवृत्तात्मक कहानीमें नियतिके चक्रमें पड़े दो बाल सखाओंकी भूली स्मृतिको जगानेका उपक्रम मिलता है। बाल्यावस्थाके सुखद दिनोंमें किसी समय ऐश्वर्य पुत्र ललितने अपने दरिद्र मित्र किशोरकी सूखी रोटी खानेका आग्रह किया और इसे किशोरने भी स्वीकार किया था। पचीस वर्षोंके उपरान्त दैवयोगसे एक दिन यह पुरानी स्वीकृति कार्य रूपमे परिणत भी हुई पर बाते विस्मृतिके गर्तमें हुई। कहानीमे कोई विशेष चमत्कार न रहने पर भी भावुकताकी रंगीनी अवश्य है। 'पापकी पराजय' में सामान्य इतिवृत्तका योग लेकर भावभूमियोंके पट-परिवर्तनका दृश्य उपस्थित किया गया। परिस्थितिवश राजकुमार घनश्यामके सामने समस्या आती है—"क्या सौन्दर्य उपभोगके लिए नहीं, केवल उपासनाके लिए है?" इसी समस्याका समुचित उत्तर इस कहानीमे मिलता है। किस प्रकार परिस्थिति भेदसे काम-भाव बदल गया और उसीके भीतरसे रागरंजित कर्तव्यकी प्रेरणा जगी—इसीका चित्र कहानीमें दिया गया है। बात सीधी होनेपर भी काव्यतत्त्वसे संवलित होनेके कारण सरस बन गई है। 'सहयोग' में कुछ नहीं है। पतिपत्नीके पारस्परिक सबधके एक साधारण विषयको लेकर दिखाया गया है कि पहले मोहनने किस प्रकार मनोरमाको अपनी गतिविधिसे ढालकर चिरसंगिनी न बनाकर केवल दासी बनाता है पर आगे चलकर अपनी ही बनावटसे खिन्न होता है और परिवर्तनकी आकाक्षा प्रकट करता है।

'पत्थरकी पुकार' में आदर्श एवं यथार्थका द्वन्द्व दिखाया गया है। आदर्श कल्पना-प्रसूत होता है, उसे अतीत और करुण प्रिय है, पर वह यथार्थ ज्ञानसे दूर रहकर केवल उसकी भावना भर कर सकता है। यदि उसकी प्रियता निश्चेष्ट और क्रियाविहीन है तब उसमें सौन्दर्य कहा। इसका यथार्थवादी उत्तर कहानीके अंतमें बूढे संगतराशने दिया है—'आप लोग अमीर आदमी हैं। अपने श्रवणेन्द्रियोंसे पत्थरका रोना, लहरोंका संगीत, पवनकी हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बाते सुन लेते हैं और उसकी पुकारमे दत्तचित्त हो जाते हैं, करुणासे पुलकित होते हैं। किंतु क्या कभी दुखी हृदयके नीरव क्रन्दनको भी अन्तरात्माकी श्रवणेन्द्रियको सुनने देते हैं, जो करुणका काल्पनिक

वर्गके अन्य अनेक कृतिकारोंमें भी। इस सग्रहकी रचनाओंमे भावात्मक कहानीके सभी अवयव सगठित मिलते हैं। आगे चलकर 'छाया'का ही विकसित एव प्रौढ परिष्कृत रूप 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में स्फुट हुआ है और 'प्रतिध्वनि'का 'आकाशदीप' में। यो तो इतिवृत्तात्मक कहानियाँ भी प्रसादकी बेजोड़ हैं पर भावात्मक सर्वथा अजेय हैं। उनमें कवि प्रसादकी कल्लोलिनी कल्पना और प्रतीक अलकरणको खुल खेलनेका जो अवसर मिला वह भारतीय काव्य सृष्टिकी अपनी शैली है।

'प्रतिध्वनि की पहली कहानी 'प्रसाद' है। इसमें कथा भाग नहींके बराबर है। एक मन.स्थिति और उसके परिमाणका भव्य चित्रण मात्र है। 'सरला' मनमें सोच रही थी, मैं दो-चार फूलपत्ते ही लेकर आई। परन्तु चढानेका, अर्पण करनेका हृदयमें गौरव था। दान की सो भी किसे! भगवान को! मनमे उत्साह था। परन्तु हाय! 'प्रसाद' की आशाने–शुभ कामनाके बदलेकी लिप्साने मुझे छोटा बनाकर अभीतक रोक रखा। सब दर्शक चले गए, मै खड़ी हूँ, किस लिए। अपने उन्हीं अर्पण किए हुए दो-चार फूल लौटा लेनेके लिए, तो चलूँ। जानमें या अनजानमें पुजारीने भगवानकी एकावली सरलाके नत गलेमें डाल दी। प्रतिमा प्रसन्न होकर हँस पड़ी।" मूलतः कहानीमें प्रतिपाद्य भी यही है और कथाभाग भी इतना ही है। इतनेके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब विषयस्थापनकी शृंगारसज्जा मात्र है। इस कहानी द्वारा कलाकारने केवल इतना ही कहा है कि नियति मानव हृदयकी भावनामें परिणत होकर प्रेरित करती है कुछ समर्पित करनेके लिए और कुछ पानेके लिए। इस लेनदेनमें ही मानव मनकी मिठास पूर्णता ग्रहण करती है।

इसी तरह आगेकी अन्य सभी कहानियोमे एक न एक भाव चित्र अकित मिलते हैं। 'गूदड़ साई' मे अपनी गूदड़ीका मर्म साई इस प्रकार समझाता है–'इस चीथड़ेको लेकर भागते हैं भगवान और मै उनसे लड़कर छीन लेता हूँ, रखता हूँ फिर उन्हींसे छिनवानेके लिए, उनके मनोविनोदके लिए। सोनेका खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ा पर भगवान ही दया करते हैं। मायामोहस परे रहनेवाले साईके हृदयमें कैसी माधुर्यकी ऐकान्तिकता निवास करती है –इसीका चित्र कहानीमें है। बालकके रूपमें भगवानकी छवि ही तो खेलती रहती है और साईके हृदयमे उसीका प्रसार है। 'गूदड़ीमें लाल'

शीर्षक कहानीमें है 'एक बुढ़ियाका जीर्ण कंकाल, जिसमें अभिमानके लयमें करुणाकी रागिनी बजा करती है। स्वाभिमान ही चरित्रमें लालके समान मूल्यवान वस्तु है। जिसके पास यह रत्न है वही वस्तुतः अमीर है। बुढियाकी गरीबीमें यही स्वाभिमान गुदड़ीका लाल बन गया।

'अघोरीका मोह' शीर्षक इतिवृत्तात्मक कहानीमें नियतिके चक्रमें पड़े दो बाल सखाओंकी भूली स्मृतिको जगानेका उपक्रम मिलता है। बाल्यावस्थाके सुखद दिनोंमें किसी समय ऐश्वर्य पुत्र ललितने अपने दरिद्र मित्र किशोरकी सूखी रोटी खानेका आग्रह किया और इसे किशोरने भी स्वीकार किया था। पचीस वर्षोंके उपरान्त दैवयोगसे एक दिन यह पुरानी स्वीकृति कार्य रूपमें परिणत भी हुई पर बातें विस्मृतिके गर्तमें हुई। कहानीमें कोई विशेष चमत्कार न रहने पर भी भावुकताकी रंगीनी अवश्य है। 'पापकी पराजय' में सामान्य इतिवृत्तका योग लेकर भावभूमियोंके पट-परिवर्तनका दृश्य उपस्थित किया गया। परिस्थितिवश राजकुमार घनश्यामके सामने समस्या आती है—"क्या सौन्दर्य उपभोगके लिए नहीं, केवल उपासनाके लिए है?" इसी समस्याका समुचित उत्तर इस कहानीमें मिलता है। किस प्रकार परिस्थिति भेदसे काम-भाव बदल गया और उसीके भीतरसे रागरंजित कर्तव्यकी प्रेरणा जगी—इसीका चित्र कहानीमें दिया गया है। बात सीधी होनेपर भी काव्यतत्वसे संवलित होनेके कारण सरस बन गई है। 'सहयोग' में कुछ नहीं है। पतिपत्नीके पारस्परिक सबंधके एक साधारण विषयको लेकर दिखाया गया है कि पहले मोहनने किस प्रकार मनोरमाको अपनी गतिविधिसे ढालकर चिरसंगिनी न बनाकर केवल दासी बनाता है पर आगे चलकर अपनी ही बनावटसे खिन्न होता है और परिवर्तनकी आकांक्षा प्रकट करता है।

'पत्थरकी पुकार' में आदर्श एवं यथार्थका द्वन्द्व दिखाया गया है। आदर्श कल्पना-प्रसूत होता है, उसे अतीत और करुण प्रिय है, पर वह यथार्थ ज्ञानसे दूर रहकर केवल उसकी भावना भर कर सकता है। यदि उसकी प्रियता निश्चेष्ट और क्रियाविहीन है तब उसमें सौन्दर्य कहाँ। इसका यथार्थवादी उत्तर कहानीके अंतमें बूढे संगतराशने दिया है—'आप लोग अमीर आदमी हैं। अपने श्रवणेन्द्रियोंसे पत्थरका रोना, लहरोंका संगीत, पवनकी हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं और उसकी पुकारमें दत्तचित्त हो जाते हैं, करुणासे पुलकित होते हैं। किंतु क्या कभी दुखी हृदयके नीरव क्रन्दनको भी अन्तरात्माकी श्रवणेन्द्रियको सुनने देते हैं, जो करुणका काल्पनिक

नहीं किंतु वास्तविक रूप है। 'आदर्श और यथार्थका यही रहस्य कहानीका प्रतिपाद्य है। 'उस पारका योगी' कहानी गद्यकाव्य है। खुले समाजमें जो सिद्धि न मिल सकी वह नदीकी धारामें प्राप्त हो गई—इसके अतिरिक्त सब कविता है जिससे केवल इतना आभास मिलता है कि नन्दलाल अपनी प्रेमिका से कितना अभिन्न है। 'करुणाकी विजय' में भावुक लेखकने समाजके मर्मका उद्‌घाटन किया है। तीन बरसकी रामकलीकी रक्षाका भार आ पड़ा तेरह वर्षके निरीह और निरवलम्ब बालक मोहन पर। इस ओर न देखा समाजने न किसी अन्य सज्जनने। समाजकी इस गलित दुर्बलताकी जो आलोचना न्यायाधीशने की है वही प्रतिपाद्य है—कहानीका। 'खड़हरकी लिपि का आधार इतिहासको बनाकर कल्पना सजाई है। स्वप्नके योगने बात पूरी कर दी। वातावरण सम्बन्धी मनोरमता और कथांशकी क्षीण रेखाने कुछ धुँधली-सी मधुरिमा पैदा की और बस। 'कलावतीकी शिक्षा' में कातासम्मित तयोप-देशयुजेका सफल चित्रण है। श्यामसुन्दर और कलावतीकी एक रातकी रसमयी कहानी है। उसमे बात तो कुछ नहीं है, केवल एक व्यावहारिक विदग्धताने बात बना ली है।

'चक्रवर्तीका स्तम्भ' शीर्षक कहानीमे भी इतिहासकी झलक मिलती है। अशोकके स्तम्भका आधार लेकर और सरलाके जिज्ञासा भरे प्रश्नोंकी आड़में धर्मरक्षित ने सामान्य बौद्ध-महिमाका उल्लेख किया है, साथ ही यह भी दिखाया गया है कि अवसरके अनुसार कैसे एक धर्म दूसरे धर्म पर आघात करता है। 'दुखिया' कहानीमें ग्रामजीवनका चित्रण है। दुखिया अपने दैनिक कार्योंमे लगी रहती है—आम और महुए बीनती, घास छील-धोकर अस्तबल-मे पहुँचाती और अपने अन्धे बूढे बापका भरणपोषण करती है। एक दिन जब वह घास कर रही थी कुमार मोहन वहीं आकर घोडेसे गिरता है और वह उसका सेवा करती है। कुमार दुखियाकी झोपड़ीमे आकर उसके बापसे मिलता है और उसे इनाम देता है। इसी घटनाके कारण दुखिया जब बिलबसे घास लेकर अस्तबलमें जाती है तब दारोगा उसे डॉटता है। कहानी प्रकृतिसे काल्पनिक है। एक ओर कुमार दुखिया पर अनुग्रह बरसाता है और दूसरी ओर उसीका नौकर डॉटता है। जीवनकी इसी यथार्थताका प्रकाशन कहानी में किया गया है। 'प्रतिमा' में पूजा-अर्चना पर आराधककी मनःस्थितिका प्रभाव दिखाया गया है। किस प्रकार सरलाकी मृत्युसे दुखी कुञ्जविहारीके मनमें देवविग्रहके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती है और पुनः कैसे रजनीकी

कारण फिर उस ओर उसकी प्रवृत्ति हो उठती है—इसीका कथन इसमें है। कुञ्जविहारीकी मानसिक स्थितिका भेद उपस्थित कर यह दिखाया गया है कि पूजाका सौन्दर्य पूजककी मनःस्थिति पर अवलम्बित रहता है। 'प्रलय' शीर्षकके अनुरूप प्रलयकी कहानी है। प्रलयका चित्रण और मानवचित्त पर पड़नेवाले उसके प्रभावका कथन ही इसमे बड़ी सुन्दरतासे किया गया है। उसके भीतर होनेवाले पुरुष और शक्तिके संवाद परिस्थितिके अनुकूल हुए हैं। आदि और अंतका प्रभाव भी साफ उभड़ा है। इस रचनामें कल्पना और चित्रविधानका अच्छा योग हुआ है।

सम्पूर्ण कहानियोंका साररूप उपस्थित कर देने पर कुछ बातें उसमे स्पष्टतया देखी जा सकती हैं। दो-तीन कहानियाँ ऐसी हैं जिसमें ऐतिहासिक पूर्वपीठिका रखी गयी है अन्यथा या तो कौटुम्बिक प्रसारभूमिको लिया गया अथवा शुद्ध कल्पनाके आधार पर एक छोटा सा इतिवृत्त गढ़ा गया मिलेगा। सब कहानियोंमे जो एक बात सामान्यतः मिलती है, वह है भावकी व्यंजना। अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जो यथार्थके माध्यमसे भावोत्तेजनमे सहायक हैं। 'प्रलय' और 'पत्थरकी पुकार' ऐसी अान्यापदेशिक रचनाएँ भी अपने ढगकी बनगई हैं। थोडेमें कहा जा सकता है कि ग्राम और कुटुम्बके वातावरणसे लेकर सुदूर अतीत तकको एक व्यापक दौड़ इन कहानियोंमे मिलती है। अपनी सम्पूर्णतासे अलंकृत होकर एक-एक भावचित्र इनमें खींचे गये हैं। इस प्रकार भावोत्कर्ष ही इनका ऐकान्तिक लक्ष्य मालूम पड़ता है। इन छोटे-छोटे भाव खण्डोंको चित्तमें उतार लेनेके उपरान्त 'प्रसाद' के सामने अब दो भिन्न मार्ग और पद्धतियाँ खड़ी हुई। इनमें 'प्रतिध्वनि' वाली पद्धति ही उस समय 'प्रसाद' को आकर्षक प्रतीत हुई और उन्होंने 'आकाश दीप' की रचनामें अधिक समय दिया।

(३)

'छाया' और 'प्रतिध्वनि' मे दो भिन्न शैलियोंका प्रयोग कर लेने के उपरान्त 'प्रसाद' ने भविष्यके लिए अपना मार्ग निर्दिष्ट कर लिया। इतिवृत्त प्रधान और भावात्मक कहानियोंकी प्रकृति अधिकांशतः पृथक् है। एकमें वस्तुविन्यासके माध्यमसे भावोत्कर्ष लक्ष्य बनाया जाता है। दूसरे में भी लक्ष्य तो भावोत्कर्ष ही रहता है, पर रहता है वस्तु-प्रसारविहीन केवल एक सुदिव्य आसन पर आसीन। उसमें पूर्वपीठिका और भावानुरूप

वातावरणकी साज-सज्जा ही अलम् रहती है। इस रहस्यको पूर्णतया हृदयगम किया 'प्रसाद' ने और सर्जना क्षेत्रमें उसका दिव्य उद्घाटन भी दिखाया। 'आकश दीप' (१६२६) 'आँधी' (१९३२) और 'इन्द्रजाल' (१६३६) लेखककी सर्जनाप्रौढताका परिचय देनेवाली कृतियाँ हैं। रचनाकौशलकी दृष्टिसे इन्हें पृथक् पृथक् स्तरकी रचनाएँ नहीं माना जा सकता है। ये भी रचनाएँ अपने अपने ढगसे प्रौढ कौशलको व्यक्त करती हैं। इसी प्रकार इन कहानियोंके वर्गीकरणकी बातें भी विशेष तत्थ्यपूण नहीं मालूम पड़तीं। नाना प्रकारके वर्ग-विभाजन के लिए 'प्रसाद' में कोई स्थान नहीं है। विषय, शैली, और रचना-पद्धतिके आधार पर जिन विद्वान लेखकोंने तरह-तरहके विचार प्रकट किए हैं उनमें तत्त्वतः कोई विशेष सार नहीं दिखाई पड़ता।

उक्त तीनों सग्रहोंका सामूहिक विचार करनेसे पहली बात जो सामने आती है वह है कहानियोंका विस्तार क्रम। उसमेंसे कुछ तो बहुत छोटी हैं, चार-पाँच पृष्ठोंकी, जैसे—भिखारिन, वैरागी, ज्योतिष्मती, वेड़ी, विजया और अनबोला। कुछ कहानियाँ अपेक्षाकृत बड़ी हैं—छः पृष्ठोंसे लेकर बारह पृष्ठों तक, जैसे—ममता, सुनहला साँप, हिमालयका पथिक, प्रतिध्वनि, कला, समुद्र-सतरण, बनजारा, चूड़ीवाली, अपराधी, प्रणयचिह्न, रूपकी छाया, रमला, बिसाती, मधुआ, घीसू, ग्रामगीत, अमिट स्मृति, छोटा जादूगर, परिवर्तन, सन्देह, भीखमें, चित्रमन्दिर और विराम चिह्न। कुछ कहानियाँ सामान्यत. पन्द्रह पृष्ठोंसे लेकर इक्कीस पृष्ठोंतककी हुइ हैं, जैसे—आकाश दीप, स्वर्गके खडहरमें, देवदासी, व्रतभग, नीरा, पुरस्कार, इन्द्रजाल, सलीम, नूरी, चित्रवाले पत्थर और गुण्डा। सबसे बड़ी केवल तीन कहानियाँ हैं—'आँधी' (५१ पृष्ठ) 'दासी' (३३ पृष्ठ) और सालवती' (३७ पृष्ठ) 'आकाशदीप' मे विस्तारक्रमसे प्रथम प्रकारकी तीन द्वितीय प्रकारकी तेरह और तृतीय प्रकारकी तीन कहानियाँ मिलती हैं। 'आँधी' में प्रथम प्रकारकी दो, द्वितीय प्रकारकी चार, तृतीय प्रकारकी तीन और अन्तिम प्रकारकी दो कहानियाँ हैं। 'इन्द्र-जाल'मे प्रथम प्रकारकी एक, द्वितीय प्रकारकी छ., तृतीय प्रकारकी पाँच और अन्तिम प्रकारकी केवल एक कहानी मिलती है।

इन चार प्रकारके विस्तारोंकी अपनी-अपनी सुन्दरता, उपादेयता और सिद्धियाँ हैं। प्रथम प्रकारमें भाव चित्रोंकी मनोहर झलक भर मिलती हैं।

किसी एक भावको आधार देनेके अभिप्रायसे ही दो-तीन सीढियाँ पूर्वाभासकी तरह सजाई जाती है, जैसे, 'वेड़ी' में। 'हे भगवान्' भीख मँगवानेके लिए बाप अपने बेटेके पैरमें बेड़ी भी डाल सकता है और वह नटखट फिर भी मुस्कुराता था। संसार तेरी जय हो।' यहाँ दरिद्र जीवनके एक यथार्थको संवेदनशील रूपमें झलका देना ही कहानीकारका लक्ष्य है। इसी तरह 'भिखारिन'में दूसरे प्रकारकी एक झलक उपस्थित मिलेगी। वहा दरिद्र भिखारिनका स्वाभिमान दिखाया गया है साथ ही सम्पन्नके व्यवहारगत कल्मषपर व्यंग किया गया है। ऐसी कहानियोंमें वस्तुके प्रति न तो लेखकका ध्यान रहता और न अध्येताका, प्रतिपाद्यकी झलक कितनी उभड सकी है यही दोनों पक्ष देखता है। किसी एक तथ्य अथवा वृत्तिकी ऐकान्तिक व्यंजना ही मुख्य रहती है। व्यंग्यके अनुरूप ही चित्र विधान भी रहता है 'वेड़ी में सड़कका और 'भिखारिन' में घाट किनारेके दृश्य लघुप्रसारसे रखे गए हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी आता निरर्थक हो उठता। इस प्रकारकी कहानियोंको झाँकीके गुण धर्मके मेलमें समझना चाहिए। विविध भूमियोंपर खडे एक ही व्यक्तिके सैकडों 'स्नैप्स' लिए जाँय तो जैसी एकसूत्रताके साथ नानारूपात्मकता दिखाई पडेगी उसी तरह अति लघु ये कहानियाँ भी एक ही भावकी विविध भंगिमाएँ उपस्थित करनेमें योग दे सकती हैं। कुशल कारीगर 'प्रसाद'ने क्षिप्रगतिसे परिवर्तित होनेवाली भावात्मक वृत्तियोंकी उत्कर्ष विधायिनी झलक इनमें बडी सफलतासे दी है। इस विषयमें यह अवश्य ध्यानमें रखना चाहिए कि झाकी या झलकमें स्थायित्वकी भावना कम रहती है; हृदयमें लघु झकृति उत्पन्न करना ही लक्ष्य रहता है। कोई प्रभाव कुछ देरतक चित्त और बुद्धिपर छाया रहे अथवा उसे अपनेमें डुबा सके इसके लिए थोड़ा अधिक विस्तार अपेक्षित होता है।

द्वितीय श्रेणीके विस्तार क्रमकी कहानियाँ ही प्रसादजीने अधिक लिखीं हैं, 'आकाशदीप' मे तेरह, 'आधी' मे चार और 'इन्द्रजाल'में छः। इनको झांकीसे कुछ बढकर चीज समझनी चाहिए। इनके भावोत्कर्षमें अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता मिलती है। इनका प्रसार भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक होनेसे लेखकको इस बातका अधिक अवसर मिला है कि वह रसोत्पत्तिके लिए आवश्यक उद्दीपन संयोजित कर सके। इस कोटिकी कहानियोंमें एकसे एक सुन्दर गठनवाली रचनाएँ दिखाई पडेंगी। विषयके आग्रहके अनुरूप उद्दीपनकी सजावटमें कहीं प्रकृतिका योग लिया गया है और कहीं स्थानीय

वातावरण का। प्रथम प्रकारकी कहानियोंके अच्छे उदाहरण 'समुद्र संतरण' और 'विसाती' हैं और दूसरे प्रकारमें 'मधुआ' अथवा 'विराम चिन्ह' रखे जा सकते हैं। नाटक और काव्य-निर्माणके कुशल शिल्पी होनेके नाते 'प्रसाद' रंगमंचीय साजसज्जाकी सजीव कल्पना करनेमें और संवादकी आकर्षक मालिका पिरोनेमें पारंगत थे। इसलिए प्रथम और द्वितीय विस्तार क्रमवाली कृतियोंमें स्वभावत. विशेष अन्तर न होनेपर भी प्रभावकी अन्विति उपस्थित करनेमें भेदकता दिखाई पड़ती है। कहानीके अंतमें जैसे प्रभावकी समष्टि पहली कहानियोंमें मिलती है उससे कहीं स्थायी और बलदचर रूप इन दूसरे वर्गकी विस्तारवाली कहानियोंमें दिखलाई पड़ता है। मूलतः इन दोनों प्रकारमें कोई रचना-पाटव सम्बन्धी प्रत्यक्ष अन्तर नहीं है पर अधिक विस्तार स्पष्टतः प्रभावको स्फुट करनेमें योग देता मालूम पड़ता है। इसी अधिक विस्तारको उद्दीपन विभावके द्वारा भर देनेसे रचनामें एक विशेष प्रकारकी नूतनताका स्वरूप खिल उठा है।

'समुद्र संतरण' और 'विसाती'में पूर्वपीठिकाका शृङ्गार एवं अलंकरण अधिक है और संवाद बड़े ही भावुकतामें डूबे हुए कराए गए हैं। आरम्भ और अन्त बड़े ही आकर्षक बना दिए गए हैं। इन विशेषताओंके कारण इन कहानियोंमें नाटकीय सौन्दर्य आ गया है। प्रगीत काव्योंकी-सी यही शैली प्रसादकी अपनी और बेजोड़ शैली है। काव्योत्कर्षकी यह परिपाटी न केवल भारतीय वाङ्मयमें बल्कि संसारके समस्त साहित्योंमें अद्वितीय सी बन कर अमर रहेगी। 'विसाती' में तो सम्पूर्ण कथानक तीन परिच्छेदोंमें बाँटा भी गया है पर 'समुद्र संतरण' में तो वैसा भी नहीं किया गया। वहाँ संकलनत्रयका ऐसा रूपसिद्ध मिलता है कि आद्यंत एक धारा सी प्रवाहित हो उठी है। आरम्भ (सुन्दरी!), चरम सीमा (और तुक प्रपंचक हो--कह कर धीवर बालाने एक निश्वास ली), और अन्त (धीवर बालाने हाथ पकड़ कर सुदर्शनको नावपर खींच लिया। दोनों हँसने लगे। चन्द्रमा और जलनिधि भी) के विभाजनका कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया गया। शुद्ध भावात्मक और कल्पनाप्रधान कहानियोंका अच्छा प्रतिनिधित्व इन दोनों कहानियोंसे हो जाता है।

इस कोटिमें जो दूसरा प्रकार कहा गया है उसके लिए उदाहरण रूपमें दो कहानियाँ रखी जा सकती हैं—'मधुआ' और 'विराम चिह्न'। इनमें विस्तारको सोद्देश्य और साभिप्राय बनानेके लिए स्थानीय परिस्थिति योजनाको

सजीवता प्रदान की गई। 'मधुआ' के आरम्भमें शराबीकी शराब विषयक एक-निष्ठता एवं तन्मयताका यथार्थ चित्रण बड़े स्वाभाविक ढंगसे करानेमें चार पृष्ठ खर्च कर दिए गए हैं। यदि यह अंश दुर्बल हो गया होता तो मधुआके लिए दया दिखानेका सारा महत्त्व ही दुर्बल हो गया होता और शराबीमें परिवर्तनको उभाड़नेका कार्य गड़बड़में पड़ जाता। इस परिवर्तनके मूलमें बैठी शराबीकी कोमलवृत्तिके सौन्दर्योद्घाटनकी कहानीका जो परम साध्य था वही अशक्त हो जाता। इसलिए विस्तारका उपयोग आवश्यक हो गया। इसी तरह 'विराम चिह्न' में परिस्थितिका आरम्भिक परिचय देनेमें—अर्धनग्ना वृद्धा दूकानवालीकी दारिद्र्यपूर्ण सजावट, ताड़ीसे पेट भरे राधेका रूप और उस गरीबीसे आक्रान्त अछूत बुढ़ियाकी भगवानके प्रति आस्था समझानेमें ही लेखकने प्रायः एक परिच्छेद ले लिया है। दूसरे परिच्छेदमें चरमसीमा (तब भी तू कहती है कि मन्दिरमें हमलोग न जायँ! जायँगे, सब अछूत जायँगे) को तीव्र आवेगमय बनानेका योग खड़ा किया है। इसी सबमें विस्तारका औचित्य सिद्ध है और वह अनिवार्य सा मालूम पड़ता है। प्रथम विस्तार-वाली रचनाओंमें इस ढंगका विवरणात्मक परिचय देनेके फेरमें नहीं पड़ा गया है; अतएव वहाँका विस्तार सर्वथा नियंत्रित और परिमित रहा है।

प्रथम एवं द्वितीय श्रेणीकी विस्तारक्रमवाली कहानियाँ विषयकी अबाध एकनिष्ठता एवं एकोन्मुखताके विचारसे आपसमें मिलाई जा सकती हैं। पाँच और बारह पृष्ठोंका अंतर केवल पृष्ठभूमिके अलंकरण और परिस्थिति-बोधनके कारण मिलेगा अन्यथा साध्यस्थापनके आधारपर दोनोंकी प्रकृति प्रायः एक सी है। तृतीय प्रकारका जो विस्तारक्रम है वह वस्तुतः पृथक् हुआ है। उसकी फलाकृति और प्रभाव, अवश्य भिन्न प्रकारका दिखाई पड़ता है। कथाभागमें विस्तार, वस्तुविन्यासमें कौशल और प्रभावान्वितिमें आत्मसात् करनेकी क्षमता, इन रचनाओंमें स्पष्ट देखी जा सकती है। इस वर्गकी सर्वाधिक प्रिय कहानियोंमें 'आकाश दीप', 'सलीम', 'गुण्डा' और 'पुरस्कार' हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि इसी विस्तारक्रममें आकर मुख्यतः 'प्रसाद' की प्रतिभाको पूर्ण विकसित होनेका अवसर मिला है; उनकी प्रबंध-पटुता भी अधिक खुली है, उनके कवि मानसको पूर्णतया लहरानेका सुयोग मिला है और पूर्वकी शैली-पद्धतिको यहीं पहुँचकर संश्लिष्ट चित्रविधानका सौन्दर्य प्राप्त हो सका है। अतः प्रसादका प्रसादत्व यहीं आकर सिद्ध हुआ है।

इस वर्गकी कहानियोंकी उन विशेषताओंका विचार आवश्यक है जिनके कारण विस्तार-प्रसार आवश्यक हो गया है अथवा जिनके कारण इन्हें पूर्वके

वर्गोंसे पृथक् करना तर्कसंगत मालूम पड़ता है। इनकी प्रधान भेदकता तो प्रासंगिक और सहयोगी कथाएं हैं। आधिकारिक कथाको अविच्छिन्न रखते हुए भी इनमें यथास्थान आवश्यकतानुसार कथाकी शाखाओं-प्रशाखाओंको भी उभड़ने और अपना स्वतंत्र प्रभाव उत्पन्न करनेका स्थान दिया गया है। अवश्य ही आगे चलकर ये प्रासंगिक प्रभाव आधिकारिक कथाको ही बल प्रदान करते दिखाए गए हैं। इन शाखाओंको फैलानेका एक निश्चित उद्देश्य यह भी रहता है कि नायक नायिकाकी मुख्य चित्तवृत्ति अथवा क्रिया व्यापारमें चमत्कार उत्पन्न करें अथवा कुछ चरित्रकी नूतन भंगिमाओंका उद्घाटन करके चरित्रके निखारमें सहायक हों। 'गुण्डा' के प्रधान चारित्रिक गठनमें चार चाँद लगानेके अभिप्रायसे ही दुलारीवाला प्रसंग अथवा बोधी-सिंहकी बारातवाला प्रसंग भी जोड़ दिया गया है। इसी तरह 'सलीम' में एक भूमि वह है जिसमें प्रेमा बालकोंको खीर बांटते हुए दया और स्नेहकी मूर्ति बनी सामने आती है। आगे चलकर वह दूसरी भूमिपर दिखाई पड़ती है जिस समय नन्दरामके स्वागतके लिए उल्लास और प्रेमसे भरी दौड़ती है। फिर उसका रणचण्डीका रूप सामने आता है। अन्तमें प्रभावान्वितिको बटोरती हुई पुनः वह एकबार नारी सुलभ कोमलतासे आप्लुत कहती आती है—'सलीम ! तुम्हारे घरपर कोई और नहीं है, तो वहाँ जाकर क्या करोगे ? यहीं पड़े रहो।' यहाँ प्रभावान्वितिका अभिप्राय यह है कि कहानीका प्रतिपाद्य है—'मनुष्यताका एक पक्ष वह भी है जहाँ वर्ण, धर्म और देशको भूलकर मनुष्य मनुष्यके लिए प्यार करता है—और इसकी सिद्धि प्रेमाके उक्त वचनोंमें मिलती है। इस वर्गकी कहानियोंमें या तो एकसे अधिक प्रसंगोंका प्रयोग कथा विस्तार कर देता है अथवा एक ही व्यक्तित्व और भावको विविध भूमियोंमें रखकर दिखानेके कारण ऐसा हो जाता है।

इसी प्रकारकी स्थिति 'पुरस्कार' शीर्षक रचनामें भी मिलती है पर कुछ असमान रूपमें। अन्य बातें तो एक सी हैं पर एक बात सर्वथा नई है। एक ही व्यक्तिमें एक ही भाव की दो विरोधी भंगिमाओंका योग वहाँ उपस्थित मिलता है। इस आधार पर यह कहानी 'आकाश दीप' से बिलकुल मिलती-जुलती है। दोनोंमें कुल गौरवके प्रेम अथवा पितृप्रेम और प्रेमीके प्रति अनुरागमें विरोध उपस्थित किया गया है। दोनोंको ६-७ परिच्छेदोंमें विभक्त किया गया है। 'आकाश दीप' में पद्धति नाटकीय मिलती है और 'पुरस्कार' में कथात्मकता अधिक है। पर इस कथात्मकतामें नाटकीय गुण-

धर्म सन्निहित हैं क्यों कि 'पुरस्कार' के सभी परिच्छेदोंका टेकभार अथवा सम मधूलिकाका ही व्यक्तित्व है। इस भाव संघर्षके अतिरिक्त दोनों कहानियों की नायिकाओंको विभिन्न परिस्थितियोंमें डाला गया है। एकही भावकी संयोजक विविध भूमियोंके निरूपणके कारण विस्तारक्रम प्रसरित हो गया है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि इस तृतीय वर्गकी विस्तार-क्रमवाली रचनाओं-की भेदकता इसीमें है कि इन कहानियोंका कथानक अपने भीतर भावोंका द्वन्द्व अथवा प्रासंगिक इतिवृत्तोंका संयोग लिए रहता है। ये बातें छोटी कहानियोंमें प्रायः नहीं दिखाई पड़ती। विषय प्रसारके अनुरूप ही दोनोंमें विस्तार भी आनुपातिक हो उठता है। पहले दोनों प्रकारोंकी तुलनामें इन कहानियोंकी प्रभान्वितिको अधिक बल-संचयका अवसर मिलता है और इसीलिए इनकी प्रभविष्णुता भी कहीं अधिक आन्तरिक और स्थायी होती है।

चतुर्थ विस्तारक्रमवाली कहानियाँ केवल तीन ही हैं—'आँधी' (५१ पृष्ठ) 'दासी' (३२ पृष्ठ) और 'सालवती' (३७ पृष्ठ)। अपेक्षाकृत इनकी संख्या-न्यूनता इस बातको प्रकट करती है कि इस विस्तारको 'प्रसाद' अधिक स्वीकार नहीं करते थे। विस्तारकी इस सीमा पर आकर कविका प्रगीततत्व कुछ बिखरा सा दिखाई पड़ता है। और उसके अनुत्रयमें कृतिकारको विशेष सुख नहीं मिलता। 'आंधी' और 'दासी' में इस विस्तारका प्रयोग कर लेने पर 'सालवती' में उसका निखार उत्पन्न हुआ। इस वर्गकी सर्वोत्तम रचना वह है भी, क्योंकि तारतमिक ढंगसे देखने पर ऐसा मालूम पड़ता है कि अन्य दो की अपेक्षा इसमें कथानकका संघटन अधिक कौशलपूर्ण और सफल है। यों तो तृतीय वर्ग एवं चतुर्थ वर्गमें सामान्यतः प्रकृतिगत कोई विशेष भेद नहीं है पर पार्थक्य विधायक भेदकताके लिए पर्याप्त भूमि भी है। इस वर्गकी अपनी मौलिकता प्रासंगिक कथाका विस्तारगामी स्वरूप है। तृतीय वर्गमें आनेवाली प्रासंगिकता यदि प्रकरीरूपकी होती है तो इस वर्गकी प्रासंगिकता पताका रूपकी—विस्तारके आधार पर। अन्य साज-सज्जाएँ और अलंकरण तो पूर्ववत् ही यहाँ भी मिलते हैं।

'आंधी' में लैला और रामेश्वरके साथ आरम्भमें ही श्रीनाथ और प्रज्ञा-सारथीका योग चल पड़ता है। सारे घटना चक्रोंमें घुले मिले वे सभी चलते हैं अपने अपने ढंगसे और अपनी सीमा निर्धारित करते हुए पर कथाकी

आधारिकता अविच्छिन्न सी बनी रहती है। 'दासी' में भी यही स्थिति दिखाई पड़ती है। फीरोजा और नियाल्तगीनके साथ नलराज और इरावती की प्रासंगिकता पताका रूपकी ही बनी रहती है और आदिसे अंत तक एक रस घुली-मिली चलती है। दो कथाओंका ऐसा सहयोगी स्वरूप इन तृतीय वर्गकी विस्तारवाली रचनाओंमे प्रायः कहीं न मिलेगा। इसी तरह 'सालवती' में भी सालवतीके प्रसगमें आठों दार्शनिक कुमारोंका योग है वह अंतमें आनेवाली आठों वेश्याओंके के लिए अनिवार्यत. उपादेय बनाया गया है। वस्तुत' इस कहानी में दोनो कथाकी धाराएँ इतने कौशलसे सपृक्त हो उठी हैं कि पूर्वकी दोनों कहानियोंसे इसमें भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। कथा-धाराकी ऐक्यविधायक प्रवृत्ति ही इसमें सौन्दर्यका कारण बन गई है। इसीलिए 'आर्धी' और 'दासी' प्रयोगिक रचनाएँ मालूम पड़ती हैं और 'सालवती' उत्तमोत्तम कृतियोंमें शीर्पस्थानीय मानी जायगी। 'सालवती' में प्रसादकी प्रतिभा पूर्णतया खिलकर रसकी पूर्णताका कारण बन गई है। बड़ी कहानियोंके कथाके क्रमिक सयोजनकी पद्धति अर्थात् वस्तुविन्यास बड़ा कौशलपूर्ण मिलता है। जितने परिच्छेदोंमें कहानी विभक्त है वे सभी आपसमें पूर्णतया सतुलित हैं, इस अर्थमें कि कारण-कार्य-परिणाम अथवा आरभ-चरम उत्कर्प और अन्तके क्रमसे सजाए गए हैं। सालवतीमें जिस स्वाभि-मानकी मनोवैज्ञानिक स्थापनाकी गई आरम्भमें—'ठीक ! मैं अनुग्रह नहीं चाहती। अनुग्रह लेनेसे मनुष्य कृतज्ञ होता है। कृतज्ञता परतत्र बनाती है। उसीका चरम उत्कर्प और विहार उस स्थल पर दिखाई पड़ता है जहाँ सालवतीने आनन्दसे अपने लिए सौन्दर्य-प्रसाधनकी निरर्थकताका उद्घोप करती हुई कहती है—'मुझे कुछ नहीं चाहिए। मै यों ही चलूंगी। और कुल पुत्रोंके निर्णयकी मै भी परीक्षा करूँगी। कहीं वे भ्रममें तो नहीं हैं। इसके उपरात अन्तमें आकर वही स्वाभिमानकी दीप्तिने उसे कहनेके लिए प्रेरित किया—'यदि सत्र प्रसन्न हो, तो मुझे आज्ञा दे। मेरी यह प्रतिज्ञा स्वीकार करे कि आजसे कोई स्त्री वैशाली-राष्ट्रमें वेश्या न होगी।' तदुपरान्त फिर तो कार्यगत उसीकी सिद्धि है। इसी पद्धतिमे चलकर यदि रसकी सिद्धि देखनी हो तो शृंगाररतिका उदय वहीं हो जाता है जहाँ अभयकुमारके एकावली-उपहारको अस्वीकृत करती हुई भी सालवती उसके व्यक्तित्वकी ओर आकृष्ट होती है। इसका उद्दीप्त स्वरूप वहाँ ध्वनित होता है जहाँ वह गुम्फित मालिका लक्ष्य कर अभयकुमारके भालेपर फेंकती है। आगे चल कर सिद्धिका स्थल वहाँ आता है जहाँ वह आठ

वर्षोंके अनन्तर पुनः एक बार अपनेको विजयिनी पाती है और अपने पुत्रको अभयकुमारके साथ देखती है। जिस रूपमें भी विचार किया जाय वस्तुविन्यासका कौशलपूर्ण गुम्फन इस कहानीमें अवश्य मिलेगा और प्रासंगिक एवं आधिकारिक कथा आपसमें एकरस मिली हुई दिखलाई पड़ेगी। इसलिए यह भी मिलेगा कि 'आँधी' और 'दासी' की अपेक्षा इस कहानीमें प्रभावान्विति की स्थापना अधिक स्फुट है।

(४)

वस्तुविन्यास—उक्त वर्गीकरणके ही आधारपर प्रसादके वस्तु-गुम्फनकी कलाका भी विवेचन करना चाहिए। साढे तीनसे लेकर पाँच पृष्ठोंतककी कहानियोंमें इसका रूप सीधा और सरल दिखलाई पड़ता है। किसी विशेष स्थितिमें कोई विषय आरम्भ होता है और तीव्र और क्षिप्र गतिसे उत्कर्षोन्मुख होकर चरमसीमाकी ओर दौड़ता है। उसकी अति संवेदनशील चरमसीमापर ही कहानीका अन्त हो जाता है। ऐसी कहानियोंमें एक झंकार उत्पन्न करना ही लक्ष्य रहता है, अतएव कथानकमें किसीप्रकारका क्रमिक उतार चढाव अभीप्सित नहीं। वह बिना किसी वक्रताके सीधा—एक झटकेमें नीचेसे ऊपर उठता है और उसकी गतिके साथ ही लहराती हुई प्रभावान्विति खड़ी हो जाती है। 'वैरागी' 'भिखारिन' इत्यादि रचनाओंमें इस प्रकारके कथानकका रूप देखा जा सकता है। इसके उपरान्त फिर तो जिस क्रमसे कथानककी प्रसार भूमि विस्तृत होती जाती है उसके गठनकी सुन्दरता भी स्पष्टतया सुश्रृंखलित बनती गई है।

द्वितीय वर्गकी कृतियोंमें कथानक तत्त्व पूरा रूप धारण कर लेता है। वहाँ आरम्भ, चरमसीमा और पर्यवसानका क्रम स्पष्ट हो गया है। 'समुद्र संतरण' 'विसाती' 'घीसू' 'मधुआ' इत्यादि कृतियोंमें इन त्रिबिन्दुओंका अच्छा स्थापन दिखाई पडता है। विषय प्रवेशके ठीक उपरान्त प्रथम बिन्दु की स्थापना हो जाती है, जैसे—'घीसू'में—'बिन्दो! इस दुनियामें मुझसे अधिक कोई न घिसा होगा, इसीलिए तो मेरे माता-पिताने घीसू नाम रखा था।' बिन्दो की हँसी आँखोंमें लौट जाती। वह एक दबी हुई साँस लेकर दशाश्वमेधके तरकारी बाजारमें चली जाती। इसी तरह 'मधुआ'में भी परिचायात्म विषयके ठीक बाद ही प्रथम बिन्दुका दर्शन होता है—

'शराबी'ने उसके छोटेसे सुन्दर गोरे मुखको देखा। आँसूकी बूँदें ढुलक रही थीं। बड़े दुलारसे उसका मुंह पोछते हुए उसे लेकर वह फाटकके बाहर चला आया।' इन्हीं दोनों धाराओंका क्रमसे चरमबिन्दु इस प्रकार आता है—(१) 'सड़कपर बिजलीके उजालेमें रोती हुई बिन्दोसे बात करनेमें घीसूका दम घुटने लगा। उसने कहा—तो चलो।' (२) 'आह! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय। कह दूँ कि भाड़में जा, किन्तु वह आजतक दुःख की भट्टीमें जलता ही तो रहा है।' इसके उपरान्त दोनों कहानियोंका पर्यवसान तो स्पष्ट ही है। इस वर्गकी कहानियोंके कथानककी दो विशेषाएँ हैं—त्रिविन्दुओंका स्पष्ट संघटन एवं तीनोंके बीचमें लघु एवं तीव्र गतिशीलता।

वस्तुविन्यासके विचारसे तृतीय एवं चतुर्थ वर्गकी कहानियोंमें कोई सैद्धान्तिक अन्तर नहीं है। सबसे बड़ी तीनों कहानियोंमें कथानकका विस्तार-क्रम अपेक्षाकृत कुछ अधिक मंथर और विवरणात्मक दिखाई पड़ता है। 'सालवती' और 'पुरस्कार'के रूपमें इस तथ्यको भलीभाँति देखा जा सकता है। आरम्भके परिचयवाले स्थल दोनोंके एकसे हैं। एकमें सालवतीके चरित्रकी मूलभित्ति जो स्वाभिमान है उसीको मनोवैज्ञानिक विवरणके साथ उपस्थित किया गया है और दूसरीमें मधूलिकाकी एकमात्र सम्पत्तिको राजकीय प्रणालीकी लपेटमें ले लेनेसे जो आन्तरिक स्वाभिमान उसके भीतर जगता है उसीका चित्रात्मक कथन हुआ है। दोनोंकी चरम सीमाका अपने ढंगसे निखार हुआ है और अन्तमें दोनोंका पर्यवसान भी एक-सा ही आत्मसमर्पणपूर्ण संघटित हो गया है। अन्तर जो कुछ मिलेगा वह स्थितियोंके आरोह-अवरोहके क्रममें है। 'सालवती' में यह अंश अपेक्षाकृत अधिक सुस्थिर और प्रसारमय है और 'पुरस्कार'का यही अंश कुछ लघु और तीव्रगामी है। इसीलिए पहलीमें कुछ पृष्ठ अधिक हो गए हैं अन्यथा वस्तु गुम्फनकी प्रणालीमें विशेष भेद नहीं है। इस प्रकार यदि संक्षेपमें 'प्रसाद'के वस्तुविधानकी विवेचनाका सारांश देना हो तो कहा जा सकता है कि छोटी-बड़ी सभी कहानियोंमें एक क्रमसे विषयका आरम्भिक परिचय कथा विकासके सूत्रोंका संकेत, अधिकसे अधिक भावोत्कर्षकी स्थितिका चित्रण और निगतिपूर्ण पर्यवसान प्रायः प्राप्त होता है। इसी पद्धतिपर चलकर आवश्यकतानुसार इन बड़ी कहानियोंमें नाटककी विभिन्न कार्यावस्थाओंका भी विचार किया जा सकता है। नाट्य रचनामें विशेष पटु होनेके कारण प्रसादके वस्तुविन्यासमें तर्क और बुद्धि संगत उतार-चढ़ावका रूप कहीं भी देखा जा सकता है।

उपादान संग्रह—साहित्यका विषय जीवन और जगत्से ही संबद्ध होता है। जीवन और जगत्के व्यापक विस्तार-प्रसारके भीतरसे ही साहित्य प्रेरणा ग्रहण करता है। अपनी अनुभूति, कल्पना और व्यवहारज्ञानसे उसी प्रेरणाको वह भाषाके माध्यमसे पुनः चित्राकार रूपमें उपस्थित करता है। इसी अर्थमें अरिस्टाटलकी 'अनुकृति' काम करती है और इसी अर्थमें भारतीय नाट्य-मीमांसा स्वीकार करती है—'अवस्थानुकृतिनाट्यम्' अथवा 'रूपारोहात्तु-रूपकम्'। अब प्रश्न यह है कि प्रसादने अपनी कहानियोंके लिए जीवन और जगत्के किस अंगको विषय बनाया है अथवा उनमें प्रधान प्रतिपाद्य किस प्रकारके दिखाई पड़ते हैं। उत्तर रूपमें 'आकाशदीप' 'आंधी' और 'इन्द्रजाल' की रचनाओंका विषय-विश्लेषण किया जा सकता है। पहले संग्रहमें केवल 'प्रतिध्वनि' और 'कला' को छोड़कर अन्य सभी कहानियाँ प्रेमविषयक हैं। 'आँधी' में सभी कहानियाँ प्रेममूलक हैं। 'इन्द्रजाल' में भी 'विराम-चिन्ह' को छोड़कर अन्य कृतियोंके मूलमें किसी न किसी रूपमें प्रेमकी ही विवृति मिलती है। इस प्रकार देखा जाय तो प्रसादकी सभी कहानियोंमें प्रेम नामकी वृत्तिका ही कोई न कोई रूपभेद प्रभान्वितिका कारण बना मिलेगा। एक ही भावकी इतनी अधिक भंगिमाओंका चित्रण शायद ही किसी हिन्दी लेखकने किया हो। यदि इस रूपवैविध्यकी पूरी परीक्षाकी जाय तो सारा अनुशीलन ही मधुर भावनाओंका पुंजीभूत रूप हो उठेगा। इस प्रकार प्रसादकी 'मधुचर्या' की शिकायत यहाँ भी उठाई जा सकती है। पर ऐसी 'मधुचर्या' किसी भी साहित्य अथवा साहित्य-निर्माताके लिए स्पृहणीय होनी चाहिए।

'मधुचर्या' के अतिरेकका परिहार भी प्रसादमें मिलता है। सर्वत्र प्रेम सदैव सम एवं अनुकूल ही नहीं दिखाया गया है अथवा केवल काल्पनिक भावुकताकी क्रीड़ा-स्थली ही नहीं बनाया गया है—'समुद्र संतरण' की तरह। जहाँ 'पुरस्कार' में प्रेमकी लहर है वहाँ उसमें आंतरिक संघर्षको भी सजाया गया है। इसी प्रकारके संघर्षका शांतमें पर्यवसित होनेवाला रूप 'आकाश-दीप' में मुखरित है। 'स्वर्गके खंडहर' में प्रेमकी यदि सरस ध्वनि है तो 'बिसाती' में वही प्रेम मूक बलिदानका रूप धारणकर लेता है, 'गुण्डा' में वही दिव्य उत्सर्गका प्रेरक बन गया है। इस प्रकार हम कहते हैं कि प्रसाद-की मूल प्रेरक वृत्ति 'प्रेम' थी। यों तो उनमें अछूतके प्रति करुणा (विराम-चिह्न), सामान्य जीवनके प्रति आस्था (संदेह), दारिद्र्यमें भी असीम सुन्दरता (ममता) और 'शराबी' की कुरूपतामें भी त्यागकी प्रेरकताको चित्रित करनेकी शक्ति पर्याप्त मात्रामें दिखाई पड़ी है।

चरित्रांकन—कहानीमें चरित्रचित्रण भी भावोत्कर्षका अंग बनकर आता है। उसके स्वतन्त्र प्रयोगके लिए यह भूमि ठीक नहीं होती। यहाँ चरित्रके किसी पक्ष विशेषको इस ढंगसे सजाया जाता है कि उससे कोई न कोई भाव तथ्य अथवा अनुभूति उद्घाटित हो सके। चरित्रगत् एकागिता कहानी के प्रतिपाद्यको अधिक उभाड़कर आलोकमय बनानेमें सहायक होती है। प्रसादमें इस तत्वका भी अच्छा परिष्कार दिखाई पड़ता है। प्रायः सभी कहानियोंमें भावोत्कर्ष चरित्र-सौन्दर्यके माध्यमसे ही सम्पन्न होता दिखाया गया है पर कुछ तो इसका स्वतन्त्र रूप भी अत्यन्त प्रभावशाली मिलता है। 'गुण्डा'में आन पर बलिदान होनेकी अलौकिक दृढता के साथ-साथ विरक्ति, निस्पृहता, निर्भीकता आदि व्यक्तित्वको पूर्ण बनानेवाली सभी विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं। 'सलीम की प्रेमा और नन्दराममें जहाँ एक ओर हिन्दू चरित्रकी उदारता ठीकसे सयोजितकी गई है वहीं सलीमकी आन्तरिक कट्टरता भी पूरी-पूरी उभाड़ी गई है। 'सालवती' में भारतीयतासे सवलित ऊर्जस्विता और गर्वानुभूतिकी प्रखरताके भीतर कोमल नारी हृदयकी अच्छी झाँकी मिलती है। सामान्यत प्रसादका चरित्र चित्रण भावचित्रणके साथ ऐसा घुलामिला चलता है कि उसका स्वतन्त्र स्वरूप अलगसे देखा नहीं जा सकता।

संवाद—प्रसादकी कहानियोंमें संवाद बड़े ही आकर्षक, वैदग्ध्यपूर्ण, वस्तुको अग्रसर करनेवाले, और पात्रोंको व्यक्तित्व प्रदान करनेवाले मिलते हैं। 'आकाशदीप'मे सवाद-सौन्दर्य इतना प्रगाढ हो गया है कि उसके पढनेमें नाटक-सा आनन्द आता है। यदि इनका वर्गीकरण किया जाय तो प्रसादमें साधारणतः तीन रूपके सवाद दिखाई पडेंगे—नाटकीय, भावात्मक और व्यावहारिक। मुख्यतः नाटकीय सवाद कहानियोंके आरम्भ अथवा अतमें मिलते हैं, जैसे—'आकाशदीप'का आरम्भ और 'अपराधी'का अन्त अथवा 'चूड़ीवाली' का आद्यत – दोनों। भावात्मक पद्धतिके सवाद तो कहानियोंमे प्रायः सर्वत्र ही मिलते हैं पर विशेप रूपमें 'समुद्र सतरण' 'हिमालयका पथिक' अथवा 'स्वर्गके खडहरमें देखे जा सकते हैं। व्यावहारिक सवादोंका रूप भी बहुत मिलता है। 'मधुआ' के आरम्भिक अशमें अथवा 'नूरी' 'आँधी' और 'प्रणय-चिह्न' मे इसके अच्छे उदाहरण मिलेंगे। विविध प्रकारके सवादोंका प्रसंगानुसार प्रयोग करके वस्तुस्थितिमें विशेप प्रकारका चमत्कार पैदा कर देना प्रसादकी प्रमुख विशेपता है। इन सवादोंसे प्रसादने

पात्रोंकी मनःस्थितिका निरूपण तो किया ही है साथ ही मनःस्थितिके अनुकूल संवादोंमें परिवर्तन भी करते गए हैं। 'पुरस्कार' कहानीमें दोनों तरहकी प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

आदि—अन्त—इस विषयमें प्रसादकी अभिरुचि आरभिक कालसे ही गठित होने लगी थी। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' में आरम्भको नाटकीय आकर्षणसे युक्त बनानेकी कला प्रसाद समझने लगे थे। आगे चलकर कहानीके आरम्भको आकर्षक बनानेके लिए उन्होंने मुख्यतः दो पद्धतियोंको स्थिरता-पूर्वक ग्रहण किया। दोनोंमें नाटकीय तत्वकी प्रधानता है—कुतूहल और वैदग्ध्यसे मुखरित संवादोंसे ही परिस्थिति एवं पात्रोंका परिचय कराना—एक दूसरे—स्थान अथवा पूर्वपीठिकाकी मनोरमताका काव्यात्मक विवरण देते हुए विषयका प्रवेश कराना। 'आकाशदीप' अथवा 'चूड़ीवाली' में पहला रूप है और 'सालवती' 'पुरस्कार' अथवा 'स्वर्गके खंडहर'में दूसरे प्रकार का। 'अन्त' करनेकी प्रणाली भी प्रसादकी अपनी विशेपता प्रकट करती है। इस विपयकी भी कलात्मक जागरूकता प्रसादमें आरम्भसे ही दिखाई पड़ने लगी थी। प्रायः तीन ढंगोंसे समाप्त होती मिलेंगी—सभी कहानियाँ प्रसादकी। सुस्पष्ट पर्यवसान का चित्र उपस्थित करनेवाली कहानियाँ, जैसे—पुरस्कार, नूरी, आँधी इत्यादि, नाटकीय दृश्यविधान सामने लानेवाली कहानियाँ, जैसे—'आकाशदीप', 'वैरागी', 'ज्योतिष्मती', 'गुण्डा' 'समुद्र-सतरण' इत्यादि और अनुमानाश्रित, जैसे—बिसाती। यह अंतिम प्रकार चाहे कुछ कम हो परन्तु सौन्दर्य एव प्रभावके विचारसे सर्वोत्तम है। अतमें पहुँच कर यह कहानी आत्मसात करती हुई सहृदय पाठकके चित्तको विचारमग्न करती पाई जाती है। प्रभावान्विति यहाँ आकर मधुर-सी झंकारमें चित्तके कोमलांशको पूर्णतया डुबा लेनेमें सफल होती है और यही काव्यका चरम साध्य है।

अत में आकर यदि हम प्रसादकी समस्त कहानियोंका सारभूत सौन्दर्य थोड़ेमें कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उनमें कहानी 'कला'की वस्तु बन गई—संवेदनशीलताके विचारसे भी और रचनात्मक प्रक्रियाके आधारपर भी। जितने भी तत्त्व और अंग हैं कहानीके, उन सबका पूर्ण परिष्कार प्रसादमें दिखाई पड़ता है। उन्होंने हृदयको ही झंकृत करनेकी चेष्टा अधिक की है; मस्तिष्कको उद्‌बुद्ध करनेकी ओर अधिक नहीं बढे और यही उनकी प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल था भी।



इरावती



—नगेन्द्र—

कवि दिनकरकी एक मार्मिक पंक्ति है—'गीत अगीत कौन सुन्दर है ?' गीत और अगीतके बीच एक और भी स्थिति है अर्धगीत की। गीतका माधुर्य प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है। अगीतका कल्पनागम्य है। किन्तु अर्धगीतका माधुर्य कितना करुण है। उसमें जो गीत है वह अगीतका संकेत देकर असहाय मौन हो जाता है। विश्वके साहित्यमें ऐसे काव्य अनेक हैं जो अर्धगीत ही रह गये। भारतमें प्रवाद है कि बाणकी कादम्बरी अपरिसमाप्त ही रह गई थी—अन्तमें उनके पुत्रने उसे पूरा किया। एक किंवदन्तीके अनुसार चन्द भी गज़नी जानेसे पूर्व रासोको अपने पुत्र जल्हनके हाथ सौंप गये थे—पुस्तक जल्हन हत्थ दै चले गज्जन नृप-काज। किन्तु आज तो वह भी सम्भव नहीं है। यदि कोई दूसरा प्रयत्न करके अपूर्ण को पूर्ण कर भी दे तो एक तो वह भिन्न कृति होगी—और दूसरे सहृदय—समाज उसे क्यों स्वीकार करेगा ? इस दृष्टिसे ये अपूर्ण कृतियाँ अपनी अपूर्णतामें ही महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रसादजीका इरावती उपन्यास उनके जीवनके समान ही अपूर्ण रह गया। यह उनका तीसरा उपन्यास था—इससे पूर्व उनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक काव्यों नाटकों तथा कहानियो आदिके अतिरिक्त कंकाल और तितली उपन्यासोंका भी सृजन कर चुकी थी। ये दोनों उपन्यास सामाजिक थे—पर प्रसादजीकी प्रतिभाकी सहज क्रीड़ाभूमि तो भारतका स्वर्णिम इतिहास था। उन्होंने अपने नाटकोंमे अनेक ऐतिहासिक तथ्योंका अनुसन्धान अथवा पुनराख्यान प्रस्तुत किया। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदिकी विस्तृत गवेषणात्मक भूमिकाएँ उनके पुरातत्त्व प्रेम और ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टिकी साक्षिणी हैं। इतिहासके बिखरे सूत्रोंको समन्वित कर उस कंकालमे प्राण प्रतिष्ठा करनेमें उनकी कल्पना विशेष रूपसे रमती थी। किन्तु नाटकमे कदाचित् उसे वाञ्छित अवकाश नहीं मिल पाया—और इसमें सन्देह नहीं कि दृश्योंमें खण्डित नाटकके सीमित कलेवरकी अपेक्षा उपन्यासका अखण्ड विस्तार इस प्रकारके

कल्पना-विलासके अधिक अनुकूल है। प्रसादके नाटकोंके अध्येताके मनमें अनायास ही यह बात उठ आती थी—और वह वास्तवमें बहुत दिनोंसे उनसे किसी ऐतिहासिक उपन्यासकी आशा लगाये बैठा था। वह आशा इरावतीमें फलित हो रही थी किन्तु दैवके विधानसे वह अपूर्ण ही रह गयी।

इरावतीके केवल १०८ पृष्ठ प्रकाशित हुए हैं—इतने ही लिखे गये थे। यह संभव था कि प्रकाशनसे पूर्व सम्पादन करनेमें एकाध पृष्ठ छोडकर कहानीको कहीं उपयुक्त विराम देनेका प्रयत्न किया जाता, परन्तु वैसा नहीं हुआ—अन्तिम शब्दतक प्रकाशित कर दिया गया है। अन्तिम वाक्य अधूरा है—'चतुष्पथ तथा और भी आवश्यक स्थानोंपर उल्काएँ जल रही थीं। वर्षा कुछ कम......'

इरावतीकी कथा मौर्य साम्राज्यके अधःपतनकालसे सम्बद्ध है, जिसे डा० जायसवाल आदिने अंधकार युग कहा है। उस समय शतधनुषके पुत्र बृहस्पति मित्र मगधके सिंहासनपर आसीन थे। सम्राट अशोक और उनके द्वारा अर्जित मौर्यवंशका वैभव-प्रताप छायाशेष रह गया था। बौद्ध राज्यकी अहिंसा दुर्बलता और 'पाखण्डमें परिणत हो चुकी थी। पश्चिमसे यवन पूर्वमें कलिंगसे खारवेल और दक्षिणके आन्ध्रोंके आक्रमणका आतंक बढता जा रहा था। उधर आन्तर विद्रोहकी अग्नि भी धीरे धीरे सुलग रही थी—बौद्धोंके विरुद्ध ब्राह्मण धर्मका विद्रोह बल पकड़ता जा रहा था—मगध-नरेश के सेनापति सामन्त आदि सर्वथा असन्तुष्ट थे और कुचक्रका वातावरण तैयार हो रहा था। वृद्ध सेनापतिके कान्यकुब्जके वीरगतिको प्राप्त हो जानेपर पुष्यमित्र सेनापति पदपर आरूढ़ हुए और उनका प्रतापी आत्मज विदिशाका कुलपुत्र अग्निमित्र जो अबतक निराशप्रेम और निरुद्देश्य साहसिकताका जीवन व्यतीत कर रहा था खारवेलसे लोहा लेनेके लिए महानायक नियुक्त किया गया। खारवेलने भगवान जिनकी मूर्ति लौटानेके बहाने मगध नरेशका आह्वान् किया था—और भीरु तथा विलासी बृहस्पति मित्रने उससे गुप्त सधि भी कर ली थी। पाटलिपुत्रमें आतंक छाया हुआ था—नागरिकोंमें—विशेषकर धनिक वर्गमें भगदड मची हुई थी। वे लोग राजगृहकी पहाड़ियोंमें शरण ले रहे थे। + + +

यह तो कथाका बाह्य पक्ष है। कथाके अन्तरंग पक्षका सम्बन्ध इरावतीसे है। इरावती कदाचित पाटलिपुत्रकी नगर-नर्तकी थी—जो अग्निमित्रके

प्रेममें असफल होकर महाकालके मन्दिरमें देवदासी हो गयी थी। बृहस्पति मित्रकी दृष्टि उसपर आरम्भसे ही थी—एक दिन महाकालके मन्दिरमें देवताके सामने नृत्य-निरत इरावतीको धर्मके नामपर विलासिताका प्रचार करनेके अपराधमें बृहस्पति मित्रने भिक्षुणी होनेका आदेश देकर बौद्ध विहारमें भेज दिया। अग्निमित्रने जो उस समय वहाँ उपस्थित था, प्रतिरोध करनेका प्रयत्न किया, परन्तु इरावतीने स्वयं बन्दी बननेकी इच्छा प्रकट की और विहारमें चली गयी। विहारमें एक रातको पूर्णिमाके वैभवसे उद्दीप्त होकर वह अनायास ही नाच उठी और इस प्रकार संघके नियमका उल्लंघन करनेके अपराधमें उसे विहारसे भी हट कर अन्तमें बृहस्पति मित्रके अन्तःपुरमें आना पड़ा। इरावतीके अतिरिक्त उपन्यासकी दूसरी नारी पात्र है कालिन्दी, यह रहस्यमयी नारी नन्दवंशकी कन्या है जो अग्निमित्रकी सहायतासे अपने पूर्वज नन्दराजके निधिकी कुंजी प्राप्त कर लेती है। रूप और यौवन से सम्पन्न कालिन्दी मौर्यों की शत्रु और अग्निमित्र पर आसक्त है। इन प्रमुख कथा-सूत्रों के साथ लिपटी हुई एक उपकथा और है जिसका सम्बन्ध श्रेष्ठि धनदत्त और उसकी स्त्री मणिमालासे है। इन उप-कथाओंके सूत्र धीरे धीरे आपसमें संग्रथित होते जा रहे थे—और एक दूसरे के साथ घात-प्रतिघात करती हुई वे आगे बढ़ रही थी कि अकस्मात ही सारा खेल बिगड़ गया और एक अत्यंत सघन कुतूहलमय दृश्य के बीचों-बीच कथा की गति सहसा रुक गयी है: सन्ध्याके उपरान्त बादलोंके साथ-साथ रात्रिका अन्धकार गहरा हो रहा है—वर्षा भी आरम्भ हो गई है। श्रेष्ठि धनदत्तके निवासस्थानपर भोजनादिके उपरांत संगीतकी गोष्ठी जमी हुई है जिसमें तीन स्त्रियाँ हैं, कालिन्दी, इरावती तथा मणिमाला और चार पुरुष हैं धनदत्त स्वयं, अग्निमित्र एक ब्रह्मचारी और एक सम्भ्रान्त आगन्तुक। यह आगन्तुक सगर्व अपनी वीणा-वादन कलाका प्रदर्शन कर रहा है—इतने हीमें श्रेष्ठि भवनको स्वरिनक दलके सैनिक आकर घेर लेते हैं और सूचना मिलती है कि यह चौथा पुरुष वीणा-प्रवीण आगन्तुक चक्रवर्ती खारवेल ही है। एक साथ खलबली मच जाती है—अग्निमित्र खारवेलकी प्राण-रक्षाके लिए प्रतिश्रुत होता है। + + + बस यहीं यक्ष्मा-पीड़ित मेधावी कलाकारकी उँगलियाँ काँप जाती हैं और लेखनी रुक जाती है।

इरावतीका आधार इतिहास-पुष्ट है। उसकी प्रायः सभी मुख्य घटनाएं और पात्रोंके लिए ऐतिहासिक साक्ष्य वर्तमान है। प्राचीन भारतके इतिहासका

निर्माण मुख्यतः पुराण, काव्य, शास्त्र, बौद्ध-जैन साहित्य तथा शिलालेखोंके आधारपर हुआ है—और इनपर आश्रित स्मिथ, जायसवाल, त्रिपाठी तथा मजूमदारके इतिहास-ग्रंथ आज हमारे सामने हैं। डा० मजूमदारकी धारणा है कि वहसाते मित्र जिसका संस्कृत रूप स्पष्टतया बृहस्पति मित्र हैं, उन मित्र राजाओंमेंसे था जिन्होंने कदाचित् मौर्यसाम्राज्यके अधःपतनकालमें मगधपर राज्य किया था। डा० जायसवाल वहसपति मित्र या बृहस्पति मित्रको पुष्यमित्रका ही दूसरा नाम मानते हैं—प्राचीन भारतमें पर्याय नामोंकी प्रथा उस समय थी—जैसे चन्द्रगुप्तका नाम शशिगुप्त भी था। परन्तु अनेक साक्ष्यों के आधारपर आज यह मत खण्डित हो चुका है। प्रसादजीने बृहस्पति मित्रको अंतिम मौर्य-सम्राट बृहद्रथका ही दूसरा नाम माना है। उनके इस निष्कर्षका आधार क्या है यह कहना कठिन है क्योंकि इरावतीके साथ उनका कोई ऐतिहासिक लेख संलग्न नहीं है। परन्तु बृहद्रथ और बृहस्पतिमित्रकी अभिन्नतामें उन्हें सदेह नहीं था। पुराणोंमें बृहद्रथको शतधन्वा या शतधनुप का पुत्र कहा गया है—इरावतीके बृहस्पतिमित्रके पिताका नाम भी शतधनुप ही है जिसकी मृत्युका समाचार महाकालके मन्दिरमें प्राप्त होता है। बौद्ध-राजाओंके नाम मित्रपर प्रायः रहते थे—अशोककी पुत्रीका ही नाम संघमित्रा था—संघमित्र धम्म या धर्ममित्र नामोंका उस युगमें प्रचार था जो प्रायः धार्मिक उपाधिके रूपमें ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकारके किसी साक्ष्य या तर्कके आधारपर प्रसादजीने बृहद्रथ और बृहस्पति मित्रको अभिन्न माना है। दूसरा पात्र है खारवेल जो इतिहासमें कलिंग नरेश चक्रवर्ती खारवेलके नामसे प्रसिद्ध है। पुरीमें हाथीगुम्फाके शिलालेखमें महामेघवाहन खारवेलके पराक्रम की प्रशस्ति मिलती है। उसने मगध-नरेश बृहस्पति मित्रको हराकर अशोककी कलिंग-विजयका प्रतिशोध लिया था और मगधके राजा नन्द द्वारा अपहृत जैन-तीर्थ करकी मूर्ति उससे छीन ली थी। इरावतीमें इस घटनाका स्पष्ट उल्लेख है—भेद केवल इतना ही है कि यह मूर्ति जिन मूर्ति है और अपहर्ता नन्दराज न होकर सम्राट अशोक हैं। इतिहासमें अशोककी कलिंग-विजयका ही उल्लेख है—किसी नन्दराजके विषयमें ऐसा उल्लेख नहीं है। इसीलिए प्रसादजीने यह संशोधन कर दिया है—या फिर सम्भव है उन्हें इसका आधार किसी अन्य ग्रंथमें मिला हो। पुष्यमित्र और अग्निमित्र क्रमशः ब्राह्मण राजवंश शुंगके प्रथम तथा द्वितीय सम्राट हैं। इतिहासके अनुसार पुष्यमित्र बृहद्रथका सेनापति था, जिसने प्रतिज्ञा-दुर्बल मगध नरेशका वधकर स्वयं राज्य सत्ता हस्तगत कर ली थी। कालिदासके मालविकाग्निमित्रका

नायक अग्नि-मित्र उसका पराक्रमी पुत्र था। इरावतीमें पुष्यमित्र वृद्ध सेनापतिकी मृत्युके उपरात पदारूढ होता है—और धीरे धीरे शक्ति अर्जन कर रहा है—जिससे अनुमान होता है कि इतिहास-प्रसिद्ध घटनाके लिए भूमिका प्रस्तुत हो रही है। अब दो पुरुष पात्र रह जाते हैं—ब्रह्मचारी और धनदत्त और तीन नारी पात्र इरावती, कालिन्दी तथा मणिमाला। इनमें धनदत्त और उसकी पत्नी मणिमाला जैसे श्रेष्ठि और श्रेष्ठि पत्निया उस युगके धनिक-वर्गके प्रतिनिधि हैं—वे व्यक्ति न होकर कदाचित् वर्ग-प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार कालिन्दी जैसी राजकुमारियोंका अस्तित्व भी उस युगमें सहज कल्पनीय है जो अपने पदच्युत वशका प्रतिशोध लेनेके लिए राजनीतिक कुचक्रोंमें सक्रिय भाग लेती थी। अब शेष रहे दो पात्र ब्रह्मचारी और इरावती। इरावती उपन्यासकी नायिका है और ब्रह्मचारीके हाथमें उपन्यासकी कथाका मूल उद्देश्य-सूत्र है। परन्तु वास्तवमें इरावती का स्पष्ट उल्लेख मालविकाग्निमित्रमें है—वह सम्राट अग्निमित्रकी दूसरी रानी है। नाटकमें वह गौण पात्र है और केवल दो बार उपस्थित होकर मालविकाके विरुद्ध अपने ईर्ष्या ज्वलित असयत स्वभाव का परिचय देती है। प्रसाद जीने निस्सदेह यह नाम तो यहींसे लिया है—और बहुत सम्भव है इरावती ऐतिहासिक पात्री ही रही हो क्योंकि मालविकाग्निमित्रकी कथा निश्चय ही कालिदासके बहुत कुछ समसामयिक इतिहास पर ही आश्रित है। परन्तु चरित्रका विकास प्रसादने सर्वथा स्वतन्त्र रूपसे किया है—कहाँ कालिदासकी ईर्ष्यान्ध, गरिमाहीन इरावती और कहाँ प्रसादकी सयम, सस्कार तथा कलासे अलंकृत इरावती। इस दृष्टिसे यह मालविकाके अधिक निकट है। ये दोनों पात्र व्यक्ति और वर्ग दोनोंसे भी ऊपर प्रवृत्तिके प्रतीक हैं। इरावती भारतके प्राचीन वैभवकी कला-प्रवृत्तिकी प्रतीक है उस युगमें पुर सुन्दरीके वरणकी प्रथा प्रचलित थी ही। ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्राह्मण-दर्शनका प्रतीक है जो बौद्ध-धर्मके विरुद्ध फिर शक्ति-सचय कर रहा था। काव्य-मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इरावती राग-विरागसे पुष्ट प्रसादजीकी कला दृष्टिकी ओर ब्रह्मचारी उनके उस स्वस्थ जीवन-दर्शन का प्रतीक है, जो उपभोग और सयम का पूर्ण समन्वय-रूप है। प्रसाद का स्रष्टा कलाकार आत्माभिव्यजनके लिए ऐसे दो पात्रोंकी सृष्टि सर्वत्र करता रहा है। इन पात्रो को भी ऐतिहासिक ही मानना चाहिए क्योंकि इनका अस्तित्व चाहे तथ्य-परक न हो परन्तु तत्व-परक अवश्य है अर्थात् इनका यह विशेष नाम या रूप चाहे न रहा हो, परन्तु ये उस युग विशिष्ट प्रवृत्तियोंके प्रतीक हैं इसमें सन्देह नहीं-इनसे इतिहास जुटानेमें

कोई विशेष लाभ न होता हो, परन्तु युग का इतिहास जगानेके ये अमोघ साधन हैं। ये तथ्य-संकलनमें सहायक न होकर वातावरण तैयार करते हैं। और ऐतिहासिक कथाओंमें घटनाओं और नामोंकी अपेक्षा वातावरणका महत्व कहीं अधिक है। क्योंकि इतिहासकी आत्मा नामों और घटनाओंमें न रह कर वातावरणमें ही निहित रहती है। प्रसादजीकी ऐतिहासिक दृष्टि इस सत्यसे परिचित थी। उन्होंने शिक्षालयोंके लिए लिखे हुए इतिहासग्रन्थों पर निर्भर न रहकर काव्य, शास्त्र तथा पुरातत्व-सम्बन्धी अभिलेखोंके अध्ययन-मननकर प्राचीन भारतकी आत्मामें प्रवेशकर उसके संस्कार अपनी आत्मामें रमा लिये थे। उनकी रोमानी सृजनात्मक प्रतिभा और प्राचीन भारतकी आत्मामें इस प्रकार तादात्म्य स्थापित हो गया था। इसीलिए वातावरणकी सृष्टिमें उन्हें सहज दक्षता प्राप्त थी। प्राचीन युग की प्रवृत्तियोंका जीवंत वर्णन, प्राचीन नाम, उपाधियां, प्रथा-रीतियां प्राचीन वाङ्मय के पारिभाषिक शब्दोंसे सम्पन्न उनकी संस्कृत-निष्ठ भाषा सभीका इसमें विचित्र योग रहता था परन्तु यह यान्त्रिक क्रिया नहीं थी। इन तत्वोंके संयोजनमात्रसे युगका इतिहास जगाया नहीं जा सकता। इतिहासकी आत्मा को जगानेके लिए अपनी आत्मामें ही उसमें रचाना पड़ता है। प्रसादका ऐतिहासिक कलाका यही रहस्य था। इस दृष्टिसे इरावती उनकी और सभी कृतियोंसे भी अधिक सफल है। वास्तवमें इस अपूर्ण कथाका सबसे उज्ज्वल पक्ष यही है। शत-धनुष बृहस्पति मित्र, पुष्यमित्र, खारवेल, अग्निमित्र, इरावती, कालिन्दी, धनदत्त, मणिमाला, उत्पला आदि व्यक्तियोंके नाम, कलिंग, विदिशा, रोहि-ताश्व, राजगृह, सुन्दगिरि, कुक्कुटाराम आदि स्थानोंके नाम, उधर चंक्रम उपोसथागार, महास्थविर, श्रामणेरी संघाटी जैसी बौद्ध धर्म-सम्बन्धी शब्दा-वली तथा महामात्य, संधि विग्रहिक, महादण्डनायक, गुल्म सदृश राजनीतिके शब्द-प्राचीन हिन्दू भारतका वातावरण उपस्थित करनेमें अत्यंत उपयोगी सिद्ध होते हैं। और फिर प्रसाद अपने उन अंतः स्थित संस्कारोंकी प्रेरणासे रोमानी कल्पना द्वारा प्राचीन रीति-नीति, उत्सव आदिका इतना सटीक, अनुभूति प्रवण वर्णन करते हैं कि समस्त वातावरण जगमग हो उठता है।

देशकाल या वातावरणके अतिरिक्त उपन्यासके तीन प्रमुख तत्व और हैं कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण और उद्देश्य अथवा आधार-भूत जीवन दर्शन। अपूर्ण उपन्यासके इन तीनों तत्वोंके विषयमें कथितके आधारपर कथनीयका अनुमान भर लगाया जा सकता है। जहाँ तक कथावस्तुका सम्बन्ध है,

इरावतीमें प्रसादजीकी कलाके इस दुर्बलतम प्रेमने आश्चर्यजनक प्रगति की है। प्रसादकी कथा-वर्णन शैलीका उनके नाटकों, उपन्यासों तथा महाकाव्य सभी में यह प्रमुख दोष है कि दार्शनिक विश्लेषण और रम्य कल्पना-विलासके आवर्तोमें कथा उलझ कर गतिरुद्ध हो जाती है या ऋजु विकास-पथ छोड़कर इधर उधर फैल जाती है। इरावतीमें प्रसाद जीने आरम्भसे ही सयमसे काम लिया है और कथाके सूत्रों को कस कर हाथमें रखा है। इरावतीके १०८ पृष्ठोंमें वर्णित घटनाओंमें पूर्ण अन्विति है। मुख्य ऐतिहासिक कथाका सूत्र अभी बृहस्पति मित्रके हाथमें है, परन्तु धीरे धीरे पुष्यमित्रके हाथमें आता जा रहा है। दूसरी कथाका सूत्र कालिन्दीके हाथमें है और तीसरीका कदाचित् धनदत्त के। नायक और नायिका अग्निमित्र और इरावती अभी घटनाओंके भोक्ता रूपमें आगे उठ रहे हैं, नियंता और कर्ता दूसरे ही हैं। अभी तक इनके चरित्रकी रेखाओंमें उभार और रगोंमें भास्वरता नहीं आई है। इनकी अपेक्षा पुष्यमित्र, ब्रह्मचारी, कालिन्दी तथा अपने ढगसे धनदत्तके चित्रोंकी रेखाएं अधिक पुष्ट हैं, कालिन्दीका चित्र सबसे अधिक भास्वर है। उद्देश्यकी दृष्टिसे इरावतीमें बौद्ध और आर्य (शैव) दर्शनका सघर्ष और आर्य-दर्शन की श्रेष्ठताका प्रतिपादन है। प्रसादजीकी अपनी चिन्ताधारामें विवेक मूलक दुखवाद और प्रवृत्तिमूलक आनन्दवादका द्वन्द्व आरम्भसे लक्षित होता है। उनके आरम्भिक नाटकोंमें अजातशत्रु आदिमें बौद्ध-दर्शनकी विश्वकरुणा भावनाके साथ समझौता करनेकी थोड़ी-सी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, परन्तु कामायनी तक आते आते वे शैव-दर्शनके आनन्दवादको पूर्ण आग्रहके साथ स्वीकार कर लेते हैं। इरावतीमें यह आग्रह और भी स्पष्ट हो जाता है।

(१) इस बौद्धिक दम्भके अवसादको आर्य-जातिसे हटानेके लिए आनन्दकी प्रतिष्ठा करनी होगी।

(२) चारों ओर उजला उजला प्रकाश जैसा, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतन्त्र सत्ता अलग बनाकर लड़ते नहीं। विश्वका उज्ज्वल पक्ष अधकारकी भूमिकापर नृत्य करता-सा दीख पडे, सबको आलिंगन करके आत्माका आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे यह स्थिति क्या अच्छी नहीं ? + + + कहीं अशिव नहीं सर्वत्र शिव। सर्वत्र आनन्द।

यह वास्तवमें प्राचीन शैव दर्शनका नवीन प्रगतिशील चिंताधाराके अनुकूल स्वस्थ पुनराख्यान है। प्रसादजीके अनुसार इस युगकी अथवा

किसी भी युगकी जीवन-समस्याका यही समाधान है जो अपनी चिरंतनतामें आधुनिक और आधुनिकतामे चिरंतन है।

उपन्यासका पाठ समाप्त करते करते अनेक करुण जिज्ञासाएँ मनमे उद्‌बुद्ध होने लगती हैं—विलासी बृहस्पति मित्रका कैसा अंत हुआ? पुष्य मित्र और अग्निमित्रका क्या हुआ? इरावती और कालिन्दीकी जीवन नौका अतमें किस तटसे जाकर टकरायी? अग्निमित्र और इरावतीके असफल प्रेमका क्या परिणाम हुआ? इनमेंसे कुछ प्रश्नोका उत्तर तो इतिहास ही दे देता है। उदाहरणके लिए बृहस्पति मित्रका वध कर पुष्य मित्र सत्तारूढ हुआ। अग्निमित्रका जीवन भी वैयक्तिक आशा-निराशाओंसे उद्वेलित होता हुआ उत्कर्पके पथपर आगे बढा होगा—और इधर अनेक आवर्तोंको पारकर इरावतीने भी अग्निमित्रके विशाल वक्षपर विराम लिया होगा। किन्तु कालिन्दी?—उसकी प्रवृत्तिमें इतना वेग है कि अन्तमें कदाचित् आत्मघातमे ही उसका अंत हुआ हो। इस प्रकारकी अनेक करुण-मधुर कल्पनाएं मनमें जगती हैं और दिनकरकी ये पंक्तियॉ एक विश्वासके समान अनायास ही फिर निकल जाती हैं—गीत अगीत कौन सुदर है?



प्रसादका आनन्दवाद

❸

—डॉ० भोलाशङ्कर व्यास—

हिन्दी साहित्यमें महाकवि जयशङ्कर प्रसादका जीवन-दर्शन आनन्दवादके नामसे प्रसिद्ध है। प्रसाद की दार्शनिक (तत्त्वज्ञानसबधी), मनोवैज्ञानिक, सौंदर्यशास्त्रीय, अथच सामाजिक मान्यताएँ, इस शब्द के अतर्गत समाविष्ट हो जाती हैं। प्रसादकी आनदवादी धारणा इन समस्त मान्यताओंका अन्तः सूत्र है। यद्यपि प्रसादने अपनी तत्त्वज्ञानसबधी मान्यताओंको सामाजिक रूप देकर इस दार्शनिक दृष्टिकोणको व्यापक रूप दिया है, तथापि आनन्दवादी दर्शन, जैसा कि सभी जानते हैं, प्रसादकी स्वयकी उद्भावना नहीं है। यही कारण है 'प्रसादके आनन्दवाद' का तात्पर्य यह नहीं है, कि यह प्रसादका वैयक्तिक दर्शन है। पश्चिममें जिस तरहके अनेक वैयक्तिक दर्शन पल्लवित हुए हैं, तथा हो रहे हैं, ठीक उसी कोटिमें प्रसादके आनदवादी दर्शनको मानना भ्रान्ति होगी। भारतीय परपराके पोषक प्रसादने भारतीय परपराके मान्य दर्शनोंमेंसे ही एकको अपना जीवन-दर्शन बनाकर उसकी नई व्याख्या, नया, भाष्य, अपनी कृतियों-प्रधानतः कामायनीमें व्यञ्जित करनेकी चेष्टा की है।

यही कारण है प्रसादके आनन्दवादके अर्थ दूसरे ढगसे "शैव वेदान्त या प्रत्यभिज्ञा दर्शनका आनन्दवाद" होगा, जिसे प्रसादने बीज रूपसे अपनी आरभिक कृतियोंमें तथा विस्तारसे कामायनीमें पल्लवित किया है। कुछ लोग 'कामायनी' से इतर प्रसाद-साहित्यमें, विशेषत नाटकोंमें बौद्ध दार्शनिक विचारधाराका प्रभाव मानते हैं। इस विषयमें मै दो बातें कह देना आवश्यक समझता हूँ। प्रसादके नाटकोंका जीवन-दर्शन बौद्ध दर्शन नहीं है। यह दूसरी बात है कि बौद्ध पात्रोंके द्वारा उन्होंने बौद्धोंके दार्शनिक विचारोंको निःसन्देह उपन्यस्त किया है। साथ ही, प्रसादके 'नियति तथा 'क्षणिकता' (eternal flux) वाले सिद्धान्त, जिन्हें कुछ लोग भ्रान्तिसे प्रसाद-साहित्य पर बौद्ध दर्शनका प्रभाव मानते हैं, शैव दर्शनके भी सिद्धान्त हैं, एव प्रसादमें वे इसी रूपमें आते हैं। वैसे ऐतिहासिक दृष्टिसे ऐसा सभव हो सकता है कि शैवदर्शनने

नियति तथा क्षणिकता वाले सिद्धान्तोंको बौद्ध दर्शनसे ही लिया हो, पर यह तो निश्चित है कि प्रसादमें वे सीधे बौद्ध दर्शनसे नहीं आये हैं।

शैव दर्शन की नियति वाली धारणा बौद्धोंकी नियति वाली धारणासे स्वरूपमें भिन्न है। बौद्धोंकी नियति वह भाग्यचक्र है, जिसपर 'चेतन' का कोई अधिकार नहीं, वह उससे बच नहीं पाता, बोधिसत्त्व तक उसके फंदेमें रहता है। शैवोंकी नियति चेतनकी स्वयंकी इच्छा शक्तिका ही मायीय आभास है, तथा प्रत्यभिज्ञाके उदय होने पर स्वतः लुप्त हो जाती है। बौद्ध साधककी नियति बाहरी शक्ति है जिससे बचनेका चारा नहीं। शैवोंकी नियति चेतनकी ही शक्ति है। उसका कार्य तथा कारण-जाल वहीं तक है, जहाँ तक 'चेतन' अपने आपको नहीं पहचान लेता।

प्रसादके आनन्दवादी जीवन दर्शनकी पूर्णतम अभिव्यंजना कामायनीकी 'कथावस्तु' से प्राप्त होती है। कामायनीमें कविने मानव-जीवनके आदिम विकास, पुराणों तथा शतपथ ब्राह्मणकी मनु-कथा, तथा मानव-मन और जीवात्माकी मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक गतिको बड़े सुन्दर बने ताने बानेमें बुन दिया है। इसी ताने बानेमें एक ओर सामयिक सामाजिक समस्याओंका समायोग तथा दूसरी ओर जगह-जगह वर्ण्य विषयोंके बेलबूटोंकी योजना कर उसमें उपादेयता और रमणीयता दोनोंको संक्रान्त कर दिया है। काव्यके निजी सौंदर्यकी उपासनाके लिये इस अखण्ड रूपका परिशीलन ही श्रेयस्कर होगा। किन्तु प्रसादकी दार्शनिक मान्यता जाननेके लिए हम कामायनीके कथांशको छोड़ते हुए, केवल आवश्यक अंशको लेकर, उनके द्वारा अभिव्यंग्य आध्यात्मिक अर्थको ही ले सकते हैं। प्रसादकी इस दार्शनिक मान्यताके विविध कोणोंकी इतने छोटेसे निबंधमें, नाप जोख करना असंभव है, तथा यहाँ हमारा क्षेत्र उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण तक ही है, जो अन्य सभी दृष्टिकोणोंकी आधार-भित्ति रहा है। प्रसादके सौंदर्यशास्त्रीय तथा सामाजिक विचार इसी आध्यात्मिक दृष्टिकोणके 'सामरस्य' पर आधृत हैं; तथा जड़-चेतन, विषयी-विषय के सामरस्यकी भाँति प्रसादने कलाकृतिके प्रमाता तथा प्रमेय, एवं समाजकी विभिन्न अंगोंकी द्वैतता (अनेकता) में 'सामरस्य' स्थापित करनेकी चेष्टा की है। शैव दर्शनकी आनन्दवादी मान्यताको लेकर विश्वके रहस्यात्मक कार्य-कारणवाद, परमानन्दकी स्थिति, उसकी प्राप्तिके उपाय तथा मार्गके विषयमें प्रसादकी कामायनीमें जितना उपलब्ध होता है, उसीका विवेचन यहाँ अभीष्ट है। यही कारण है, शैव दर्शनके

सिद्धान्तोका यथासम्भव स्पष्टीकरण करते हुए यहाँ कामायनीका आनन्दवादी दर्शन मीमांसित किया जा रहा है।

शैव अद्वैत दर्शन (प्रत्यभिज्ञा)[1]—भारतीय दर्शनमें काश्मीर शैव वेदान्त कई नामसे प्रसिद्ध है। शैव द्वैत, त्रिक, प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा आनन्दवाद भी इसीके दूसरे नाम हैं। यह दर्शन षट् नास्तिक दर्शनोंकी तरह न तो वेद विरोध ही है, न षट् आस्तिक दर्शनोंकी तरह पूर्णतः वेदविहित ही। इसका कारण यह है कि यह दर्शन वैदिक न होते हुए भी, वेदोंका सम्मान करता है, तथा ऐतिहासिक दृष्टिसे वेदविहित निगम - मार्ग के पूरकके रूपमें ही उदित हुआ है। शैव तथा शाक्तोंका तान्त्रिक मार्ग तथा दर्शन 'आगम' परक है। यद्यपि कुछ विद्वानोंने इन्हें अवैदिक माना है, किन्तु उन्हें अवैदिक मानना भ्रान्तिजनित ही है।[2] वस्तुतः ये वैदिक मार्ग के ही पूरक हैं। वेदोंका अध्ययन तथा वैदिक क्रियाओंका विधान स्त्री शूद्रादिके लिए नहीं था। आगमोंने वेदोंकी इसी कमीको पूरा कर स्त्रीशूद्रादि के लिए शास्त्रीय विधान तथा मोक्षोपाय देनेकी योजना की। शैव दर्शनका उदय सर्वप्रथम साधना-परक तन्त्रोंके रूपमें पाया जाता है, जिनकी संख्या ६४ है। इन्हींका विकास शाक्त दर्शन तथा साधना एवं शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शनके रूपमें हुआ है। शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शनके उदयके पूर्व काश्मीरमें तन्त्रोंका प्रचार था, तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शनका तत्त्वज्ञान पूर्णतः तन्त्रोंके तत्त्वज्ञान का ऋणी है। तन्त्रोंके तत्त्वज्ञान (Metaphysics) को शैवों तथा शाक्तोंने समान रूपसे अपनाया है, तथा ३६ तत्त्वोंकी कार्यकारणवाद सम्बन्धिनी कल्पना इन सभीको मान्य है। उपासना तथा साधना पद्धतिमें बाहरी दृष्टिसे भेद होते हुए भी अन्तःसाम्य है। यह दूसरी बात है कि कुछ साधक शक्तिको कुण्डलिनी मानकर चलते हैं; तो कुछ वर्णमाला मानकर, तो तीसरे त्रिपुरसुन्दरी, और चौथे 'इदम्'के रूपमें व्यक्त बाह्य जगत्।

१—शैव दर्शन शब्द बड़ा व्यापक है। इसके अंतर्गत कई शैव दार्शनिक सरणियाँ आ जाती हैं। किन्तु यहाँ इस शब्दसे हमारा तात्पर्य काश्मीर शैव (अद्वैत) वेदान्त या प्रत्यभिज्ञा दर्शन से है।

२ देखिये Woodroffe : Shakti and Shakta Ch. II. p. 10—29 (इस परिच्छेदमें विद्वान् लेखकने आगमोंको अवैदिक माननेवाले मतका विस्तारसे खण्डन किया है।)

इसी तरह शिव तत्त्व या शक्ति तत्त्वपर विशेष जोर देनेसे भी इनमें उपासनात्मक भेद देखा जाता है। शैव तथा शाक्त दोनों ही अद्वैतवादी हैं;[१] वैसे इनका अद्वैतवाद कुछ कुछ भेदाभेदवादी है। ये दोनों ही परम तत्त्वको शिव (चेतन) तथा शक्ति (जड़) का सश्लिष्ट रूप मानते हैं। अर्धनारीश्वरकी कल्पनाका यही रहस्य है। इस तत्त्वको वे 'परमेश्वर' 'पारसंवित्' 'अनुत्तर' आदि नामोंसे अभिहित करते हैं। इस परम तत्त्वमें एक ओर चेतनका गुण, स्वतः प्रकाशशीलता तथा दूसरी ओर जड़का गुण ज्ञानविषयितारूप विमर्श पाया जाता है। प्रकाश शिवांश है, विमर्श शक्त्यंश।[२]। प्रकाश तथा विमर्शके भावोंको हम आगे स्पष्ट करेंगे। परम तत्त्वकी स्वतन्त्रा इच्छाके कारण यह शक्त्यंश प्रकट होकर अनेक नामरूपात्मक जगत्‌के रूपमें आभासित होता है। इस प्रकार परम तत्त्वसे ही सर्वप्रथम शिव तथा शक्ति तथा तदनतर ३४ तत्त्वोंका आभास उदित होता है। सृष्टिका निमित्त तथा उपादान कारण एकमात्र शिवतत्त्व है तथा बाह्य विश्व परम शिवमें अंतःस्थित शक्त्यंशका आभास है। इदम् रूप विश्वको शक्त्यंश समझकर अपने आत्मको इसका कारण समझ लेना ही वास्तविक ज्ञान है। यह धारणा शैवों तथा शाक्तोंमें समान रूपसे पाई जाती है। साधनाकी दृष्टिसे शैवो तथा शाक्तोंमें प्रमुख भेद यह है कि शैव शिवतत्त्वको प्रधान मानते हैं, तथा शाक्त शक्ति तत्त्वको; जिसके बिना शिवतत्त्व निःश्चेष्ट तथा निष्क्रिय 'शव' है।[३] परम शिवत्वकी प्राप्तिमें क्या शैव और क्या शाक्त दोनों समान रूपसे मातृरूपिणी शक्तिकी महत्ता स्वीकार करते हैं।

शैव अद्वैत वेदान्तके सिद्धान्त न कोरे यथार्थवादी ही हैं, न कोरे आदर्शवादी ही। शैव तत्त्वज्ञान इन दोनों मार्गोंका सुन्दर समन्वय कर एक नये विधिवादी दर्शनको जन्म देता है, जिसे हम 'पोजिटिविस्ट व्यू आव्

---

१. यहाँ यह संकेत कर देना होगा कि दाक्षिणात्य शैवों तथा वीर शैवों का दर्शन कुछ भिन्न प्रकारका है, तथा वुड्रोफने उसे विशिष्टाद्वैतके विशेष नजदीक माना है।

२. Mm. G. N. Kaviraja . Sakta philosophy (Hist. of Philosophy Eastern and Western vol I) p. 407.

३. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।।—सौन्दर्यलहरी १.

फिलोसफी' कह सकते हैं यही कारण है विद्वानोंने शैव दर्शनको "वस्तुवादी आदर्शवाद" (Realistic idealism) कहा है।[1] विधिवादी दार्शनिक ससारके रहस्यात्मक कार्यकारणवादमें, तथा ज्ञान-प्रक्रियामें चेतन तथा जड़, विषयी तथा विषय, दोनों तत्त्वोंको समान महत्त्व देता जान पड़ता है। दर्शनका यथार्थवादी दृष्टिकोण जड़ तत्त्वको ही महत्ता देता है, तथा चेतनकी महत्ताको या तो गौण समझता है, या निषेध करता है। साख्य तथा न्याय चेतनको गौण स्थान देते हैं, चार्वाक उसका निषेध करता है। आदर्शवादी दार्शनिक चेतनको ही सब कुछ मानता है, तथा जड़ तत्त्वकी वास्तविकताका निषेध करता है। उसके लिए जड़ तत्त्व या तो चेतनाकी 'ज्ञानतति' मात्र है, या भ्राति या माया। पश्चिमी दर्शनके आदर्शवादी सिद्धान्तोंमे विशप बकलेका मत बड़ा प्रसिद्ध है, जो जड़ जगत्‌की वस्तुस्थितिका निषेध कर उसे 'विचार-तति' मानते हैं। योगाचर बौद्धके लिए भी जड़ जगत् कुछ नहीं, विचारो (मति) का विवर्त है (मतय स्तासा विवर्तोऽखिल:)। शकराचार्यका ब्रह्मविवर्तवाद, जो वस्तुतः माध्यमिक बौद्धोके शून्यविवर्तवादी मतसे प्रभावित हुआ है, आदर्शवादी दर्शन ही कहा जायगा। शकर जड़ जगत्‌को व्यवहारिक दृष्टिसे कुछ भी मानते हों, परमार्थिक दृष्टिसे भ्रम तथा माया जनित ही मानते हैं। शकरका परम तत्त्व केवल चेतन है, शैवोंकी तरह चेतन तथा जड़का सश्लिष्ट अद्वय तत्त्व नहीं। यही कारण है, वहाँ 'प्रकाश' की तो स्थिति है, पर 'विमर्श' (शक्त्यश) का अभाव है।[2] शैव-शाक्तोंका परम तत्त्व दोनो तत्त्वोंका जुड़वाँ रूप है। यही कारण है शैव जड़ जगत्‌को मिथ्या, या भ्रात नहीं मानते, अपितु इसे परमार्थिक दृष्टिसे भी महत्त्व देते हैं, क्योंकि वह शक्तिका विग्रह है, तथा 'शम्भुका दृश्यमान शरीर' (शरीरं त्व शम्भो.) है। इस तरह विधिवादी शैव दार्शनिक मध्यम मार्गकी स्थापना करता हुआ विषय-विषयी सबध, या प्रमातृ-प्रमेय-तत्त्वको प्रधानता देता है। आदर्शवादीकी तरह परमतत्त्वको

---

१. Dr Pandey · Kasmira Saivism (Hist. of Philo. Eastern nd Western vol I) p. 386.

२. Woodroffe : Shakti and Shakta. p. 55.

इंद्रियग्राह्य न मानते हुए तथा महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए भी, शैव बाह्य विश्वकी सत्ताकी वास्तविकता मानकर चलता है।[१]

शैव कार्य-कारणवादः—शैव अद्वैत वेदान्त जगत्का निमित्त कारण या उपादान कारण दोनों परम शिव तत्त्वको ही मानता है, जो और कुछ नहीं स्वयं आत्मा ही है। परम शिव तत्त्व ही अपनी "स्वतन्त्रा इच्छा" शक्तिके कारण जड़ जगत्के रूपमें आभासित होता है। मकड़ीकी तरह वह इस जगत्-जालका निमित्त कारण भी है, उपादान कारण भी। जगत्की निर्मिति और कुछ नहीं शिवके अंदर स्थित शक्तिका ही "स्पंदन" है, जिसका उन्मेष, प्रसरण तथा निमेष (सृष्टि, स्थिति तथा संहार), ये तीन दशाएँ पाई जाती है। शैवोंका परम तत्त्व नैयायिकोंके ईश्वरकी तरह कोरा निमित्त कारण नहीं है। "एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन" के द्वारा प्रसादने इसी शैव कार्य-कारण वादका संकेत किया है। नैयायिक, साख्य आदि दार्शनिक वस्तु जगत्का उपादान कारण जड़ अणु या जड़ प्रकृतिको मानते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्यने विमर्शिनीमें इस मतका खण्डन किया है। वे बताते हैं कि बीजके अंकुर बननेमें उसका कारण बीज, खाद, पानी या मिट्टी न होकर चेतन आत्मा ही है, जो तत्तत् जड़ तत्त्वके रूपमें उसको परिपुष्ट कर स्वयं ही अंकुरके रूपमें आभासित होता है।[२] इसे ही कारिकाकार उत्पलदेवने अन्यत्र यों भी स्पष्ट किया है कि जगत्की सृष्टिमें प्रमुख कारण परम शिवकी "स्वतन्त्रा इच्छा" ही है। जैसे कोई योगी अपनी इच्छासे जड़तत्त्वके उपादानके बिना ही मानसी सृष्टि कर सकता है, वैसे ही चेतन आत्मा (परमशिव) इच्छाके द्वारा (लीलाके लिए) इस विश्वकी रचना करता है।[3] पर विश्व रचना शंकराचार्य

---

१. Dr. Pandey : Abhinavagupta : A Historical and Philosophical Study. ch. II. p. 196.

(साथ ही) Dr. Pandey : Indian Aesthetics vol. I. p. 75.

२—ततश्चेश्वर एव बीजभूमिजलाभाससाहित्येनाङ्कुरात्मना भासते ॥

ई० प्र० वि० २-४-८ (भाग २, पृ० १४६)

३—योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशाद् बहिः ।

घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम् (ई० प्र० का० २४-१०)

(साथ ही) चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ (ई० प्र० का० १-५-७)

के सिद्धान्तकी भाँति (पारमार्थिक दृष्टिसे) भ्रात या मिथ्या नहीं मानी जा सकती, बाह्य पदार्थ और कुछ नहीं, चेतनमें अन्तःस्थित अन्तराभासका ही बहिराभास जो है। मान लीजिये, कोई कुम्हार घड़ा बनाता है, तो घड़ा पहले ही कुम्भकारके हृदयमें संस्कार (वासना) के रूपमें स्थित रहता है, वह कुम्भकारकी सवित् (चेतना) से एकाकार रहता है। यही अन्तःकरणस्थित घट (घटका अन्तराभास) जब कुम्हारकी इच्छाके कारण बाह्य रूपमें आभासित होता है, तो घटकी स्थूल रचना होती है। इस प्रकार बाह्यका (स्थूल) घड़ा, कुम्हारके आतरिक तत्त्वका ही आभास है, तथा इसका उपादान कारण भी कुम्हारकी सवित् ही है, मृत्तिका नहीं। मानसके अदर स्थित सवित् ही स्पन्दित होकर भेदाभेदरूप विश्वके रूपमें आभासित होती है तथा अन्तःकरण तथा वहिष्करण—मानस साक्षात्कार तथा ऐंद्रिय साक्षात्कार—का विषय बनती है। आतरिक सवित् तत्त्वके इसी अन्तःकरणाभास तथा बाह्यकरणाभास को शैव दार्शनिक कार्यकारणता कहता है।[1] भाव यह है बाहर विश्वमें कोई भी विलक्षण पदार्थ नहीं है, वह सब पहले ही हमारी सवित्में विद्यमान है, और इसीलिए बाहर इद्रियज्ञानका प्रमेय बनता है।

(आभासवाद) :--जिस प्रकार साख्यमें कार्यकारणवादी सिद्धान्त-सरणि 'परिणामवाद' कहलाती है, नैयायिकोंकी 'असत्कार्यवाद' तथा शाकर वेदान्तकी 'विवर्तवाद' उसी तरह शैव अद्वैत वेदान्तकी मान्यता 'आभासवाद' कहलाती है। यह आभासवादका सिद्धान्त केवल जगत्की रचनामें ही लागू न होकर, वैयक्तिक ज्ञानानुभवमें भी काम करता है। ससारमें जिस जिस वस्तुका हमें ज्ञान होता है, वह कुछ नहीं हमारे अन्तर्ज्ञानका ही बहिराभास है तथा यह ज्ञान हमारी सवित्में स्थित सस्कार या 'वासना' के ही कारण होता है। इस प्रकार जड़ तत्त्वके रूपमें आभासित विषय, विषयी-चेतन मनके ही अदर स्थित रहता है तथा कार्यकारणता और कुछ नहीं, विषयी तथा विषयका सबध (subject-object-relation), मात्र है।[2]

---

१ कुम्भकारहृदये अन्तर्मनोगोचरत्वात् पूर्वमपि स्वसविदेकात्मतया विचित्रत्वेन विश्वस्य भेदाभेदात्मना परिवर्तमानस्य स्पन्दनेन स्फुरतः यत् अन्तःकरणबहिष्करणद्वयवेद्यत्व माभास्यते, एषैव सा कार्यकारणता।

—ई० प्र० वि० भाग २. (२ ४. ४) पृ० १४०.

२ कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः॥

—तन्त्रालोक २४ (डॉ० पाण्डेय द्वारा उद्धृत)

इस प्रकार 'वासना' लौकिक ज्ञानके क्षेत्रमें पूर्वानुभवका संस्कार है। प्रसादने 'वासना' के इस दार्शनिक रूपका विस्तारसे दो स्थानोपर (कामायनीमें) वर्णन किया है। पहले सर्गमें मनुके पूर्वानुभूत विलासका तथा प्रलयागमनका 'वासनात्मक' वर्णन हुआ है। पाँचवा सर्ग जिसका शीर्षक ही 'वासना' है इसके दुहरे रूपको लेकर आता है तथा दार्शनिक दृष्टिसे अत्यधिक महत्त्वका सर्ग है। वैसे कलात्मक इतिवृत्तकी दृष्टिसे इस सर्गमें श्रद्धाके समर्पण तथा काव्यके नायक नायिकाओंके रति-विलासका वर्णन है, पर दार्शनिक दृष्टिसे एक ओर इसमे मनुके पुराने अनुभवकी 'वासना' उभारी गई है, जो श्रद्धाके प्रत्यभिज्ञानका कारण है, (वही छवि, हाँ वही जैसे! किंतु क्या यह भूल; रही विस्मृति सिंधुमें स्मृति नाव विकल अकूल ॥) तो दूसरी ओर दर्शन, रहस्य तथा आनन्द सर्गके आध्यात्मिक प्रत्यभिज्ञानके लिए 'वासना' रूप बीजको निक्षिप्त किया गया है। ध्यान देनेकी बात यह है कि इस सर्गमें श्रद्धा का किंचित् प्रत्यभिज्ञान कर लेनेपर भी मनु कर्म सर्गसे लेकर निर्वेद तक संघर्षमें डूबता-उतराता रहता है। इस अज्ञानका कारण माया या अपोहन शक्ति है, जिसे प्रसादने 'लज्जा' का काल्पनिक रूप दे दिया है, जो श्रद्धाके परा शक्तित्वको छिपाकर, मनुके सामने उसे रमणीके रूपमें—केवल प्रमेयके द्वैत रूपमें--रखकर प्रमातृ—प्रमेय–द्वैतताकी सृष्टि करती है, जिसका पल्लवन 'ईर्ष्या' सर्गमें किया गया है।

जड़-चेतन रूप अखण्ड अद्वय परम शिव तत्त्व, निराभास स्थितिमें किसी भी इच्छासे युक्त नहीं रहता। वह परम स्वतन्त्र होकर अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित स्वानुभव रूप विमर्शका आनन्दानुभव करता है। प्रकाश चेतनका गुण है। हम देखते हैं, हम कुर्सी, पुस्तक आदिको ज्ञानका विषय बनाते हैं, जब कि कुर्सी हमें ज्ञानका विषय नहीं बना पाती। इसका कारण है हमारी आत्माका प्रकाश नामक गुण। प्रकाश गुणको स्पष्ट करनेके लिए 'स्फटिकमणि' का उदाहरण दिया जाता है। स्फटिकमणि स्वतः प्रकाशित है, उसे किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होती। पर स्फटिकमणिमें विमर्श शक्ति नहीं है, वह अपने या दूसरेके स्वरूपका अनुभव नहीं करपाती, जब कि आत्मा अपने स्वरूपका 'सोऽहम्' रूप प्रत्यवमर्श करती है, स्वयं अपने ही प्रमेयका प्रमाता बन पाती है। प्रसादने 'आनंद सर्ग' मे एक स्थानपर शैव दार्शनिकोंके इस प्रसिद्ध 'स्फटिकमणि' वाले उदाहरणको लेकर परम तत्त्वके 'प्रकाशांश' की व्यञ्जना

कराई है। (हिमखंड रश्मिमंडित हो मणिदीप-प्रकाश दिखाता।) ध्
दीजिये 'मणिदीप' से प्रसादका तात्पर्य 'स्फटिक' से तथा 'प्रकाश' से प
तत्त्वके 'प्रकाश' गुणसे है। यहीं प्रसादने परम तत्त्वके विमर्श गुणकी व्यञ
कराते हुए जड़ हिमालयका चेतनरूप वर्णित किया है, और इस तरह अप
कल्पनासे जड़ हिमालयके 'मणिदीप' को परम शिवत्व देकर प्रकाश त
विमर्शसे समन्वित कर दिया है। निम्न पद्य तथा इसके पहलेके पद्यमें ि
तत्वकी विमर्शद्रूपता (प्रमातृत्व) का संकेत है:—

> वह चन्द्र किरीट रजत नग, स्पंदित-सा पुरुष पुरातन।
> देखता मानसी गौरी लहरोंका कोमल नर्तन ॥ (आनंद सर्ग)

यहीं 'मानसी गौरी' के नर्तनको देखनेके द्वारा परम शिवकी स्वयविमृश
पताका संकेत किया है, और प्रमाता तथा प्रमेयकी अद्वयता व्यंजित की ि
जड़ हिमालयको परम शिव रूपके चित्रित करनेमें जड़ तत्त्व चेतनका
आभास है, यह सिद्धान्त ही कारण है।

परम शिव तत्त्वकी "स्वतन्त्रा इच्छा" के ही कारण उसमें अखण्ड रू
स्थित शिवतत्त्व (चेतन) तथा शक्तितत्त्व अलग अलग होते हैं तथा आभा
की पहली स्थिति आरंभ होती है। इन्हीं दो तत्त्वोंके तत्तत् आभास-र
उन्मेष, प्रसरण तथा निमेष रूप स्थितिसे विश्वप्रपंच उदित होता है
उन्मेष दशामें ही परम शिव या "अनुत्तर" तत्त्व ३६ तत्त्वोंके रूपमें आभा
होने लगता है। सर्वप्रथम स्वतन्त्रा इच्छा शक्तिके कारण यह (१) शि
तथा (२) शक्ति के रूपमें विभक्त होता है। ये दोनों तत्त्व ही शिव-श
के अन्य आभासों (३) सदाशिव तत्त्व तथा (४) महेश्वर तत्त्वके रू
आभासित होते हैं। ये दोनो तत्त्व वस्तुतः अहम्-इदम्‌के सश्लिष्ट तत्त्व
तथा योग-साधनाकी शब्दावलीमें क्रमशः पश्यन्ती तथा मध्यमा रूप म
जाते हैं। नंबर १ तथा २ वाला शिव-शक्ति तत्त्व पश्यन्तीसे भी परे रहनेव
'परा' स्थिति माना जाता है।

---

१. निराभासात्पूर्णादहमितिपुरा भासयति यद् द्विशाखा माशास्ते त
च विभक्तु निजकलाम्।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुष स्तदद्वैत वन्दे परमशिवशक्त्य
निखिलम् ॥ —ई० प्र० वि० १

महेश्वर तत्वसे (५) सद्विद्याका उदय होता है। यह तत्व 'शुद्ध विद्या' भी कहलाता है तथा चेतन एवं ग्राह्य पदार्थमें 'मै यह हूँ' इस प्रकारकी अभेदप्रतिपत्ति करानेकी कुंजी है। सद्विद्याके उदयपर ही साधक इस समस्त विश्वको अपना 'विभव' समझकर पूर्ण प्रत्यभिज्ञान करने बढता है। शिवसे सद्विद्यातकके, ये ५ तत्व 'शुद्ध शिव तत्व' कहलाते हैं, क्योंकि इनमें अज्ञानका लेश नहीं होता।

सद्विद्याके बाद उदित शक्ति तत्व 'माया' है। (६) माया शक्ति पूर्ण चेतनके स्वरूपको छिपाकर उसमें अपूर्णता, अज्ञताका आभास उत्पन्न करती है। माया शक्ति इस कार्यमें पाँच कंचुकोंसे सहायता लेती है, जो क्रमशः (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०) काल, तथा (११) नियति तत्त्व हैं। इन कचुकोंके कारण चेतन तत्वका पूर्ण स्वातन्त्र्य कुछ तिरोहित तथा कुछ स्फुट जैसी बीचकी दशामें रहता है। यही कारण है इन्हें शुद्धाशुद्ध तत्व कहा जाता है। कला तत्वके कारग चेतन तत्तत् योनिमें अपने स्वरूपको व्यक्त करता है (योनिवन्धः कलाशरीरम्—शिवसूत्र. १.२)। कला ही चेतन तत्व (पुरुप) के मायीय, आणव तथा कार्यमलोंको जन्म देती है। विद्या, राग, काल तथा नियति तत्व इसी कला तत्वके अवातर आभास हैं। इन्हीं शुद्धाशुद्ध तत्वोंके कारण पुरुपकी इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्ति संकुचित तथा सीमित हो जाती है। बारहवाँ तत्व (१२) पुरुप है। पुरुप माया तथा पंचकंचुकोंसे परिच्छिन्न चेतन जीवात्माको पारिभापिक संज्ञा है। स्वतन्त्र इच्छा शक्तिकी दृष्टिसे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता होनेपर भी अपने स्वरूपको भूलनेके कारण माया शक्ति (जो उसीकी शक्ति है) से अल्पज्ञ, अल्पकर्ता बना दिया जाता है।

इन दो कोटियोंके अतिरिक्त अन्य २४ तत्व पूर्णतः अज्ञान तथा जड़ कोटिके हैं और प्रत्यभिज्ञादर्शनमें इन्हें 'आत्म-तत्व' कहा जाता है। ये २४ तत्व सांख्यके प्रकृतिसे लेकर पृथ्वीतकके तत्वोंकी ही तालिका है:— (१३) प्रकृति (१४) अहंकार (१५) बुद्धि (१६) मन, (१७–२१) पंचज्ञानेंद्रिय, (२२–२६) पंचकर्मेन्द्रिय, (२७–३१) पंच तन्मात्रा, (३२–३६) पंचतत्व।

कामायनीमें प्रसादने इन तत्वोंके स्पन्दनका यत्र तत्र संकेत किया है। पर कामायनी काव्य है, दर्शनका ग्रन्थ नहीं। अतः शैव कार्यकारणवादी क्रमका पूरा वर्णन करना अभीष्ट नहीं था। वैसे यत्रतत्र शैव कार्यकारणवादी

सिद्धान्त अभिव्यजित किये गये हैं तथा कहीं कहीं काव्यमें शैव तत्वोंकी कतिपय पारिभाषिक सज्ञाओंका भी सकेत मिलता है। कामायनी महाकाव्यमें ऐसे अनेक स्थल हैं जो शैव कार्यकारणवादी सिद्धान्तके व्यजक हैं, तथा उनपर छोटेसे निबधमें प्रकाश डालना सभव नहीं। यहाँ दो तीन स्थलोंका सकेत कर देना पर्याप्त होगा।

दार्शनिक दृष्टिसे कामायनीकी कथा जीवात्माकी कथा है, तथा मायीय एव आवरण मलसे युक्त जीवात्मासे आरभ होती है। मनु पुराने कर्मोंका सस्कार लेकर हमारे सामने आते हैं, किंतु इस जन्मके कार्यमल अभी उदित नहीं हुए हैं। इस जन्मके कार्यमल 'कर्म' सर्गसे उदित होते हैं तथा उसके जीवनके भावी दुःखपाशके कारण बनते हैं। प्रथम सर्गका मनु दार्शनिक दृष्टिसे खण्डप्रलयके बादकी जीवात्माकी स्थिति है। तान्त्रिक तथा शैव दो तरहके प्रलय मानते हैं:—महाप्रलय, तथा खण्डप्रलय। महाप्रलयमें जीवात्मा स्वतः परिपूर्ण चेतन बन जाती है, किंतु खण्डप्रलयमें जीवका आणवमल (जो मायीय ज्ञान शक्तिका परिणाम है) नष्ट नहीं होता। यही कारण है मनु पुराने जन्म (या अतीत काल) के आणव सस्कारोंको लेकर हमारे सामने आता है। वह अज्ञ है, अपने लक्ष्य को जानना चाहता है, पर नहीं जान पाता। 'चिन्ता' सर्गमें मनुकी इसी 'पुरुष' दशाका चित्रण है। इस सर्गमें तेरहवाँ तत्त्व-प्रकृति-अव्यक्त रहता है तथा उसकी व्यक्ति द्वितीय (आशा) सर्गके आरभमें बताई गई है। प्रसादने स्वय ही इस दार्शनिक तथ्यका सकेत करनेके लिए, मनुका आरभिक परिचय—"एक पुरुष भीगे नयनोंसे, देख रहा था प्रलय प्रवाह" के द्वारा दिया है, तो आशा सर्गमें जड़ प्रकृतिके वर्णनमें ('नेत्र निमीलन करती मानों, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने") दार्शनिक व्यजना भी कराई है। इन्हीं दोनों सर्गोंमें उन पच कञ्चुकों का रूप भी मिलता है, जो मनुके भावी सघर्ष को तीव्रतम बनाते रहते हैं। चिंता सर्गका प्रसिद्ध पद्य "बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता तेरे हैं कितने नाम" मायीय विद्या कचुकका सकेत जान पड़ता है। आशा सर्गमें पुरुष (मनु) की यह इच्छा कि मुझे कुछ मिले, मैंने किसी चीजको खो दिया है, पर वह है क्या यह न भी नहीं जानता, राग कचुकका जाल है। राग कचुकका परिचय शैव दर्शनमें इस प्रकार बताया गया है कि इसके कारण चेतन "किंचिन्मे स्यात्" इस अस्पष्ट, अनिर्दिष्ट इच्छा का शिकार बनता है। आशा सर्गमें कुछ नहीं,

राग कंचुक का ही वर्णन है। आशा सर्गका आरम्भिक काल्पनिक उषा वर्णन भी इसकी पुष्टि करता है। रागका पूर्ण संकेत इन पंक्तियों में है:—

मैं भी भूल गया हूँ कुछ, हाँ स्मरण नहीं होता क्या था।
प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या मन जिसमें सुख सोता था॥ (आशा)

प्रसादके मतानुसार विश्वका समस्त जड़ तत्त्व, अथवा विषय रूप 'इदम्' आत्मतत्त्व 'की इच्छासे ही जनित है। शैवदर्शन विश्वको दुःखमय नहीं मानता, किन्तु आनद, मगल तथा परमपदका स्वरूप समझता है। यही कारण है, वह विश्वसे पलायन न कर, इसकी 'भुक्ति'के द्वारा ही 'मुक्ति' प्राप्त करता है। विश्वसे डरे हुये मनुको श्रद्धा इसीलिए झिड़कती हुई कह रही है:—

काम मंगलसे मडित श्रेय सर्ग, इच्छाका है परिणाम।
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बताते हो असफल भवधाम॥ (श्रद्धा)

शैव दार्शनिक इस विश्वको शंकरकी भाँति भ्रम न मानकर सत्य मानते हैं, कहीं-कहीं शैव दार्शनिकोंने इसे रंगमच माना है, आत्माको नर्तक। इंद्रियाँ प्रेक्षक हैं, जो आत्माके नृत्यको देखकर आनन्दका अनुभव करती हैं।[1]

शैवोंका आनंदवाद:—शैव दार्शनिकोंने मोक्षकी स्थिति न तो नैयायिकोंकी तरह 'शिलावत्' (जड़वत्) मानी है, न शंकर वेदान्तकी तरह कोरी चिन्मय ही। शैव दार्शनिकका विधिवादी (पोजिटिविस्ट) दृष्टि-कोण यहाँ भी दिखाई देता है। यही कारण है, मुक्त दशामें, शैवदर्शन प्रकाश तथा विमर्श-दोनोंकी स्थिति मानता है। आत्माके पचकंचुकों तथा माया-जालके हट जानेपर 'सोऽहम्' प्रत्यवमर्शयुक्त शिवत्व प्राप्ति ही मुक्ति मानी जाती है तथा इसे ही 'आनन्द' की पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। यह मुक्ति देहादिके उत्सर्गके बाद ही नहीं प्राप्त होती, इसी जीवनमें भी साधक देहादि जड जगत्मे चिदेकत्वका भान कर जीवनमुक्त हो सकता है।[2] इस दशामें साधक परमानन्द प्राप्त करता है। यह आनंदप्राप्ति संवित् (चेतनतत्त्व) के विकासके कारण होती है। इसी बातको प्रत्यभिज्ञा हृदयमें बताया गया है कि जब ब्रह्मरन्ध्रसे लेकर नीचे तक मध्यनाड़ीके रूपमें स्थित

---

१. शिवसूत्र ३, ९, १०, ११

२. चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदेकात्मप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः —प्रत्यभिज्ञहृदय सू० १६.

सवित् भगवती विकसित होती है, तो उसके विकाससे अनंद प्राप्ति होती है।[1] यहाँ संकेत कर देना होगा कि 'आनन्द' की धारणा 'सुख' से भिन्न है, वस्तुतः वह सुख दुःखसे परे की भावना है। इसी 'आनन्द' को शैव-दार्शनिक समापत्ति, लय, विश्रान्ति, निर्वेश, चमत्कार आदि नामोंसे पुकारते हैं। ध्यान देनेकी बात यह है कि 'अभिनवभारती' में काव्यानद रूप रसका विवेचन करते समय भी अभिनवगुप्तने इन्हीं शैव परिभाषिक शब्दोंका प्रयोग किया है।[2]

वसुगुप्तने मोक्ष प्राप्तिके तीन साधन माने हैं:—१ आणवमार्ग, २ शाक्तमार्ग, ३ शैवमार्ग। क्रमशः हठयोग, मन्त्रयोग तथा राजयोगके मार्ग हैं। प्रथम मार्गमें प्राणायामादि क्रियाके द्वारा हठयोग कर कुण्डलिनी-को सहस्रार पद्म तक ले जा कर चिदानदका अनुभव किया जाता है। शाक्तमार्गमें क से लेकर क्ष तककी वर्णमातृकाको शक्ति मानकर मन्त्र-सिद्धि कर खेचरी, दिक्चरी आदि सिद्धियाँ पाते हुए आनदकी ओर बढा जाता है। शैवमार्गका साधक इच्छा शक्तिको विकसित करता है, तथा इच्छा (will power) के द्वारा परमानन्द प्राप्ति करता है। वसु गुप्तके ये तीनों मार्ग क्रमशः ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा के मार्ग हैं। सोमानंदने इन तीनों मार्गोंसे विलक्षण मोक्ष मार्ग की अवतारणा की है। यही तुरीय मार्ग 'प्रत्यभिज्ञा कहलाता है, तथा इसे 'अनुपाय मार्ग' भी कहा जाता है। इसके अनुसार हठयोगादिके फेरमें न पड़कर सच्चे ढगसे सारे विश्वको अपना विभव समझ लेना ही प्रत्यभिज्ञा है। जगत्में सब कुछ मैं ही हूँ, मेरी ही शक्तिका प्रसार है, मेरा ही विभव है, यह समझ लेना ही 'आनन्द' है। शोपेनहावरने भी विश्वको अपनी ही इच्छाका आभास (विभव) माना है— "दी वेल्त इस्त मीने वोर्स्तेलूग"। प्रत्यभिज्ञावाली कल्पना सोमानन्दकी है,

---

१. यदा तु उक्तयुक्तिक्रमेण सर्वान्तरतमत्वे मध्यभूता सविद्भगवती विकसति, यदिवा वक्ष्यमाणक्रमेण मध्यभूता ब्रह्मनाड़ी विकसति, तदा 'तद्विकासात् चिदानदस्य' उक्तरूपस्य 'लाभः' प्राप्तिर्भवति।
—वही, १७ वें सूत्रकी व्याख्या पृ० ३६.

२. अभिनवभारती भाग १ पृ० २८१ (बड़ौदा सस्करण)

तथा उसका पल्लवन उनके शिष्य उत्पलराजने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' में किया है।[1]

शक्तिपातः—प्रत्यभिज्ञावाले मार्गके अनुसार साधक इसी जीवनके व्यावहारिक रूपमें अपने स्वरूपको पहचान सकता है। आत्माका स्वरूप ही परम शिव तत्त्व है, किंतु वह मायीय आवरणसे ढँका रहता है। मायीय आवरणको हटानेके लिए 'शक्तिपात'की आवश्यकता होती है। यह शक्तिपात गुरूपदेशसे होता है। गुरु ही साधक शिष्यको स्व-रूपका परिचय कराता है, स्व-रूपका परिचय पाकर साधक उसके द्वैतत्व (प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-भेद) को हटानेकी ओर अग्रसर होता है, इसकी निवृत्तिपर ही परमानंद प्राप्ति होती है। उत्पलराजने इस आनन्दकी प्राप्तिके विषयमें तथा चेतन (जीवात्मा) स्वरूपको किस तरह भुलाये हैं, इसे एक सुंदर लौकिक दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किया है। जीवात्मा एक प्रियाकी तरह है, जो बड़े प्रयत्नोंसे बुलाये गये नायकके समीपस्थ होनेपर भी उसे भू जाती है। जब कोई उसे याद दिलाता है, तब उसे अपूर्व आनन्द होता है।" प्रियाने प्रियको कई प्रयत्न (दूतीसम्प्रेषणादि) करके बुलानेकी चेष्टा की है, जब प्रिय आ गया है तो वह रमण करना इसलिए भूल गई है कि प्रियको वह और लोगोंकी तरह ही समझ लेती है, 'यह मेरा प्रिय है' यह नहीं जान पाती। ठीक इसी तरह आत्मा स्वं परमेश्वर है, तथा समस्त संसार उसीका विभव है एवं वह परमशक्तिशाली है "इस बातको वह भूली है। आत्माको स्वरूपका परिचय कराना ही प्रत्यभिज्ञाका लक्ष्य है।"[2]

आवरणमलके द्वारा अपने आपको भूले हुए जीव (पुरुष) को गुरु ही स्वरूपका सर्वप्रथम परिचय देता है, इसे ही 'शक्तिपात' कहते हैं। शक्तिपातका कारण गुरूपदेश ही है। शैवों तथा शाक्तोंकी साधनामें गुरुका

---

१. Dr. K. C. Pandey : Kashmira Saivism.
(Hist of Philo. Eastern and Western vol. I. pp. 382-3)

२. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

—ई० प्र० का. ४. २. २. पृ० २७४ (भाग २)

अत्यधिक महत्व है।[1] शैव-शाक्त गुरुको शक्ति रूप मानते हैं। यही कारण है वे स्त्रीको गुरु मानते हैं। शाक्त स्त्रीको प्रथम गुरु, फिर पत्नी तथा बादमें परा शक्तिके रूपमें देखते हैं।[2] इसी धारणाका प्रभाव शैव-साधनामें भी पाया जाता है। प्रसादने श्रद्धाके चरित्रमें इस दार्शनिक तथा साधनात्मक तथ्यको उपस्थित करनेकी चेष्टा की है। स्व-रूपके भूले हुए आवरणमलावृत पुरुषके सामने श्रद्धा सर्वप्रथम गुरुके रूपमें ही आती है, तथा उसीके द्वारा 'श्रद्धा' सर्गमें 'शक्तिपात' होता है। मनु अपनी शक्तिको पहचान लेता है। पर फिर भी 'लज्जा' सर्गवाली मायीय अपोहनशक्ति वास्तविकताको छिपाकर नियतिके द्वारा मनुको संघर्षमय बना देती है। लज्जा श्रद्धाके पास आकर उसे अपने सौन्दर्यको छिपानेकी शिक्षा देती है, इस कथात्मक कलायोजनामें शक्तिका माया रूपमें आभासित एक ओर अपने तथा दूसरी ओर शिवके शुद्ध तत्वका संवरण करना ही दार्शनिक तथ्य जान पड़ता है। हम देख चुके हैं मायीय अपोहनशक्ति (माया) के द्वारा ही पुरुष नियति आदिका दास बनाया जाता है। नियति ही उसे तर्कजाल तथा बुद्धिवादके अधीन बनाती है। इस जालसे शक्ति ही छुड़ा पाती है। शक्तिका यह रूप दर्शन, रहस्य तथा आनन्द सर्गमें चित्रित किया गया है, जहाँ श्रद्धा मनुको शिवत्वकी ओर बढाती है।

काम, सद्विद्या तथा विद्या—काम, श्रद्धा तथा इडाके पात्रोंके प्रतीकके द्वारा कवि किन दार्शनिक तत्वोंकी व्यंजना करना चाहता है, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। श्रद्धा तथा इड़ा निश्चित रूपमें हृदय तत्व तथा बुद्धितत्व हैं, किन्तु शैव पारिभाषिक संज्ञाकी दृष्टिसे उन्हें इतना भर कहना प्रत्यभिज्ञ दर्शनके सिद्धान्तोंको स्पष्ट न कर सकेगा। जैसा कि हम आगे बतायेंगे। श्रद्धा 'सद्विद्या' है, इडा 'विद्या'। रहा 'काम' इसके बारेमें भी लोगोंने बड़ी अटकलपच्चू लगाई है, कुछ लोगोंने इसे 'स्वतन्त्रा इच्छा'का ही मूर्तप्रतीक माना है। 'काम', मेरी समझमें मनका, किंतु वैयक्तिक मनका नहीं विश्वमन (Universal mind) का प्रतीक है, जिसे शैव दार्शनिकोंने

---

१. गुरुरुपाय'—शिवसूत्र २ ६ (साथ ही)
अस्यार्थस्य स्वप्रत्ययसिद्धस्यापि गुरुपरम्परोदेश उपोद्बलको वक्तव्यः।
—ई० प्र० का० वि० भाग २. पृ० २७०

२. Woodroffe: Shakti and Shakta. P. 47.

'महेश्वर'की पारिभाषिक संज्ञा दी है जो ऊपरकी तालिकामें चौथा तत्त्व है। यह तत्त्व कोरा शिव (चेतन) तत्त्व न होकर, शक्तितत्त्वसे संश्लिष्ट तत्त्व भी है, यद्यपि इस तत्त्वमें 'इदन्ता' इतनी स्पष्ट नहीं रहती है। इसी तत्त्वसे 'सद्विद्या' का उदय होता है, जो पाँचवा तत्त्व है। इस तरह कामका श्रद्धाको अपनी पुत्री कहना ठीक बैठ जाता है। काम तथा रति दोनों पात्र क्रमशः महेश्वरके 'अहं' तथा 'इदं' तत्त्व हैं। कामको मन माननेकी धारणा तन्त्रों, व शैवशाक्तोंमें प्रसिद्ध है। सौंदर्यलहरीके एक पद्य[1] की व्याख्यामें उसके व्याख्याकार कामेश्वर सूरिने 'काम' का अर्थ 'मन' किया है। 'काम' मनके साथ ही साथ हृदय, भाववृत्ति आदिका परिचायक माना जा सकता है। सद्विद्या और श्रद्धा मनकी प्रातिभशक्ति (intution) है, जब कि विद्या और इडा बौद्धिक तथा तर्कात्मक ज्ञान (intellectual knowledge) की प्रतीक है। बौद्धिक ज्ञानको शैव दार्शनिक बन्ध या मलका कारण मानते हैं (ज्ञानं बन्धः)। परमतत्त्वकी प्राप्ति तर्क या बुद्धिसे न होकर श्रद्धासे ही हो सकती है, इसे तो शंकराचार्य भी मानते हैं। उपनिषदोंमें परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका कारण एकमात्र उसीकी इच्छा मानी गई है। वह जिसे चाहता है, उसके सम्मुख अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है।[2] शैव प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक तर्क तथा बुद्धितत्त्वके घोर विरोधी हैं, क्योंकि परमानंद प्राप्तिमें वे उसे बाधक मानते हैं। प्रसादके बुद्धिविरोधी मतका दार्शनिक बीज यही है। तर्कके विरोधमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन यहाँ तक बढ़ता है कि परमतत्त्वकी सिद्धिके लिए वह प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं मानता, जिस तरह अन्य दार्शनिक एक, दो, तीन, चार या और अधिक प्रमाण (प्रत्यक्षानुमानादि) मानते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन इस बातपर जोर देता है कि आत्मतत्त्वकी स्थिति तथा शिवत्व स्वतः सिद्ध है, अतः स्वतः सिद्ध वस्तुके लिए कोई प्रमाण लेकर उसे पुनः सिद्ध करना अपने ही पैरसे अपने सिरकी छायाको लाँघनेकी तरह मूर्खतापूर्ण कार्य है। पैरके नापमें कभी सिरकी छाया न आयगी, वैसे ही कोई भी प्रमाण स्वतः सिद्ध आत्मतत्त्वकी सिद्धि करनेमें असमर्थ होगा। आत्मतत्त्व महेश्वर इस समस्त ज्ञान तथा कर्मका ज्ञाता एवं कर्ता स्वतःसिद्ध

१—शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः ॥—सौ० ल० ३२.

२—यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

—कठवल्ली

है, क्योंकि जड़ देहादि ज्ञाता या कर्त्ता नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें उसके निषेध या सिद्धिका सवाल ही पैदा नहीं होता। फिर भी उसकी सिद्धि या असिद्धि करनेका प्रयत्न मूर्ख ही कर सकता है।[1]

बुद्धि या तर्कके आधारपर दो तरहके दार्शनिक मत बन सकते हैं—१. देहवादी (यथार्थवादी) २. केवलात्मवादी (आदर्शवादी)। दोनों ही मत परमतत्त्वका सच्चा स्वरूप नहीं जान पाते। ये लोग परमतत्त्वकी निम्न भूमिकाओं तक ही पहुँच पाते हैं, तथा उन्हें ही परम तत्त्व मान बैठते हैं। प्रत्यभिज्ञा हृदयके नवें सूत्रकी व्याख्यामें क्षेमराजने विस्तारसे स्पष्ट किया है कि कौन कौन दर्शन किस किस भूमिका तक पहुँच पाता है, तथा सच्चे तत्त्वको क्यों नहीं जान पाता। चार्वाकोंसे लेकर ब्रह्म अद्वैतवादी तक, तथा पाचरात्र, तान्त्रिक, आदि अन्य मतोंको भी लेकर उनकी मोक्षस्थिति तथा परमतत्त्वकी सूक्ष्म किंतु मार्मिक मीमांसा की गई है। ये दार्शनिक परम शिव तत्त्वकी मायाशक्तिके कारण उसकी अंशरूप भूमिकाओंको ही सच्चा प्रमेय तत्त्व मान बैठते हैं, तथा उसकी प्रत्यभिज्ञा इसलिए नहीं कर पाते कि उन्हें शिवकृपा रूप 'शक्तिपात' नहीं प्राप्त होता।[2]

प्रसादने स्वयं इन बुद्धिवादियोंके दो दलोंका वर्णन किया है, तथा इस बातका संकेत किया है कि ये दोनों दल अपने अपने पक्षपर डटकर मिथ्याभिमानमें फँसे रहते हैं, तथा परम चैतन्य तत्त्वको नहीं जान पाते। प्रसादने इस दार्शनिक सिद्धान्तको प्रतीकके रूपमें ढालकर काव्यमय रूप दे दिया है। इड़ा सर्गमें जब मनु सारस्वत प्रदेश पहुँचता है, तो सारस्वत प्रदेशका वर्णन करते हुए प्रसादने सारस्वतीको असुरों तथा देवोंके संघर्ष-स्थलके रूपमें चित्रित किया है। सारस्वत प्रदेश यहाँ मस्तिष्कका प्रतीक जान पड़ता है। यहीं वे असुरोंकी जड़ात्मवादिता तथा देवोंकी केवलात्मवादिताका वर्णन कर उनकी दार्शनिक अपूर्णताकी व्यंजना कराते हैं।

---

१ कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥—ई० प्र० का० १. २.

२. मितदृष्टमस्तु अंशांशिकासु तदिच्छयैव अभिमानं ग्राहिताः, येन देहादिषु भूमिषु पूर्वपूर्वप्रमातृव्याप्तिसारताप्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्तिं परशक्तिपातं विना न लभन्ते॥

प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ० १६

था एक पूजता देह दीन।
दूसरा अपूर्ण अहंतामें अपनेको समझ रहा प्रवीण॥
दोनोंका हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास-हीन।

× × × ×

वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन॥
सचमुच मैं हूँ श्रद्धा-विहीन॥
(इड़ा सर्ग)

यहाँ कविवर प्रसादने 'विश्वास', 'श्रद्धा' शब्दोंके द्वारा 'शक्तिपात'का ही संकेत किया है, जिसके बिना दार्शनिक भ्राति पैदा हो सकती है। इस भ्रातिको जन्म देनेवाली विद्या (इड़ा) है। तभी तो इड़ाके नखशिख वर्णनमें प्रसादने ऐसे उपमानोंका वर्णन किया है, जो उसके उलझानेवाले तर्कादिका संकेत करते हैं:—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।

× × ×

वक्षः स्थल पर एकत्र धरे संसृतिके सब विज्ञान-ज्ञान॥
था एक हाथमें कर्मकलश वसुधा जीवन रस सार लिए।
दूसरा विचारोंके नभमें था मधुर अभय अवलम्ब दिए।
त्रिवली थी त्रिगुणतरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल॥
चरणोंमें थी गति भरी ताल॥ (इड़ा)

यहाँ अलकोंको 'तर्कजाल' कहना, वक्षःस्थलके उभारके लिए उसे ज्ञान-विज्ञानका आधेय बनाना, नेत्रोंसे अनुराग विराग ढालनेकी क्षमता, एक हाथका विचारोंकी मुद्राका संकेत करना, दूसरा कर्मकलशसे युक्त होना, क्रमशः मायारूपिणी विद्याके स्वरूप, तथा उससे जनित लौकिक इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तिका संकेत करता है। इसी तरह त्रिवलीको त्रिगुणमयी कहना, उसके वस्त्रको आलोकमय तथा कुटिल (अराल) बताना विद्या तत्वके सत्व, रजस्, तमस्, गुणों तथा उसके अत्यधिक कुटिल चकाचौंध दिलाकर जालमें फँसा लेनेवाले प्रकाशका संकेत करता है। चरणोंमें तालका भरा होना, विद्या तत्वकी अस्थिरता, तथा चंचलताका द्योतक है।

प्रसाद इस त्रिगुणमयी, चंचल, तर्कपूर्ण विद्याके पाशसे मुक्त होकर श्रद्धामय बननेका सन्देश देते हैं, जो परमानन्दके मन्दिरकी सोपानपंक्ति है।

पशु, माता तथा पशुपतिः—शैव शाक्त सिद्धान्तोंमें परमशिव तत्वको 'पशुपति' कहा जाता है, तथा जीवात्माको 'पशु'। अज्ञानसे आवृत्त होकर अपने शुद्ध चैतन्य रूपको भूलकर अबोध बननेके कारण ही जीवात्माको 'पशु' कहा जाता है। समस्त विश्वके भावोंको स्वागरूप समझनेवाला पूर्ण चैतन्य 'पशुपति' है, तथा माया के कारण क्लेश, कर्म आदि मलोंसे आवृत जीव 'पशु'। 'पुरुष' ही द्वैत बुद्धिके उदय होनेपर तथा मलावृत्त होनेपर 'पशु' कहा जाता है, क्योंकि वह मायाजनित पाशमें बँधा रहता है। कामायनीमें कई स्थानपर 'पशु'का पारिभाषिक प्रयोग देखा जाता है। कथावस्तुकी दृष्टिसे उसका अर्थ और हो सकता है, किन्तु श्रद्धाका पशुके प्रति ममत्व बताना मातृरूपिणी शक्तिका जीवके प्रति स्नेह करना ही है। दूसरे स्थानपर मनुको लाक्षणिक रूपमें 'पशु' भी कहा गया है। किलाताकुलि (जो हृदयकी असद्वृत्तियों, सभवतः राग-द्वेपके प्रतीक हैं) मनुके द्वारा पाले गये 'पशु'को देखकर उसके मासको चखना चाहते हैं, और वे मनुको हिंसायज्ञके कर्ममें प्रवृत्त होनेको फुसलाते हैं। यहीं 'मनुका पशु' पदके द्वारा प्रसादने 'मनुके अज्ञानी जीव' की भी दार्शनिक व्यजना कराई है। कर्म सर्गकी ये पक्तियाँ यों हैं:—

देख देख कर मनुका पशु जो व्याकुल चचल रहती।
उनकी आमिष लोलुप रसना आँखोंसे कुछ कहती॥

यहाँ 'मनुका पशु' का वाच्यार्थ मनुका पालतू पशु है, (दार्शनिक) व्यग्यार्थ 'मनुका अज्ञानी जीव।'

शैव तथा शाक्त साधक शक्तिको मातृरूपिणी मानते हैं। शकराचार्यने सौंदर्यलहरीमे शक्तिके जननीरूपका ही वर्णन किया है। प्रसादने श्रद्धाको मानवकी माताके रूपमें चित्रित किया है, इस कथासूत्रमें यह दार्शनिक रहस्य छिपा हुआ है। स्वय मनु ही दर्शन सर्गमें श्रद्धाको, जिसका पूर्ण शक्तित्व इसी सर्गमें प्रकट होता है, मातृमूर्ति कहता है:—

तुम देवि आह कितनी उदार
वह मातृमूर्ति है निर्विकार
हे सर्वमगले, तुम महती
सबका दुख अपने पर सहती
कल्याणमयी वाणी कहती
तुम क्षमा निलयमे ही रहती॥ (दर्शन सर्ग)

शक्तिको माताके रूपमें माननेके साथ ही शैवोंके साधनामार्गमें उसे परा वाणी, कुण्डलिनी, महासत्ता तथा परा चिति भी कहा जाता है। शैव दार्शनिकोंने भर्तृहरिके तीन भेदों पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरीके मूलरूप मातृरूपिणी शक्ति—परा वाक्की कल्पना की है, जो पृथ्वी तत्त्वसे युक्त मूलाधार में रहती है। प्रसादका श्रद्धाको 'कल्याणमयी वाणी कहती' कहना तथा 'क्षमा-निलय' में रहनेका संकेत करनेका, दार्शनिक तथ्य क्या यही है ? 'क्षमा-निलय में ही रहती' का प्रस्तुत अर्थ 'तुम क्षमाशील हो' है, पर शैव दर्शनके आधार पर "तुम्हारा निवास पृथ्वी तत्त्ववाले निलय (मूलाधार) में है" यह व्यंग्यार्थ भी व्यक्त होता है। यहीं साधक शक्तिके चिति रूपका दर्शन सर्वप्रथम करता है, तथा उसे मूलाधारमें नटराजके ताण्डवनिरत मुद्रामें दर्शन होते हैं।[1] शिवके अनुरूप रूपादि वाली होनेसे शक्तिको 'समया' भी कहते हैं, उस समयाके नृत्यका भी यहाँ शिवके साथ दर्शन होता है। दर्शन सर्गका चिति एवं नटराजका दर्शन इसी शैवसाधनाका काल्पनिक वर्णन जान पड़ता है:—

सत्ता का स्पन्दन चला डोल
आवरण पटलकी ग्रंथि खोल
× × ×
केवल प्रकाशका था कलोल
मधु किरणोंकी थी लहर लोल।
अन्तर्निनाद ध्वनिसे पूरित
थी शून्यभेदिनी सत्ताचित्
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित
स्वर लय होकर दे रहे ताल।
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल॥

(दर्शन सर्ग)

---

१. तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।

उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननी-मज्जगदिदम्॥

—सौन्दर्यलहरी पद्य ४१.

इन पंक्तियोंमें एक साथ कई दार्शनिक तथ्योंकी ओर संकेत किया गया है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी मान्यताएँ लेकर आते हैं। 'सत्ता' 'स्पन्दन' 'आवरण' 'प्रकाश' 'अन्तर्निनाद ध्वनि' 'शून्यमेदिनी' 'नटराज' 'थे लुप्त हो रहे दिशा-काल' सभी परिभाषिक प्रयोग हैं। शक्तिके चितिरूपके आविर्भाव होने पर माया (अपोहन) शक्तिका आवरण हट जाता है। अतः उससे उत्पन्न देश-काल भी लुप्त हो जाते हैं। शक्तिके पूर्वरूपको ही सत्ता कहते हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिकामें बताया है कि शक्तिका देशकालोत्तर स्फुरण (स्पदन) ही महासत्ता है। यही परम शिव तत्त्वका सार या हृदय है।[१] वस्तुतः परम शिवत्वकी प्राप्ति इसीके कारण होती है। इस स्थितिमें साधकको 'परावाक्' रूप अन्तर्ध्वनि (अनहद नाद,) सुनाई देती है। ऊपर पंक्तियोंमें 'केवल प्रकाशका था 'कलोल' में 'प्रकाश' के साथ 'केवल' विशेषणका प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है। साधक जीवात्मा मूलाधारके नटराजका दर्शन तटस्थ होकर करता है, यहाँ 'सोऽहम्' वाला विमर्श नहीं होता। परमानन्द तत्त्वमें, जैसा कि हम देख चुके हैं प्रकाश व विमर्श दोनोंका होना जरूरी है। यह स्थिति प्रमातृ-प्रमेयके द्वैतभाव मिटने पर ही होगी। यह द्वैतभाव आनद सर्गमें जाकर हटता है वहाँ मनु स्वय शिव बनकर प्रकाश तथा विमर्श रूप आनदशक्तिसे समन्वित हो जाता है। प्रमातृ प्रमेय तत्त्वके द्वैतभाव हटनेकी सरणिका ही काल्पनिक वर्णन रहस्यसर्गमें है। त्रिपुर-सहारइच्छा, ज्ञान, क्रियाका सहार, और कुछ नहीं प्रमता, प्रमाण तथा प्रमेय का ही सहार कर, एक बनाकर, अद्वैत-भावना प्रकट करता है।

मनु (जीवात्मा)के मार्याय, आणव तथा कार्ममलोंका दाह रहस्य सर्गमें होता है। दर्शन सर्गके दर्शन परिमित योगीकी दशा है। रहस्य सर्गमें शक्ति ही 'पशु'के मलोंका दाह कर उसे आनन्दकी ओर अग्रसर करती है। आनन्दसर्गमें चेतन्य आत्मा अपने रूपकी प्रत्यभिज्ञा कर लेता है। इसी स्थितिको 'चमत्कार', 'आनन्द', प्रत्यवमर्श आदि नामोसे पुकारा जाता है। यहाँ पहुँचनेपर साधक प्रमेय-तत्व (जड़ जगत्) को अपना ही विभव-समझता है तथा लौकिक या व्यावहारिक जीवनमें विकल्प (आभास रूप)

---

१. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैपा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥
—ई० प्र० का० १. ५. १५.

सृष्टिका अनुभव करते हुए भी वह उसे अपने ही स्वातन्त्र्यसे युक्त (विभव) समझता है एवं सांसारिक रूपमें महेश (शिवरूप) या जीवन्मुक्त हो जाता है।[1] आनन्द सर्गमें मनुकी इसी स्थितिका वर्णन किया गया है।

हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो, जिसमें कुछ नहीं कमी है॥

(आनन्द सर्ग)

कामायनीमे शैव दर्शनकी सैद्धान्तिक मान्यताका ही नहीं, साधनात्मक मान्यताका भी कुछ प्रभाव पड़ा है। शैव दर्शनका तत्वज्ञान तथा साधनामार्ग एक ही सिक्केके दो पहलू हैं, इसे भूलना न होगा। नहीं तो हम शैव दार्शनिक सिद्धान्तोंको पूरी तरह न समझ सकेंगे। शैव दर्शनमें मूलाधारसे सहस्रार चक्रतकके साधना मार्गका तत्तत् चक्रमें स्थित पृथिव्यादि तत्वका तथा वहाँकी स्थितिका वर्णन मिलता है। सम्भवतः रहस्य सर्गके आरम्भके छन्दोंमें इस यात्राका ही काल्पनिक वर्णन है। पृथ्वी तत्वका नीचे रहना, जलतत्वके व्यञ्जक जलदो व निर्झरोंको छोडकर मनु व श्रद्धाका ऊपर बढ़ना, वायुके प्रबल झोकोंका वर्णन, निराधार देशके आकाश तत्वका वर्णन साधना की दृष्टिसे मूलाधारसे आज्ञाचक्रतककी यात्रा है।[2] त्रिपुरदाह आज्ञाचक्रमें होता है, ऐसी योगियोंकी मान्यता है। इस सब विवेचनका यह अर्थ नहीं कि प्रसाद योगी थे। सभवतः शैवागमकी साधना-पद्धतिको आगम ग्रन्थोंमें पढकर प्रसादने उसे काल्पनिक रूप दे दिया है।

किंतु प्रसादने इस यौगिक साधना मार्गपर जोर नहीं दिया है। प्रत्यभिज्ञा मार्गका पथिक इसपर इतना जोर नहीं देता। यह दूसरी बात है कि वह बिना हठयोगादि किये ही, तल्लीनता (प्रमेयतत्वमें तल्लीनताके उस मार्ग की ओर स्वतः बढता है। जड़ विश्वको अपना ही विभव समझकर उसमें तल्लीन हो, वह विगलितवेधान्तरत्वको प्राप्त करते करते, हठयोग, मन्त्र या इच्छाशक्तिके बिना ही आत्मप्रत्यभिज्ञा कर लेता है। इस तरह यह मार्ग

---

१. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पाना प्रसरेऽपि महेशता॥

ई० प्र० का० ४. १. १२.

२. महीं मूलाधारे कमपि मणि पूरे हुतवहं, स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुत माकाशमुपरिमनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥

सौ० ल० ९—

मनोवैज्ञानिक पद्धतिका जान पड़ता है। इस स्थितिपर पहुँचकर वह सदाशिव तत्त्वसे लेकर कीडे-मकोडे तकको अपना विभव मानता है। ऐसा होनेपर किसी भी वस्तु या व्यक्तिसे राग-द्वेष करनेका प्रश्न ही नहीं उठता, तथा किसीके प्रति क्रोधादि करनेका भी अवसर नहीं आता। इस तरह प्रत्यभिज्ञा मार्ग तत्त्वज्ञान तथा मनोविज्ञानका आधार लेकर जनकल्याणकी भावनामें परिणत हो जाता है। यही 'सामरस्य' का सिद्धान्त जान पड़ता है।

कुछ तथाकथिक समाजवादी मनुको पलायनवादी बताते हैं, पर वस्तुसत्य भिन्न है। मनुकी कथा पौराणिक है, पुराणोंमें शिवका स्थान हिमालय (कैलाश) माना गया है। अतः कथासूत्रकी दृष्टिसे शिवत्व प्राप्ति उसे वहीं हो सकती है। इसलिए उसे वहाँ ले जाया गया है। पर मनु वहाँ पलायनवादी नहीं है। इड़ा तथा मानवको वहाँ पहुँचाकर प्रसादने काव्यको इस दोपसे मुक्तकर दिया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनका सिद्धान्तकी कभीपलायनवादी नहीं। हठयोग, मन्त्रयोग तथा राजयोग निःसदेह पलायनवादी मार्ग हैं, पर जो व्यक्ति यहीं रह अपने आपको सारे विश्वमें देखते हुए विश्वका भोग तथा सेवा करता हुआ, इसी चलते फिरते जीवनमें, समाज (जड़ जगत् या प्रमेय) में, अपने रूपको देखता है, उसे पलायनवादी कैसे कहेंगे। यही कारण है, प्रसादने समाजकी विषमता-पूर्ण समस्याओंको सुलझानेकी कुजी भी बताई है। यह दूसरी बात है कि उनपर शैव प्रत्यभिज्ञादर्शनकी चाशनी है, जो प्रसादका निजी दर्शन है, आध्यात्मिक नहीं, जीवन दर्शन।

प्रसादका सौंदर्यशास्त्रीय सिद्धान्त भी ऊपर मीमासित दार्शनिक आनन्द-वादका कलात्मक पहलू है। इसीलिए प्रसाद 'रसवाद' के पोपक हैं। उन्हें 'कलावादी' कहा जा सकता है, किंतु ठीक उसी अर्थमें नहीं, जिस अर्थमें पाश्चात्य 'कलावादी'। प्रसादका रसवाद अभिनवगुप्तकी भाँति ही शैव दर्शन-की आनन्दवादी मान्यतासे सबद्ध है। प्रसादकी सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताका विश्लेषण आनन्दवादकी दृष्टिसे ही करना श्रेयस्कर होगा। इस निबधमें हमारा लक्ष्य प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा उसके सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे प्रसादके आनदवादी मतकी मीमासा करना ही था। पर प्रसादको, प्रसादके व्यक्तित्वको, उनके कलाकृतित्वों और सबसे बढकर कामायनीको समझनेके लिए यही एकमात्र दृष्टिकोण है।



मुद्रक—महतावराय, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

प्रसादजीके उपन्यास

—कृष्णदेव प्रसाद गौड़—

प्रसादजी कवि थे। उपन्यास भी कविताका ही एक रूप है। उनके हृदयमें कविता देवीकी मूर्ति इस स्थिरतासे स्थापित थी कि उनकी सभी कृतियोंमें चाहे वह गीति-काव्यकी कुछ पंक्तियाँ हों, नाटकका एक दृश्य हो अथवा औपन्यासिक चरित्र चित्रण हो वह झाँक-झाँक पड़ती थी। अपनी जीवन-यात्रामें उन्होंने प्रत्येक मील के स्तम्भको अपने विशिष्ट दृष्टिसे परखा था। प्रत्येक क्षणकी अनुभूति निराले ढंगसे की थी। प्रसादजीकी कला-प्रतिमा यदि अलंकारों और वस्त्रोंको हटाकर देखी जाय तो सत्यका ही स्वरूप है। कभी-कभी जैसे, 'कंकाल'में वह बड़ा भीषण है, परन्तु उसका उत्तरदायी रचयिता प्रसाद नहीं है। सत्य स्वय, परम सत्य सुंदर ही है कि असुंदर भी, मैं नहीं कह सकता, मेरा कभी साक्षात्कार नहीं हुआ। भगवान्‌ने गीतामें जहाँ अपना परिचय दिया है वहाँ 'वित्तेशोयक्ष रक्षसाम', 'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां' 'मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोहम्', 'वैनतेयश्च पक्षिणाम' सब सुन्दर वस्तुएँ अपने लिए खोज ली है। भगवान् सुन्दरताके इतने बड़े प्रेमी हैं, तब असुन्दरता के लिए भी कोई स्थान उनके पास है कि नहीं मैं नहीं कह सकता। केवल बेचारे कवियोंके लिए उन्होंने कहा 'कविनामुशना कवि' अर्थात् कवियोंमें मैं शुक्राचार्य कवि हूँ।

परन्तु इस संसारमें तो भीषणता तथा असुन्दरता भी कम परिमाणमें नहीं है। वह सत्य नहीं है, यह कहनेका मेरा साहस नहीं है, मैं इतना बड़ा दार्शनिक नहीं हूँ। जिसकी अनुभूति हमारी इन्द्रियों द्वारा होती है, हम साधारण व्यक्तियोंके लिए वह भी सत्यका ही एक स्वरूप है। सुन्दरता और असुन्दरता सत्यके दोनों स्वरूपोंका चित्रण प्रसादजीके उपन्यासोंमें पाया जाता है।

कथानक—कवितामें प्रसादजी आन्तरिक स्वरूपमें अधिक है। जहाँ उन्हें बाह्य रूप भी लिखना पड़ा है वहा भी आन्तरिकता प्रवेश कर गयी है नाटकोंमें उन्होंने अधिकांश अपना प्रासाद इतिहासकी नींवपर खड़ा किया है। उन्होंने तीन उपन्यास लिखे। 'कंकाल' और 'तितली' तो संसार के सम्मुख आ चुके हैं। तीसरा 'इरावती' अधूरा छोड़कर वह संसारको भी छोड़ गये।

कंकालकी कथावस्तु बहुत पुष्ट नहीं हैं। यह घटना-प्रधान उपन्यास है। बहुत-सी घटनाएँ घटती हैं। यद्यपि उनके कर्ता अथवा भोक्ता किसी-न-किसी प्रकार कभी-न-कभी एक दूसरेसे संबंधित हो जाते हैं। देव निरंजन और किशोरीकी एक कथा है, मंगल और ताराकी एक कथा है। इन दोनों कथाओं का क्रमशः विकास किया गया है। और जैसे एक कुशल चित्रकार दो रंगोंको मिलाता है,एक दूसरेसे मिलाये गये हैं। इनके भीतर तीन उपकथाएँ घटी और विजयकी, बाथम और लतिकाकी तथा गाला गूजरकी समाविष्ट हैं। इन तीनों को भी एक दूसरेके साथ और दोनों मुख्य कथाओंके साथ इस प्रकार लेखक ने बाधा है कि यह एक शरीरके ही विभिन्न अंग हो गयी हैं। एक दूसरेका संबंध घटना-चक्र द्वारा होता है। सारी कथा एक कथानकका विकास नहीं है। 'तितली' एक ग्रामका चित्र है। इसमें एक ग्रामके दो प्राणियोंके चारों ओर सारा चक्र घूमता है। बंजो और मधु अर्थात् तितली और मधुबन इसके नायिका और नायक हैं। तितलीका स्वभाव ही मधुबनमें थिरकना और नृत्य करना है। और सभी पात्र इस नृत्यके दर्शक हैं। इंद्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी, अनवरी इत्यादि नगरसे आते हैं और नगरको लौट जाते हैं। उनमें नागरिकता है इस उपन्यासमें कथानक एक ही है। उसीके विकासमें और पात्र सहायता देते हैं। यों तो किसी उपन्यासमें घटनाओंका प्रभाव पड़े बिना कथाका विकास हो ही नहीं सकता, किंतु 'कंकाल' में घटनाओंकी प्रधा-नता है, कथावस्तुकी नहीं। 'तितली' में कथाका प्राधान्य है। यह कहा जा सकता है कि 'कंकाल'का कथानक घटनाओंसे बना है, तितलीकी घटनाएँ कथानकसे बनी हैं।

चरित्र चित्रण—प्रसादजी अपने उपन्यासोंमें आदर्शवादी नहीं हैं। उनके पात्र सजीव प्राणी हैं। देवनिरंजनसे कितने कर्मनिष्ठ तपस्वी सौन्दर्यकी स्निग्धता पर मनुसे लेकर आजतक फिसलते आये हैं और किशोरी-सी कितनी किशोरियाँ सन्तान-लिप्सामें जीवनका उस राहमें पाँव रखती हैं, जिसे समाज पतन कहता है। मंगलसे कितने युवक हमारे आपके बीच मंगल करनेको उद्यत होते हैं परन्तु समाज उन्हें बढ़ने नहीं देता और यह अमंगल हो जाते हैं। श्रीचन्दसे कितने व्यवसायी हमारे समाजको अलंकृत करते हैं, जो धन एकत्र करना और विलासको ही जीवनका ध्येय समझते हैं। बाथम ऐसे ईसाई व्यापारी अब भारतवर्षमें सम्भव है कम दिखाई देते हों (क्योंकि ईसामसीहकी भेड़ोंके उपयुक्त इस देशमें घास कम मिलती है) परन्तु कुछ ही दिनों पहले बाथम ऐसे ईसाई भारतवर्षके प्रत्येक नगरमें ही नहीं, गाँवमें भी घुसे दिखाई

देते थे। जिनका काम भूले हुओंको ईसाके नाम पर ईसाई मतमें प्रवेश करा देना और किसी-न-किसी प्रकार धनोपार्जन करना था। इस प्रकार 'कंकाल' के सभी पात्र हमी आपमेंसे लिये गये हैं। उनका जीवन भी मनुष्योंका ही जीवन है। कोई असाधारण व्यक्ति नहीं दिखायी पड़ते। गोस्वामी अवश्य ऊँची श्रेणीके व्यक्ति हैं। ऐसे व्यक्तियोंका भी अभाव नहीं है, देशमें कम भलेही हों और 'कंकाल'में भी एकही गोस्वामीजी हैं। घंटी और गालाका चरित्र अवश्य कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है परन्तु जिस वातावरणमें वह पायी जाती है उसमें ऐसा हो जाना असम्भव नहीं है।

'तितली'मे जो पात्र चित्रित किये गये हैं वह भी स्वाभाविक हैं। इन्द्रदेव, माधुरी, स्वरूपकुमारी, मधुवन, अनवरी, मैना, राजकुमारी सब चलते-फिरते व्यक्ति हैं और पग-पगपर हमारे समाजमें मिलते हैं। 'कंकाल'के गोस्वामीजीके प्रतिनिधि 'तितली'में वनजरियावाले बाबाजी हैं। जहाँ तक समझमें आता है, महात्मा गान्धी इन दोनों चरित्रोंकी सृष्टिके मूलमें हैं। जिस युगमें यह उपन्यास लिखे गए हैं वह महात्मा गान्धीका अभ्युदयकाल है और गोस्वामीजी और बाबाजी महात्माजीके स्पष्ट प्रतिनिधि हैं। पहले आध्यात्मिक और दूसरे सामाजिक।

इन दोनो उपन्यासोंमें चरित्रोंका क्रमशः उत्थान नहीं दिखाया गया है। यह तो लेखक उस समय करता है जब उसे आदर्श उपस्थित करना होता है। जिस रूपमें मनुष्य आज हमारे समाजमें पाया जाता है उसी रूपमें उन्हें लेखक ने इन पुस्तकोंमें व्यक्त किया है। अपवादोंको छोड़ दीजिए उपन्यास अपवादों की सूची नहीं होते। अपवादोंको यदि छोड़ दें तो संसारमें मनुष्य पतनकी ओर अधिक उन्मुख है। हमारी स्त्री जाति अपने हृदयकी दुर्बलताओंका शिकार है और मनुष्यके स्वार्थकी क्रीड़ा। प्रसादजीके चरित्रोंकी विशेषता यह है कि वह अतिरंजित नहीं है। उन्होंने चित्रकारी नहीं की है। फोटोग्राफी की है। प्लेटपर जो जैसा रहा है, वैसा उतार दिया है। किसी किसी चित्रके ऊपर रंग भी चढ़ा दिया गया है। यह दोनों पुस्तकें वर्तमान हिन्दू समाजके यथार्थ चित्रण हैं। परन्तु प्रसादजीका यथार्थवाद, 'अल्ट्रारियलिस्ट' लेखकोंकी भाँति शिष्टताकी सीमाके परे नहीं है। एक मर्यादाके भीतर है।

युगका प्रभाव—ऊपर मैं कह चुका हूँ कि प्रसादजीके सभी चरित्र समाजसे लिये गये हैं और वह आधुनिक समाज है। आज जिस अवस्थामें हिन्दू नर-नारी हैं, उसीका प्रतिबिम्ब है। अपने नाटकोंमें प्रसादजीने प्राचीन

भारतकी महत्ताका दिग्दर्शन कराया है। उपन्यासोंमें अर्वाचीन भारतके जीवनके स्पष्टीकरणकी चेष्टा की है। हमारा स्त्रियोंके प्रति भाव और व्यवहार, देशमें मंदिरों और मठोंकी अवस्था, पूजा-पाठका ढोंग, विवाहादि संस्कारोंका पतन, जो भी इस समय देशकी स्थिति है उसीको लेकर इन उपन्यासोंकी रचना की गई है।

आज समाजमें एक असन्तोष-सा फैला है। आज लोग सोच रहे हैं कि सुधारके लिए संगठनकी आवश्यकता है कि नहीं, निरंजनके शब्दोंमें वर्ण भेद समाजिक जीवनका क्रियात्मक विभाग है अथवा ईश्वरप्रदत्त कुछ ऐसी वस्तु जो अमिट है। नारी और पुरुषके सम्बन्धका 'एकमात्र समझौता' विवाह ही है कि और कुछ। विवाहके लिये दो हृदयोंका सच्चा आदान-प्रदान ही पर्याप्त है कि विशेष रूपसे वेदीपर बैठकर मंत्रोच्चारण आवश्यक है। लोगोंमें भगवानके प्रति श्रद्धा और अश्रद्धाका द्वन्द्व चल रहा है। प्रेम सम्बन्धी विभिन्न प्रश्न जो समाजके हृदयमें हलचल मचा रहे हैं उन्हें भी इन उपन्यासोंमें व्यक्त किया गया है।

यह कहना मूर्खता होगी कि प्रसादजीने इन सब प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर दिया है अथवा सब समस्याओंकी यथोचित मीमांसा की है। समाजकी अधिकांश समस्याएँ नित्य हैं। जो अलग अगल युगमें अलग-अलग रूपमें धारण करके आती हैं। उस युगके अनुसार लोग उसके निराकरणका प्रयत्न करते हैं। प्रसादजीके एक नाटककी आलोचना करते हुए स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्दने 'माधुरी'में लिखा था कि इन पुरानी बातोंसे देशका क्या कल्याण होगा, गड़ा मुर्दा उखाड़नेसे क्या लाभ? मैं इस मतसे सहमत नहीं हूँ। प्राचीनताकी ही नींवपर तो वर्तमान खड़ा है। फिर स्वयं मुंशीजीकी भाँति सोचनेवालोंके लिए यह दोनो उपन्यास हैं। जिसमें समयकी गतिके साथ-साथ चरित्र चलते हैं। यद्यपि मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि 'कंकाल' में भी भगवान कृष्ण हीको आदर्श माना है (मार्क्स, लेनिन या आगा खाँको नहीं।)

ग्रामीण जीवनका चित्रण—प्रसादजीका जीवन अधिकांश नगरमें बीता था। इधर हमारे देशमें राजनीतिक कारणोंसे तथा आर्थिक कुव्यवस्थाके कारण नेताओंकी दृष्टि बदली। आवाज उठी कि ग्रामोंको सुधारना आवश्यक है। 'तितली' इसीकी प्रेरणा है। परन्तु 'तितली'के अधिकांश पात्र नगर निवासी हैं। उन्हें अपने ग्रामसे प्रेम है, उसमें सुधार करना चाहते हैं, उसकी अवस्थाकी उन्नति करना चाहते हैं, किन्तु ग्राम-हृदय उनमें नहीं है। ग्राम-जीवनका चित्रण पूर्ण रूपसे तब होता जब इसके सब पात्र मधुबन, तितली और

राजकुमारी के समान ग्रामही के होते। वहीं वे जनमे होते वहीं उनका जीवन बीता होता, तब उनमें ग्रामकी आत्मा बोलती। प्रतीत यह होता है कि इस पुस्तकमें ग्राम जीवनका चित्रण उतना अभीष्ट नहीं था जितना ग्रामकी समस्याओंके चित्रण का। यदि ग्राम-जीवन इस पुस्तकका आदर्श रहा तो सफलता नहीं मिली। यदि इस उपन्यासमें लेखकने उन समस्याओंको सुलझानेका प्रयत्न किया है जो बीसवीं शताब्दीमें गावोंमें प्रस्तुत हो गयी हैं तब लेखक अपने ध्येयपर पहुँचा है। परन्तु इन्द्रदेवके, हैमलेटकी भाँति "टु बी आर नाट टू बी" के जीवनने, और विधिवश शैलाके पिताके घटनास्थलपर पहुँच जानेसे ग्रामसुधारका कार्य विलुप्त प्राय हो गया। इसमें मधुबनका चित्र ग्रामीण निवासीके रूपमें बहुत सच्चा उतरा है।

सम्वाद—उपन्यासोंमें सम्वाद बडे महत्वकी वस्तु समझे जाते है। इनसे पात्र सजीव हो जाते हैं। प्रसादजीके उपन्यासोंमें सम्वाद उपयुक्त, ओजपूर्ण, समयानुकुल तथा स्पष्ट है। एक बात अवश्य खटकती है कि 'कंकाल' में विशेषतः प्रसादजीके सब पात्र दार्शनिक हैं। चाहे शास्त्रोंके अध्ययन करने वाले मनीषी गोस्वामीजी हों, अथवा समाज सुधारका सपना देखने वाला मंगलहो, वृन्दावनकी कुंज गलियोंमें अट्टहासकी ध्वनि फैलाने वाली घंटी हो, या कान्तारकी छायामें विलसने वाली कमनीया गाला गूजरवाला हो, सब एक-से-एक बढ़कर तार्किक और दार्शनिक हैं। यदि इस अंशको छोड़ दिया जाय तो सम्वाद पात्रानुकुल और प्रभावोत्पादक हैं। किसी भी सम्वादने व्याख्यानका रूप धारण नहीं किया है। कहीं-कहीं तो वे बडे ही मार्मिक ढंगसे कहे गये हैं। उनका रस चखनेके लिए तो उन्हें ही पढना होगा, यह लेख नहीं।

स्त्रियों का स्थान—प्रसादजीने दोनों ही उपन्यासोंमें स्त्रियोके चरित्रोंपर विशेष ध्यान दिया है। प्रसादजीकी नारियाँ सब दुर्बल हैं वह सदा अपनी दुर्बलताके वशीभूत हैं। उन्हे वेदना है, वह रोती हैं, समाजके कठोरतम दण्डोंको सहती हैं और समाजकी दृष्टिमें पतित भी होती हैं; परन्तु मूक हैं। कुछ वश नहीं चलता। यहां तो भारतीय स्त्रियोंका स्वाभाविक चित्रण है। गालाके शब्दोंमें स्त्रियोंकी परिभाषा है। नारी जातिका निर्माण विधाताकी एक झुंझलाहट है। एक स्थलपर वही कहती है—"स्त्री वयके हिसाबसे सदैव शिशु, कर्ममें वयस्क और अपनी असहायतामें निरीह है" संसारकी और स्त्रियोंके लिए यह ठीक हो या नहीं, भारतीय नारियोंके लिए यह कठोर सत्य है। हमारे समाजमें स्त्रियोंपर जो अत्याचार होता है उसीकी ओर इन

उपन्यासोंमें लेखकने लोगोंकी दृष्टि आकृष्ट करनेकी चेष्टा की है। कुछ लोगोंका कहना है कि 'कंकाल'में प्रसादजीने स्त्रियोंका चरित्र बड़ा ही विडम्बनापूर्ण चित्रित किया है। सभी पतनोन्मुख हैं। वर्तमान हिन्दूसमाजके मानदण्डसे अधिकांश स्त्रियाँ चरित्र-भ्रष्ट हैं। परन्तु यह बात नहीं है। प्रसादजीका अभिप्राय यही है कि समाजकी दृष्टि इन निरीह, पीड़ित, विताड़ित प्राणियोंकी ओर खींचें। हम देखें कि स्त्रियोंपर समाजने कितना अत्याचार कर रखा है। दोनों उपन्यासोंमें स्त्रियाँ तो अपनी दुर्बलताके कारण अपना जीवन दुःखी बनाती हैं, उन्हींके कारण पुरुषोंका जीवन भी अन्धकारमय हो जाता है। साथ ही पुरुषोंका पाप-विमोचन भी स्त्रियोंके ही द्वारा होता है। जिस भाँति शेक्सपीयरकी नारियाँ उसके नाटकके पुरुषोंके कल्याणका कारण बनती हैं, उसी प्रकार प्रसादजीकी स्त्रियाँ पुरुषोंके तमोमय जीवनमें दीपककी रेखा बनती हैं। शैला ही इन्द्रदेवके जीवनको स्थिर करती है। घंटी ही विजयका शान्तिपूर्ण मृत्यु प्रदान करती है। और गाला मंगलके जीवनका मार्ग बनाती है।

स्त्रियोंमें तितलीका चरित्र अवश्य बलवान है। यह पर्वत-सी अटल, सागर सी गंभीर और पृथ्वीसी सहिष्णु है। कभी-कभी उसका चित्त विचलित होता है परन्तु वह चेत जाती है। उससे कुछ ही कम गाला है। हृदयकी उस कोमल भावनाके जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी वशीभूत है। कौन नहीं होता, परन्तु है पूर्ण कर्त्तव्य निष्ठ और दृढ़।

स्त्रियोंकी दुर्बलताकी दुहाई देकर और उनके सुधारकी आवाज ऊँची उठाकर और समाजमें उन्हें उचित स्थान देनेका दावा करके भी प्रसादजीका आदर्श भारतीय है। पश्चिमके आदर्शको उन्नतिका मार्ग उन्होंने नहीं माना। शैला उसका उदाहरण है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि पुरुष और स्त्रीके सम्बन्धकी सबसे उत्तम अवस्था विवाह ही है। पश्चिमका पथ मंगलमय नहीं है।

जीवनकी आलोचना—इनके दो उपन्यास समाजसे सम्बन्ध रखते हैं। समाज के सभी अंगोंपर इन्होंने दृष्टि डाली है। पूजा, पाठ, विवाह, शिक्षा, अर्थ, न्याय आदि विषयोंका इस समय समाजमें क्या स्वरूप है? इन उपन्यासोंमें मिलता है। परन्तु सबके मूलमें जो पारिवारिक जीवन है उसीपर प्रसादजीने विशेष ध्यान दिया है। पुरुष और स्त्रीका समाजमें क्या स्थान है और एक दूसरेके प्रति क्या सम्बन्ध समाजके लिए हितकर हो सकता है, यही दो प्रश्न उनकी समस्याके मूलमें हैं। हमारे देशमें यह सम्बन्ध ठीक है कि नहीं यही उन्होंने दिखाया है। सिद्धान्तोंको लेकर मनुष्य कहाँ तक सफलतापूर्वक चल

सकता है। प्रसादजीके अनुसार कोरे सिद्धांत भयंकर होते हैं। उनका कहना है कि हम अपने लाभके लिए बहुधा सिद्धांत गढ़ लेते हैं। समाजके भयसे हम दूसरोंका जीवन नष्ट कर देते हैं। अपनी त्रुटियोंका फल भोगनेका हमें साहस नहीं होता। पारिवारिक जीवनमें वैमनस्यके जो कारण हो जाते हैं, 'तितली' में उनका भी यथेष्ट दिग्दर्शन है। लतिकाकी कहानी लाकर यह भी दिखाया गया है कि केवल धर्म परिवर्तनसे जीवनमें शान्ति नहीं आ जाती। उसके लिए तो हृदयमें सन्तोष और शान्ति आवश्यक है। जैसे एक सर्जन सड़े अङ्गोंको काटकर फेंकता जाता है उसी प्रकार प्रसादजीने हमारे समाजकी दूषित स्थितिको समाजके सम्मुख निःसंकोच रूपसे रख दिया है।

नियतिवाद—प्रसादजी अपने जीवनमें नियतिवादके विश्वासी थे। पग-पगपर उनके उपन्यासोंमें यह स्पष्ट रूपसे झलकता है। किशोरी यात्रा करने आती है पर मिल जाता है निरंजन। भागता है तो भी वह हरद्वार पहुँच जाती है। मंगल ताराकी सहायता करने जाता है। परन्तु एक दूसरी ही घटनाका नायक बन जाता है। फिर वह जंगलमें छिपने जाता है तो मिल जाती है गाला। इसी प्रकार घन्टी विजयको खींच लाती है। शैला लन्दनसे भारत चली आती है। जहाँ उसके पिता कभी नीलका गोदाम चलाते थे। सब इस बातकी चेष्टा करते हैं कि अपने निश्चित मार्गकी ओर चलें, परन्तु सब व्यर्थ। नियति-सरिताकी धारा बड़े वेगसे अदृष्टकी ओर बढ़ाये चली जाती है। सब परवश, सब पराधीन, जितने पात्र हैं किसी ऐसे सूत्रधारकी डोरी द्वारा कठ-पुतलीसे नाच रहे हैं कि बचना असम्भव है। चाहते हैं करना कुछ, करते हैं कुछ, हो जाता है कुछ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रसादजीने सर्वोपरि यह दिखानेकी चेष्टा की है कि कोई महान् शक्ति जगत्के प्राणियोंसे खेल रही है और यह खिलौने इधर-उधर थिरक रहे हैं। सब अपने-अपने भाग्यके अधीन हैं। जिधर नियति नटी ले जाय, जाते हैं। स्वयं लाचार हैं।

विचार-धारा—प्रसादजीके उपन्यासोंमें सुधारवाद तो है परन्तु वह पश्चिमके लिये हुए नवीन विचारों अथवा उपकरणोंसे नहीं है। अधिकांश उनके सिद्धांत और विचार गोस्वामीजीके व्याख्यान द्वारा व्यक्त होते हैं। राजनीतिमें वे भगवान् कृष्णकी व्यवस्थाके अनुगामी प्रतीत होते हैं। वे प्राचीनताके भक्त हैं। यह तो उनके नाटकोंसे भी प्रकट होता है कि प्रसादजी भारतीय संस्कृतिके उपासक थे। 'कंकाल' उपन्यासमें भी गुप्तकालके साम्राज्य गौरवके वर्णन करनेका लालच रोक नहीं सके। वर्ण व्यवस्था प्राचीन रूपसे कर्मा-

नुसार, विवाह-प्रथा, समाजका पुराना सगठन उन्हें अभीष्ट था। ऐसा इन उपन्यासोंसे झलकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक स्वय ठीक निश्चयपर नहीं पहुँच सका। समाजसुधारके लिए और देशमें कार्य करनेके लिए संगठनकी आवश्यकता है कि नहीं? यद्यपि एक बार वह स्वीकार कर लेता है कि सगठन होना चाहिए, फिर जाकर उसका विरोध करता है। विवाहादिमें विश्वास है परन्तु उसके पाखण्डमें नहीं। तितलीमें कुछ आर्थिक-व्यवस्थाकी ओर ध्यान दिया गया है। प्रसादजीके विचारसे जनताको अर्थ प्रेमकी शिक्षा देना उन्हें पशु बनाना है। उससे आत्माका निर्वासन होता है। अर्थ-प्रेमसे मनुष्य पशु बन जाता है। अर्थ-विभाजनकी उचित व्यवस्था प्राचीन प्रथानुसार ही ठीक होगी। वर्णाश्रम धर्मको ही उन्होंने उचित समझा है, आजकलकी पतितावस्थाको नहीं। परन्तु जिस रूपमें पुरातन कालमें था। प्रणयमें हृदयके सच्चे आदान-प्रदानको आडम्बरपूर्ण विवाह-सस्कारसे अधिक पवित्र उन्होंने माना है। 'ककालमें वह परोक्ष रूपसे समाजके आलोचक तथा सुधारक हैं। प्राचीन भारतीय सस्कृतिकी रक्षा वैवाहिक-जीवनका सुधार और नारी-जगत्का उद्धार उनका ध्येय है।

उपसहार—उपर्युक्त बातोंके होनेपर भी उनके उपन्यासोंसे यह नहीं झलकता कि वह उपदेशकका काम कर रहे हैं। चरित्रोंकी गति-विधिसे स्वय आपको ग्लानि और विषाद हो जाता है। स्त्रियोंपर दया आती है। पुरुषोंपर रोष आता है और अपने समाजपर चिढ उत्पन्न होती है। किसी आदर्शका अभाव ही इनमें आदर्शोंकी कल्पना करा देता है। दोनों ही उपन्यास नारी जाति की मूक पुकार हैं। प्रसादजी यह समझते थे कि उन्हींके कल्याणसे समाजका मगल है। उन्हींकी ओर समाजकी दृष्टि जानी चाहिये। चरित्रोंका उत्थान अथवा क्रमशः विकास दिखानेकी उन्होंने चेष्टा नहीं की। जिस अवस्थामें समाजको उन्होंने पाया उसीको रेखाङ्कित किया। उनका अभिप्राय था कि प्रत्यक्ष कटु होनेपर भी अधिक आवश्यक है और आदर्शकी कल्पना मधुर होनेपर भी वर्तमानमें उतनी आवश्यकता नहीं है।

[नवम्बर १९४०

आँसू

[कृष्णदेवप्रसाद गौड़]

आँसू करुणाका काव्य है। प्राचीन कालसे ही करुण रसको साहित्यकारोंने शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण रस माना है। भवभूतिने करुण रसको प्रधानता दी है।[1] अंग्रेजी कवि शेलीने मार्मिक ढंगसे करुणाका महत्त्व बखाना है।[2] इस प्रकार बहुत लोगोंका मत उद्धृत किया जा सकता है। विप्रलंभ शृंगार जीवनका वह तथ्य है जिसकी संसारके अधिकाश लोगोंको अनुभूति है। और विश्वके श्रेष्ठ कवियोंकी अनेक श्रेष्ठ रचनायें इस रसको व्यक्त करती हैं।

आँसूके दो रूप हमारे सामने हैं। पहला संस्करण जिसमें १२६ छंद हैं। पहले संस्करणमें विशेष क्रम नहीं है। शृंखला तो है ही किन्तु भावोंकी, जिस प्रकार कविके मनमें आते रहे। यह संस्करण सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ था। आठ साल बाद सन् १९३३ मे आँसूका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें १९० छंद हैं। इसमें कुछ क्रम बनाया गया है। चार क्रम इसमें स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। इस समय की वियोग वेदना, पूर्व स्मृति, मिलनके समयका सुखमय जीवन और प्रियतमका वर्णन और भविष्यका सपना। यद्यपि क्रम, कारण और कार्यके रूपमें नहीं है, बंधन शिथिल है

१—एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्।
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।

२—our sweetest songs are those, that tell of saddest thought.

फिर भी कम है। जान पडता है कविने नये संस्करणमे इसे खंड काव्यका रूप देनेकी चेष्टा की जिसका नायक स्वयं कवि है। किन्तु यह मुक्तककी ही श्रेणीमें रखा जायगा क्योंकि कथाका कोई गठन नहीं है। मनोभावोंका ही चित्रण है। दूसरे संस्करणमे छंदोंमे कहीं कहीं परिवर्तन किया गया। यह परिवर्तन पहलेसे अच्छे नहीं थे। और प्रसादजीने इन्हे फिर पूर्ववत् बनाया किन्तु कुछ ज्योंके त्यों परिवर्तित रूपमे ही रहे। उनके बाद इन्हे कौन बदलता।

जैसे पहले संस्करणमे था

शशि मुखपर घूंघट डाले,
अंचलमे दीप छिपाये,
जीवनकी गोधूलीमे।
कौतूहलसे तुम आये।

दूसरे संस्करणमे बनाया गया—

शशि मुखपर घूंघट डाले,
अन्तरमे दीप छिपाये।

यह परिवर्तन क्यों किया आगे बतलाया जायगा किन्तु अंचलसे अंतर परिवर्तन असुन्दर ही नहीं काव्यकी दृष्टिसे बेढंगा हो गया। जब यह बात उन्हे सुझाई गई तब उन्होंने पुनः अंचल ही रहने दिया और अब यही छपता है। इसी प्रकार पहले संस्करणमे था—

विष प्याली जो मैं पीलूँ
वह मदिरा हो जीवनमे,
सौन्दर्य पलक प्यालेका
त्यों प्रेम बना है मनमें,

इसका रूप दूसरे संस्करणमे हुआ—

विष प्याली जो पीली थी,
वह मदिरा बनी नयनमे,
सौन्दर्य पलक प्यालेका,
अब प्रेम बना जीवनमें,

पहले जो चरित्रकी विशेषता बताई गई थी वह जीवनकी घटना हो गई। काल बदले जानेसे ऐसा हुआ। भविष्यकालसे भूतकाल हो गया। जो पहले संस्करणमें था। वही पाठ अब है।

पहले संस्करणमें था:—

तुम रूप रूप थे केवल,
या हृदय भी रहा तुमको
जड़ताकी सब माया थी,
चैतन्य समझकर हमको।

अब यह है—

वह रूप रूप था केवल,
या हृदय भी रहा उसमें,
जड़ताकी सब माया थी,
चैतन्य समझकर मुझमें।

पहले संस्करणका पाठ मुझे सुन्दर जान पड़ता है। वह प्रेमकी अभिव्यक्तिकी व्यंजना है, दूसरे पाठमें कविकी दार्शनिक परिभाषा। पहले संस्करणमें था—

लहरोंमें प्यास भरी थी,
थे भँवर पात्र भी खाली,

दूसरे संस्करणमें काल बदल दिया गया—

लहरोंमें प्यास भरी है,
है भँवर पात्र भी खाली।

यह पहलेसे अच्छा है। प्रेमीकी मानसिक स्थिति बताता है। पहले पाठसे पता चलता है, ऐसा हुआ था उसके पश्चात फिर? दूसरे पाठका और वर्णनसे तारतम्य मिलता है।

आँसूमें मात्रिक छंदका उपयोग किया गया है जो चौदह मात्राओंका है। इसे 'सखी' छंद कहते हैं। इस छंदके प्रत्येक चरणके अन्तमें गुरु होता है। किन्तु प्रसादजीने कहीं कहीं, बहुत कम छंदोंमें, तीसरे चरणके अन्तमें लघु रखा है। इससे कानोंमें बार-बार उसी ध्वनिकी झंकार नहीं आती।

आँसूके सम्बन्धमें दो बातें और कही जाती हैं। यह किसके लिये लिखा गया? इसपर उर्दूकी काव्य शैलीकी छाप है। शेक्सपीयरके सानेटोंके सम्बन्धमें बहुत दिनोंतक विवाद चलता रहा कि यह उसने किसके लिए लिखे हैं। अब

प्रायः निश्चित है कि यह उसने अपने किसी पुरुष मित्रके लिये लिखे हैं जो सुन्दर था--

प्रसादजीके इस छंदमें--

शशि मुखपर घूँघट डाले,
अंचलमें दीप छिपाये,
जीवनकी गोधूलिमें--
कौतूहलसे तुम आये।

'आये' शब्दपर लोगोंने यह अटकलबाजीकी कि यह किसी पुरुष मित्रके लिये लिखा। यह विवाद उनके जीवनमें ही चला। पुरुष मित्रपर कविता लिखना कोई पाप नहीं है। शेक्सपीयरका ऊपर वर्णन किया गया है। टेनिसनने 'हैलम' की मृत्युपर 'इन मेमोरियम' बड़ा सा काव्य लिख डाला। इसलिये यदि प्रसादजी लिखते तो कोई गर्हित कर्म न था किन्तु घूँघट तथा अञ्चल शब्द ही पर्याप्त हैं यह बतानेके लिये कि यह किसके लिये लिखा है॥ बारह स्थलोंपर प्रसादजीने इस प्रकारका प्रयोग किया है।

(१) जो उदाहरण ऊपर दिया गया है।

(२) तुम सत्य रहे चिर सुन्दर,

(३) गौरव था नीचे आये, प्रियतम मिलनेको मेरे,

(४) तुम सुमन नोचते रहते, करते जानी अनजानी,

(५) किसलय नवकुसुम बिछाकर,
आये तुम इस क्यारीमें,

(६) पर समा गये थे मेरे,
मनके निस्सीम गगनमें,

(७) मादकतासे आये तुम, संज्ञासे चले गये थे,

(८) तुम खिसक गये धीरेसे,
रोते जब प्राण विकलसे,

(९) दुःख क्या था तुमको, मेरा
जो सुख लेकर यों भागे,

(१०) पाओगे कुछ न टटोलो,
अपने बिन सूने घरमें,
(११) इस शिथिल आहसे खिंचकर,
तुम आओगे, आओगे,
(१२) मेरी आहोंमें जागो,
सुस्मितमें सोने वाले,
अधरोंसे हँसते हँसते,
आँखोंसे रोने वाले,

सब उद्धरण इसलिए दिये गये कि साधारण दृष्टिसे जिन्होंने आँसू पढ़ा है अथवा जिन्होंने इसका अध्ययन नहीं किया है वह सुनी सुनायी बातोंके कारण भ्रमित हो गये हैं।

प्रसादजीने इस प्रकार क्यों लिखा इसके पीछे ऐतिहासिक और साहित्यिक परम्परा है। फारसीमें रहस्यवादी कवियोंने परमात्माको प्रियतम या माशूक माना है। वही परम्परा उर्दूमें आयी। परमात्माको प्रियतम माना इसलिये क्रिया पुलिंगमें रखी गई। पीछे कवियोंने पार्थिव प्रेममें भी इसी शैलीका प्रयोग किया। साधारण प्रयोग भी इसी प्रकारका हो गया।

प्रसादजीने यही शैली अपनायी। उनका किसीसे वास्तविक प्रेम था जिसके वियोगमें यह रचना की गयी या नहीं इसका विवेचन यहाँ नहीं करना है। प्रसादजीको जो लोग जानते रहे हैं वह अधिकारसे कह सकते हैं कि वह बहुत ही परिष्कृत और संस्कृत ढगके आदमी थे। उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी बीभत्स कल्पना की ही नहीं जा सकती।* आँसू सचमुच प्रेमकी वास्तविक अनुभूतिके बलपर लिखा गया है और वह प्रेम नितान्त स्वाभाविक, शुद्ध और मनुष्योचित रहा। प्रेम करना कोई पाप या अपराध नहीं है। यदि आँसू द्वारा उनके किसी प्रेमका आभास मिलता है तो उसमें किसी प्रकारकी कल्पना सम्भव नहीं। आँसूमें रोमाण्टिक तथा छायावादी अभिव्यंजना होनेपर भी प्रसादजीने इसमें रहस्यवादी पुट देनेकी चेष्टा की है। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रियतमको पुलिंग लिखा है ईश्वरके रूपमें। जिन छन्दोंमें रहस्यवादी

---

*लेखकका उनका पन्द्रह-सोलह वर्षोंका बहुत निकटका सम्पर्क रहा है।

प्रायः निश्चित है कि यह उसने अपने किसी पुरुष मित्रके लिये लिखे हैं जो सुन्दर था--

प्रसादजीके इस छंदमें--

शशि मुखपर घूँघट डाले,
अंचलमें दीप छिपाये,
जीवनकी गोधूलिमें--
कौतूहलसे तुम आये।

'आये' शब्दपर लोगोंने यह अटकलबाजीकी कि यह किसी पुरुष मित्रके लिये लिखा। यह विवाद उनके जीवनमें ही चला। पुरुष मित्रपर कविता लिखना कोई पाप नहीं है। शेक्सपीयरका ऊपर वर्णन किया गया है। टेनिसनने 'हैलम' की मृत्युपर 'इन मेमोरियम' बड़ा सा काव्य लिख डाला। इसलिये यदि प्रसादजी लिखते तो कोई गर्हित कर्म न था किन्तु घूँघट तथा अञ्चल शब्द ही पर्याप्त हैं यह बतानेके लिये कि यह किसके लिये लिखा है। बारह स्थलोंपर प्रसादजीने इस प्रकारका प्रयोग किया है।

(१) जो उदाहरण ऊपर दिया गया है।

(२) तुम सत्य रहे चिर सुन्दर,

(३) गौरव था नीचे आये, प्रियतम मिलनेको मेरे,

(४) तुम सुमन नोचते रहते, करते जानी अनजानी,

(५) किसलय नवकुसुम बिछाकर,
आये तुम इस क्यारीमें,

(६) पर समा गये थे मेरे,
मनके निस्सीम गगनमें,

(७) मादकतासे आये तुम, संज्ञासे चले गये थे,

(८) तुम खिसक गये धीरेसे,
रोते जब प्राण बिकलसे,

(९) दुख क्या था तुमको, मेरा
जो सुख लेकर यों भागे,

(१०) पाओगे कुछ न टटोलो,
अपने बिन सूने घरमें,
(११) इस शिथिल आहसे खिंचकर,
तुम आओगे, आओगे,
(१२) मेरी आहोंमें जागो,
सुस्मितमें सोने वाले,
अधरोंसे हँसते हँसते,
आखोंसे रोने वाले,

सब उद्धरण इसलिए दिये गये कि साधारण दृष्टिसे जिन्होंने आँसू पढ़ा है अथवा जिन्होंने इसका अध्ययन नहीं किया है वह सुनी सुनायी बातोंके कारण भ्रमित हो गये हैं।

प्रसादजीने इस प्रकार क्यों लिखा इसके पीछे ऐतिहासिक और साहित्यिक परम्परा है। फारसीमें रहस्यवादी कवियोंने परमात्माको प्रियतम या माशूक माना है। वही परम्परा उर्दूमें आयी। परमात्माको प्रियतम माना इसलिये क्रिया पुलिंगमें रखी गई। पीछे कवियोंने पार्थिव प्रेममें भी इसी शैलीका प्रयोग किया। साधारण प्रयोग भी इसी प्रकारका हो गया।

प्रसादजीने यही शैली अपनायी। उनका किसीसे वास्तविक प्रेम था जिसके वियोगमें यह रचना की गयी या नहीं इसका विवेचन यहाँ नहीं करना है। प्रसादजीको जो लोग जानते रहे हैं वह अधिकारसे कह सकते हैं कि वह बहुत ही परिष्कृत और संस्कृत ढंगके आदमी थे। उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी बीभत्स कल्पना की ही नहीं जा सकती।* आँसू उपयुक्त प्रेमकी वास्तविक अनुभूतिके बलपर लिखा गया है और वह प्रेम नितान्त स्वाभाविक, शुद्ध और मनुष्योचित रहा। प्रेम करना कोई पाप या अपराध नहीं है। यदि आँसू द्वारा उनके किसी प्रेमका आभास मिलता है तो उसमें किसी प्रकारकी कल्पना सम्भव नहीं। आँसूमें रोमान्टिक तथा छायावादी अभिव्यंजना होनेपर भी प्रसादजीने इसमें रहस्यवादी पुट देनेकी चेष्टा की है। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रियतमको पुलिंग लिखा है ईश्वरके रूपमें। फिर इन्होंने रहस्यवादी

---

* लेखकका उनका पन्द्रह-सोलह वर्षोंका बहुत निकटका सम्पर्क रहा है।

ऊँचाई नहीं है वहाँके वर्णनसे उनकी प्रेमिकाकी रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। परन्तु एक ही काव्यमें कई शैलियोंका प्रयोग नहीं हो सकता। इसलिए एक ही शैली अपनाई गई।

आँसूकी मेरी प्रतिमें प्रसादजीका लिखा उत्तर भी है। मेरी दूसरे संस्करण की प्रति सन् १९३३ की है। प्रसादजीके पास अनेक पत्र भी आये। वह किसी विवादमें कभी पड़ते न थे चाहे उनके प्रतिकूल हो अथवा अनुकूल। यह छन्द अप्रकाशित है किन्तु इसमें आक्षेपका अच्छा उत्तर है।

'ओ मेरे प्रेम बता दे,
तू नारी है कि पुरुष है।
दोनों ही पूछ रहे हैं तू,
कोमल है कि परुष है॥
उनको कैसे बतलाऊँ,
तेरे रहस्य की बातें।
जो तुमको समझ चुके हैं,
अपने विलास की घातें॥'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगोंने शंका उपस्थित की थी उन्होंने आँसूका अध्ययन नहीं किया और उसकी आत्माका स्पर्श करनेका प्रयत्न नहीं किया।

उर्दू कवितामें करुण रसका बाहुल्य है। विप्रलंभ शृङ्गारका ही अधिक विवरण है किन्तु हमारे यहाँ इसकी भी परम्परा नहीं रही ऐसा नहीं कहा जा सकता। विप्रलंभ शृङ्गारकी करुणा हिन्दी-संस्कृत काव्यमें रही है, विलाप भी रहा है। रामचन्द्र भी विलाप करते हैं और तरु लताओंसे पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृग नैनी॥

× × × ×

एहि विधि खोजत विलपत स्वामी।
मनहु महा विरही अति कामी॥

× × × ×

घन घमंड नभ गर्जत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

प्रिय प्रवासमें, भ्रमर गीतमें, उद्धव शतकमें, वियोग वेदना कितनी मार्मिक है किसीसे छिपी बात नहीं है। कहीं-कहीं तो इसका स्पर्श बहुत तीव्र है। रीति कालके कितने ही कवियोंने वियोग व्यथाके गीत गाये हैं।

भवभूतिके राम भी कहते हैं—

चिरादुद्वेगारंभो प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पराभूतः शोको विकलयति माँ नूतन इव *

शकुन्तला सुखका नाटक है। सारे नाटकमें विनोद और आनन्दकी लहरें हैं फिर भी पछतावे तथा दुःखकी क्षीण रेखा एकाध स्थल पर आ ही जाती है। दुष्यन्त कहता है—

प्रथम सारंगाक्ष्या प्रियया प्रति बाध्यमानमपि सुप्तम,
अनुशम दुःखायेदं, हृत-हृदयं संप्रति विबुद्धम।

कुछ लोग और आगे जाते हैं। कहते हैं कल्पनायें उर्दूकी हैं, जैसे—

बस गई एक बस्ती है,
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है—
जैसे इस नील निलय में॥

उर्दू कवि बहुधा दिल और जिगरमें दागोंका वर्णन करते हैं अथवा—

छिल-छिल कर छाले फोड़े,
मल-मल कर मृदुल चरणसे।

इस प्रकारकी कल्पनाये उर्दू शायरोंमें अवश्य हैं। उर्दू कवियोंके अनुसार

---

* [पंचवटीका दृश्य है। सीताका वियोग है। प्राचीन स्मृति उभड़ती है। राम कहते हैं:—दारुण, बहुत कालके बाद वेदनाकी शीघ्रताको पैदा करनेवाला और सर्वत्र फैले हुए विषकी भाँति, कहींसे अत्यन्त वेगसे चले तीरके अग्रभागके टुकड़ेकी तरह उपद्रव वाले और हृदयके मर्मस्थलमें फूटे हुए फोड़ेकी भाँति पुराना शोक भी नवीनके सदृश होकर फिर मुझे विकल कर रहा है।]

प्रेमी अपने ऊपर सब प्रकार के कष्ट सहता है उसे इसमें आनन्द आता है। मैं जानता हूँ प्रसादजीका उर्दूका अध्ययन नहीं था। साधारण उर्दू जानते थे। हाँ, उसकी गति-विधिसे, परम्परासे जानकारी थी। इस कारण कुछ वैसे भाव आ गये हैं तो आश्चर्य नहीं हो सकता। सभीके अचैतन्य मानसमें कितने भाव छिपे रहते हैं और अभिव्यक्ति के समय अनजाने रूपमें निकल पड़ते हैं। ऐसे ही आँसूमें कहीं-कहीं हो जाना सम्भव है। किन्तु ऐसा एकाध स्थलपर ही हुआ है। इसे स्वीकार करनेमें प्रसादजीका गौरव कम नहीं होता किन्तु यह कहना कि सारा आँसू काव्य फारसी भावोंसे प्रवाहित है भूल होगा। यही नहीं कि इस कविताके अलंकार, अभिव्यजना, और बाहरी उपकरण सब संस्कृत परम्पराके हैं, भावनाएँ तथा मनोभाव भी सब अपनी परम्पराके हैं।

जिस शैलीमें 'आँसू' लिखा गया है उसे छायावाद कहा जाता है। उस शैलीकी विशेषता भावोंकी अभिव्यजनामें है। आँसू छायावादी कविता क्यों है, आगे बताया जायगा। यहाँ इस कविताकी अभिव्यजनामें क्या विशेषता है यही बतानेका प्रयत्न किया जायगा। आँसूके प्रत्येक छंदमें अलङ्कार सुन्दरतासे सजाये गये हैं, विरोधाभास श्रेणीके जितने अलङ्कार हैं सब किसी न किसी छन्दमें मिलते हैं। असंगति, अर्थान्तरन्यास, विषम, व्याघात, समासोक्ति पद-पदपर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त रूपकातिशयोक्तिके चित्ताकर्षक उदाहरण मिलते हैं। यदि प्रत्येक छंदका अलङ्कार निरूपण किया जाय तो एक अलङ्कारका ग्रन्थ ही हो जाय। किन्तु दो चार उदाहरण दे देना अनुचित न होगा।

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख,
क्यों भरा हुआ हीरों से॥

अथवा

विद्रुम सीपी संपुट में
मोती के दाने कैसे
— — —
बुलबुले सिन्धु के फूटे

किसी में उपमेय नहीं है उपमान ही उपमान है। यह रूपकातिशयोक्तिके अच्छे उदाहरण हैं।

कितनी निर्जन रजनी मे
तारों के दीप जलाये।
स्वर्गगगा की धारा मे
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये॥

कहना है कि रात भर जागते रहे, उसे समासोक्ति अलंकार द्वारा कविने सुन्दरतासे व्यक्त किया है। रूपक और उपमाएँ बड़ी कलाकारीसे प्रयोग की गई हैं। जैसे उपमा:—

घन में सुन्दर बिजली सी
बिजली मे चपल चमक सी।
आँखों मे काली पुतली
पुतली मे श्याम झलक सी॥

रूपक:—

परिरभ कुभ की मदिरा
निःश्वास मलय के झोंके

× × ×

कामना-सिन्धु लहराता
छवि पूरनिमा थी छायी

विरोधी विचारों तथा शब्दोंको साथ लाकर घनानंदके समान अभिव्यंजना मे मार्मिक विदग्धता उत्पन्न की है:—

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जगके

× × ×

लावण्य शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
× × ×

कोमल कपोल पालीमें
सीधी-सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौंमें बल देखा

× ×

जड़ताकी सब माया थी
चैतन्य समझकर मुझमें

× ×

दीनता दर्प बन बैठी
साहससे कहती पीड़ा

× ×

सुख मान लिया करता था
जिसका दु:ख था जीवनमें

× ×

जीवनमें मृत्यु बसी है

श्लेषका प्रयोग बहुत कम किया गया है। एकाध स्थल स्वाभाविक जान पड़ता है यद्यपि कविने उसे चतुराईके साथ रत्नकी भाँति जड़ दिया है.—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तकमें स्मृति सी छायी
दुर्दिनमे आँसू बनकर
वह आज बरसने आई

इनमें दुर्दिन शब्दमें श्लेष द्वारा चमत्कार उत्पन्न हो गया। छंदमें मुद्रा अलकार भी अच्छा घटा है।

किन्तु आँसूकी महत्ता उसके अलकारोंपर नहीं है। वियोग-जनित व्यथाकी ऐसी अभिव्यजना खड़ी बोलीमें इसके पहले नहीं देखनेमें आती। रचना इतनी रगीन है और इतनी स्वाभाविक है कि ऐसे काव्यका अच्छा उदाहरण है जिससे साधारणीकरण होता है।

आँसूमे प्राय. आरम्भसे लेकर अन्ततक वियोगीकी पीड़ाको अनेक रूपोंमें

वर्णन किया गया है। केवल ३६ से ४८ छन्दोंमें प्रेमिकाकी सुन्दरताका वर्णन है, तथा ४९-५६ छन्दोंमे मिलनका वर्णन है। १३७ से १४६ छन्दोंमें कविने अपनी वेदना-ज्वालाको सम्बोधित किया है। और अन्तमें कविकी कल्पना है कि मेरे दुःखसे संसारको सुख प्राप्त हो।

प्रेमिकाकी सुन्दरताका वर्णन बहुत सजीव है। जैसे—

घनमें सुन्दर बिजली सी
बिजलीमें चपल चमक-सी
आँखोंमें काली पुतली
पुतलीमें श्याम झलक-सी

या

बाँधा था विधुको किसने,
इन काली जंजीरोंसे,
मणिवाले फणियोंका मुख,
क्यों भरा हुआ हीरोंसे

अधर, दाँत, नासिकाकी प्रशंसा किस रूपने है—

विद्रुम सीपी सम्पुटमें
मोतीके दाने कैसे
है हंस न शुक यह, फिर क्यों
चुगनेको मुक्ता ऐसे

आँखोंका वर्णन देखिए:—

तिर रही अतृप्ति जलधिमें
नीलमकी नाव निराली,
काला पानी वेलासी
है अंजन रेखा काली

सूरदासकी उत्प्रेक्षाएं हिन्दीमें विख्यात हैं। प्रसादजीने आँसूके रूपक और रूपकातिशयोक्ति नवीन और समासोक्ति सुन्दर लिखे हैं।

पूर्व मिलनका भी मार्मिक वर्णन किया गया है। भावोंका शब्द चित्र इतना सुन्दर हिंदीमें कम मिलता है। शृंगारका उत्तानरूप है फिर भी चित्रका सौन्दर्य अद्वितीय है।

परिरंभ कुंभकी मदिरा,
निश्वास पवनके झोंके
मुख-चन्द्र चाँदनी जलसे
मैं उठता था मुँह धोके

वियोगमें पूर्व स्मृतिका आना स्वाभाविक होता है और इस लिए उस मिलनका सजीव वर्णन कविकी लेखनीसे हुआ है।

आँसूका आरम्भ जिस सदर्भमें हुआ हो, वह विश्वात्मक 'यूनिवर्सल' कविता हो गई है। स्थल स्थलपर कवि अपनी पीड़ाको जगतकी पीड़ा बना देता है। उसका दुख मानवका दुख हो जाता है। उसकी आशा-आकाँक्षायें भी विश्वकी हो जाती हैं.—

मानव जीवन वेदीपर
परिणय हो विरह-मिलनका
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँखका, मनका

× ×

कल्पना अखिल जीवनकी,
किरणोंसे दृगताराकी
अभिषेक करै प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धाराकी

रहस्यवादके लिये कहा जाता है कि वह ससीममें असीमको देखता है। पार्थिव प्रेमके रूपकमें प्रतीक है अखिल विश्वके स्रष्टा इश्वरके प्रेमका। जहाँ तक पूरे काव्यका सम्बन्ध है आँसू व्यक्तिके प्रेमसे धीरे-धीरे उठकर असीमके प्रेमकी अभिव्यक्ति करता है, इसमें सन्देह नहीं।

इस विषयपर विवाद है कि आँसू छायावादी रचना है कि रहस्यवादी। कविताकी रचना का ढंग तो छायावादी है इसमें दो मत नहीं हो सकते। इस बीसवीं शतीके आरम्भमें हिंदीमें काव्यकी अभिव्यंजनाका जो नया ढंग

चला जिसमें रोमांटिक क्रांतिके साथ-साथ भाषामें कुछ वक्रता, विदग्धता, शैलीमें रंगीनी, और कल्पनाका अधिक प्रयोग, अलंकारोंकी नये ढंगसे सजावट हुई, वही छायावाद था। प्रसाद स्वयं इसके प्रवर्तक थे। और आँसू इस प्रकारकी रचनाका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

इस शैलीके होते हुए जहाँ जहाँ कवि लिखते-लिखते इस धरातलसे ऊँचा उठ गया है वहाँ रहस्यवादकी साफ झलक है। जैसे:—

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
उस ज्वालामयी जलनके
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महा मिलनके

इस संसारमें मनुष्य कुछ स्मृतियाँ लेकर आया है। परमात्माकी थोड़ी छाया जाग्रत रह गयी है। महा मिलनमें तो शान्ति ही रही होगी। फिर संसारमें मनुष्य फेंका गया जिसमें सन्ताप और जलन है। जो कुछ हृदयमें शेष है उसी महा मिलनकी स्मृतियाँ हैं जो वियोग के कारण जलन हैं और जिसमें ज्वाला भी है। अथवा—

छायानट छवि परदेमें
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या कुहुकिनि अंचलमें
कौतुक अपना कर जाता

इस प्रकारके भाव स्थल-स्थलपर आये हैं और इन छन्दोंमें रहस्यवादी झलक है। किन्तु प्रसादजीने जान-बूझकर इस काव्यमें रहस्यात्मकता प्रदान की हो ऐसी बात नहीं है। दो एक उदाहरण इसे स्पष्ट कर देंगे—

पहले संस्करणमें प्रसादजीने लिखा—

सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुञ्जमें मेरे
चाँदनी शिथिल अलसाई
सम्भोग तुलासे तेरे

'सम्भोग सुखोंसे तेरे' स्पष्ट ही प्रियतमसे मिलनेकी स्मृति है। इसी ससारकी इसी देहकी। यदि सम्भोगसे प्रसादजीका अभिप्राय परमात्मासे मिलनका होता तो दूसरे सस्करणमें इस शब्दको बदलकर 'सुखके सपनोंसे मेरे' न लिखते। सम्भोग शब्द उन्हें कुछ अशिष्टसा लगा इसलिए उसे बदल दिया। इसी प्रकार अनेक छद ऐसे हैं जो स्पष्ट बताते हैं कि यह मानव प्रेमकी कहानी है।

इससे कविताकी महत्ता नहीं घटती न इसके गौरवमें किसी प्रकारकी कमी होती। शृङ्गारकी बहुतही मर्यादित, ऊँची, तथा कवित्वपूर्ण रचना है। यह न समझना चाहिये कि यह छिछले ढंगकी विलास और वासनाकी रचना है। यह दार्शनिक काव्य है। प्रेमकी मानसिक अवस्थाका दार्शनिक निरूपण है। कहींसे छद उठा लिया जाय तो उसमें मनका दार्शनिक विश्लेषण मिलेगा जैसे—

इस यान्त्रिक जीवनमे क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगती सी ज्योति भरी थी
तेरी सजीवता ममता

अथवा—

कल्पना अखिल जीवनकी
किरनोंसे दृग ताराकी
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धाराकी

\+ + +

निर्मोह कालके काले
पटपर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पड़ी रह जाती
सुख दुखमय जीवन रेखा

इत्यादि

जीवनके एक महत्वपूर्ण अगका कवि ने गहराईसे विश्लेषण किया है। अधिकाश मनुष्यके जीवनमें कभी-न-कभी यह तरग उठती है साधारण प्राणी

इसके आवेगकी तीव्रताका अनुभव नहीं करता। जो संज्ञाशील (sensitive) हैं उन्हें अनुभूति तो होती है किन्तु उनमें अभिव्यक्तिकी शक्ति नहीं है। प्रसादजीकी आत्माको अनुभूति हुई वह भावोंको प्रकट कर सकते थे। और उन्होंने सूक्ष्मताके साथ प्रगट किया।

आँसू विप्रलभ शृङ्गारकी कविता होनेसे यह न समझना चाहिये कि यह निराशाका काव्य है। इस कवितामे आशाका संदेश है। मानव-जीवनमे आँसूका बहुत अधिक स्थान होनेपर भी आशाकी रेखा भी है। कविकी प्रतिभा ने अंतमें इसी आशाके अनेक छंद लिखे हैं।

हे जन्म जन्मके जीवन
साथी संसृतिके दुखमे
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलसके सुखमे
+ + +
जगतीका कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे

इस प्रकार आशाका सन्देश है।

आँसू नवीन शैलीका अनुपम काव्य है जो मर्मस्थलको स्पर्श करता है, जिसमें विलासविहीन प्रेमका मार्मिक एवं सूक्ष्म चित्रण है।

———

'सम्भोग सुखोंसे तेरे' स्पष्ट ही प्रियतमसे मिलनेकी स्मृति है। इसी ससारकी इसी देहकी। यदि सम्भोगसे प्रसादजीका अभिप्राय परमात्मासे मिलनका होता तो दूसरे सस्करणमें इस शब्दको बदलकर 'सुखके सपनोंसे मेरे' न लिखते। सम्भोग शब्द उन्हें कुछ अशिष्टसा लगा इसलिए उसे बदल दिया। इसी प्रकार अनेक छद ऐसे हैं जो स्पष्ट बताते हैं कि यह मानव प्रेमकी कहानी है।

इससे कविताकी महत्ता नहीं घटती न इसके गौरवमें किसी प्रकारकी कमी होती। शृङ्गारकी बहुतही मर्यादित, ऊँची, तथा कवित्वपूर्ण रचना है। यह न समझना चाहिये कि यह छिछले ढंगकी विलास और वासनाकी रचना है। यह दार्शनिक काव्य है। प्रेमकी मानसिक अवस्थाका दार्शनिक निरूपण है। कहींसे छद उठा लिया जाय तो उसमें मनका दार्शनिक विश्लेषण मिलेगा जैसे—

इस यात्रिक जीवनमे क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगती सी ज्योति भरी थी
तेरी सजीवता ममता

अथवा—

कल्पना अखिल जीवनकी
किरनोंमे दृग ताराकी
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धाराकी
+ + +
निर्मोह कालके काले
पटपर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पड़ी रह जाती
सुख दुखमय जीवन रेखा

इत्यादि

जीवनके एक महत्वपूर्ण अंगका कवि ने गहराईसे विश्लेषण किया है। अधिकाश मनुष्यके जीवनमें कभी-न-कभी यह तरग उठती है साधारण प्राणी

इसके आवेगकी तीव्रताका अनुभव नहीं करता। जो संज्ञाशील (sensitive) हैं उन्हें अनुभूति तो होती है किन्तु उनमें अभिव्यक्तिकी शक्ति नहीं है। प्रसादजीकी आत्माको अनुभूति हुई वह भावोंको प्रकट कर सकते थे। और उन्होंने सूक्ष्मताके साथ प्रगट किया।

आँसू विप्रलंभ शृङ्गारकी कविता होनेसे यह न समझना चाहिये कि यह निराशाका काव्य है। इस कवितामे आशाका सदेश है। मानव-जीवनमे आँसूका बहुत अधिक स्थान होनेपर भी आशाकी रेखा भी है। कविकी प्रतिभा ने अंतमें इसी आशाके अनेक छंद लिखे हैं।

हे जन्म जन्मके जीवन
साथी संसृतिके दुखमे
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलसके सुखमे
+ + +
जगतीका कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे

इस प्रकार आशाका सन्देश है।

आँसू नवीन शैलीका अनुपम काव्य है जो मर्मस्थलको स्पर्श करता है, जिसमें विलासविहीन प्रेमका मार्मिक एवं सूक्ष्म चित्रण है।

'सम्भोग सुखोंसे तेरे' स्पष्ट ही प्रियतमसे मिलनेकी स्मृति है। इसी ससारकी इसी देहकी। यदि सम्भोगसे प्रसादजीका अभिप्राय परमात्मासे मिलनका होता तो दूसरे सस्करणमे इस शब्दको बदलकर 'सुखके सपनोंसे मेरे' न लिखते। सम्भोग शब्द उन्हें कुछ अशिष्टसा लगा इसलिए उसे बदल दिया। इसी प्रकार अनेक छद ऐसे हैं जो स्पष्ट बताते हैं कि यह मानव प्रेमकी कहानी है।

इससे कविताकी महत्ता नहीं घटती न इसके गौरवमें किसी प्रकारकी कमी होती। शृङ्गारकी बहुतही मर्यादित, ऊँची, तथा कवित्वपूर्ण रचना है। यह न समझना चाहिये कि यह छिछले ढंगकी विलास और वासनाकी रचना है। यह दार्शनिक काव्य है। प्रेमकी मानसिक अवस्थाका दार्शनिक निरूपण है। कहींसे छद उठा लिया जाय तो उसमें मनका दार्शनिक विश्लेषण मिलेगा जैसे—

इस यात्रिक जीवनमे क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगती सी ज्योति भरी थी
तेरी सजीवता ममता

अथवा—

कल्पना अखिल जीवनकी
किरनोंसे दृग ताराकी
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धाराकी
\+ \+ \+
निर्मोह कालके काले
पटपर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पड़ी रह जाती
सुख दुखमय जीवन रेखा

इत्यादि

जीवनके एक महत्वपूर्ण अंगका कवि ने गहराईसे विश्लेपण किया है। अधिकाश मनुष्यके जीवनमें कभी-न-कभी यह तरग उठती है साधारण प्राणी

इसके आवेगकी तीव्रताका अनुभव नहीं करता। जो संज्ञाशील (sensitive) हैं उन्हें अनुभूति तो होती है किन्तु उनमें अभिव्यक्तिकी शक्ति नहीं है। प्रसादजीकी आत्माको अनुभूति हुई वह भावोंको प्रकट कर सकते थे। और उन्होंने सूक्ष्मताके साथ प्रगट किया।

आँसू विप्रलंभ शृङ्गारकी कविता होनेसे यह न समझना चाहिये कि यह निराशाका काव्य है। इस कवितामें आशाका संदेश है। मानव-जीवनमें आँसूका बहुत अधिक स्थान होनेपर भी आशाकी रेखा भी है। कविकी प्रतिभा ने अंतमें इसी आशाके अनेक छंद लिखे हैं।

हे जन्म जन्मके जीवन
साथी संसृतिके दुखमें
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलसके सुखमें

\+ + +

जगतीका कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे

इस प्रकार आशाका सन्देश है।

आँसू नवीन शैलीका अनुपम काव्य है जो मर्मस्थलको स्पर्श करता है, जिसमें विलासविहीन प्रेमका मार्मिक एवं सूक्ष्म चित्रण है।
